सन् '५७ का विप्लव

लेखक

बेनी प्रसाद बाजपेयी

प्रकाशक

आदर्श हिन्दी पुस्तकालय
४१९ अहियापुर
इलाहाबाद

तीसरा संस्करण]   फरवरी सन् १९५५   [मूल्य पाँच रुपया

प्रकाशक
गिरिधर शुक्ल
आदर्श हिन्दी पुस्तकालय
४१९ अहियापुर,
प्रयाग।

मुद्रक
इन्द्रमणि जायसवाल
मणि प्रिंटिंग प्रेस
मणि नगर
५१ए पूराबल्दी, कीटगंज,
प्रयाग।

विषय-सूची

—::o::—

सहायक सूची

जिन प्रसिद्ध विद्वानों की पुस्तक के अध्ययन, आधार और सहायता से यह पुस्तक लिखी गई है नीचे लिखे उन महानुभावों का लेखक चिरकृतज्ञ है :—

The Marquis of Dalhousie's Administration of British India By Arnold Sir Edwin K. C. I. E.

The History of Indian Mutiny By Charles Ball.

The Indian Rebelleon By Alexander Duff.

Reminisences of the Great Mutiny 1857-59. By William Forbes Mitchell.

Incidents in the Sepoy War By Sir Hope Grant.

The History of Indian Mutiny By Holmes.

A History of the Sepoy War in India. By Sir John William Kaye.

Red Pamphlet By G. B. Malleson.

My Diary in India in the year 1858-59 By Sir William H. Russell.

The Indian War of Independence By V. D. Savarkar.

सिपाई युद्धेर इतिहास (बंगला) रजनी कान्त ।

दिल्ली की जांकनी (उर्दू) ख्वाजा हसन निजामी ।

हमारी प्रकाशित महत्वपूर्ण पुस्तकें

महाराज

नन्दकुमार को फाँसी

मूल लेखक—चण्डीचरण सेन

सत्रहवीं सदी में बंगाल में ईस्ट इण्डिया कम्पनी के अँगरेज व्यापारियों ने वहाँ के नवाबों की उदारता और कृपा से अनुचित लाभ उठाकर वहाँ की भोली भाली जनता पर जो भयानक अत्याचार और जुल्म किये हैं, उन सच्ची घटनाओं का रोमांच-कारी वर्णन इस उपन्यास में किया गया है। उस समय के बंगाल की सामाजिक अवस्था, राज में फैले हुए दुराचार, पापाचार और भ्रष्टाचार; कम्पनी के अँगरेज अधिकारियों द्वारा भारतीय उद्योग धन्धों और कारीगरी का सर्वनाश, अँगरेजी कोठी के कर्मचारियों द्वारा गरीब जुलाहों और किसानों पर जुल्म तथा देश हितैषी महाराज नन्दकुमार के साथ छल कपट और षड़यन्त्र खड़ा कर उन्हें फाँसी पर लटका देना आदि घटनाओं की सच्ची रोमांचक कहानी आपको इस उपन्यास में देखने को मिलेगी। पौने चार सौ पृष्ठ की सजिल्द पुस्तक का मूल्य ४॥) रुपये डाक खर्च अलग।

भारतकी प्रसिद्ध लड़ाइयाँ

[लेखक—श्री केशव कुमार ठाकुर]

भारतीय इतिहास की इस महत्वपूर्ण पुस्तक में भारत के तीनों काल यानी हिन्दू काल, मुसलिम काल तथा अँगरेजी काल मे होने वाली उन प्रसिद्ध लड़ाइयों का विस्तृत वर्णन है जो भारत के इतिहास में प्रसिद्ध हैं। युद्धविद्या, युद्धकला तथा युद्धक्षेत्र मे भारतीय वीरों की वीरता, रणकुशलता, साहस, शौर्य और बलिदान की महिमा जगत् प्रसिद्ध है। खेद है भारतीय युद्ध जैसे महत्वपूर्ण विषय पर क्रमवद्ध कोई प्रामाणिक पुस्तक अब तक सामने नहीं आई।

हमारी प्रकाशित इस महत्वपूर्ण पुस्तक के समस्त पन्ने देश के प्रकाशित और अप्रकाशित लेखों तथा देशी और विदेशी इतिहासों के आधार पर विशुद्ध ऐतिहासिक भावों के साथ लिखे गये हैं। समस्त युद्धों के वर्णन मे आपको भारतीय वीरों की वीरता, पराक्रम, शौर्य, साहस और युद्धकौशल का अद्भुत चमत्कार देखने को मिलेगा, जिसे पढ़ कर आवेश से आपका हृदय फड़क उठेगा। पृष्ठ संख्या लगभग ५०० बढ़िया कागज़, सुन्दर छपाई सजिल्द पुस्तक का मूल्य ६) रु०

आदर्श हिन्दी पुस्तकालय

४१९, अहियापुर, इलाहाबाद

प्रस्तावना

यह संतोष ही नहीं अतीव हर्ष का विषय है कि आज से प्रायः सौ वर्ष पूर्व अपनी मातृभूमि को अँगरेजों के क्रूर शासन से मुक्त करने और देश को अँगरेजों से रहित करने का हमारे वीर देशवासियों ने जो रक्त रंजित देशव्यापी संग्राम किया था— जिसे हमारे देश की साधारण जनता में सन् सत्तावन का गदर कहा जाता है उसका सच्चा और प्रामाणिक इतिहास जनता के सामने लाने का अवसर प्राप्त हो सका है। अब तक विदेशी शासन के अभिशापों मे एक यह भ। था कि माता की गुलामी की बेड़ियाँ काटने वाले लाल क्रान्ति के इन पुजारियों की वीर-गाथाएं हम अपनी सन्तान को सुना भी नहीं सकते थे। परन्तु उन्हीं के बलिदानों से उन्हीं की प्रेरणा और स्फूर्ति से हमारा देश विदेशी पराधीनता से मुक्त हुआ है और हम इस योग्य हो सके हैं कि उनकी वीर—गाथाओं को, उनकी गुण-गरिमा को उनके वास्तविक रूप मे अपने देश के गौरव-पूर्ण इतिहास के पृष्ठों मे स्वर्णाक्षरों मे अंकित करे। उनकी स्मृतियाँ हमारी वर्तमान पीढ़ी और आगे आने वाली पीढ़ियों की धमनियों मे उन्हीं के प्रसाद के रूप में प्राप्त हुई स्वाधीनता की रक्षा के लिए स्फूर्ति, बल, साहस

लगन का संचार करेगी और उन वीरों के प्रति अपना सर्वोच्च सम्मान प्रकट करने का सुअवसर प्राप्त होता रहेगा।

सन् १८५७ मे भारत मे अँगरेजों के घोर अत्याचारी शासन के विरुद्ध सशस्त्र भारतीय विद्रोह के सम्बन्ध मे कुछ पुस्तके अँगरेजी मे और कुछ यत्र-तत्र भारतीय भाषाओं में प्रकाशित हुई हैं। अँगरेजी की पुस्तकें अधिकतर अँगरेजों द्वारा लिखी गई हैं, जिनमें स्वभावतः भारतीयों को कलंकित करने वाला और एकतरफा चित्र चित्रित किया गया है। उनमें अँगरेज इतिहासकारों ने संसार की आँखों में धूल झोंकने का प्रयत्न करते हुए यह दिखाया है कि देश के कुछ स्थानों के मूर्ख सैनिकों ने इस अफवाह पर कि उनके बन्दूकों की कारतूसों मे गाय और सुअर की चर्बी लगाई जाती है, अपनी मूर्खता और धर्मान्धता के कारण बहकावे मे आकर अँगरेजों के विरुद्ध विद्रोह कर दिया। इस प्रकार की पक्षपातपूर्ण भावना और ढंग से उन लोगों ने घटनाओं का विवरण लिखा है। हिन्दी में तो इस समय इस सम्बन्ध की पुस्तके नहीं के बराबर हैं। एक-आध जो हैं उनसे भी कोई पाठक उन घटनाओं का प्रामाणिक और सच्चा विवरण नहीं प्राप्त कर सकता। अब तक किसी भी विदेशी अथवा भारतीय लेखक ने—सिवा श्री विनायक दामोदर सावरकर की पुस्तक के—सन् ५७ के महान विप्लव का सच्चा और वैज्ञानिक विवेचना पूर्ण विवरण नहीं दिया है; जो स्वभावतः

विदेशी शासन के रहते हुए सम्भव भी नहीं था। इसी कारण उनके सम्बन्ध में अनेक भ्रान्तियाँ समस्त संसार मे और विशेषतः साम्राज्यवादी देश मे फैली हैं जिन्हें अँगरेज लेखकों ने दुष्टता और स्वार्थपूर्ण भावना से प्रेरित हो कर फैलाया है। पक्षपात का चश्मा लगा होने के कारण उनकी आखें यह देख ही नहीं सकी अथवा उन लोगों ने इसे देखने का प्रयत्न ही नहीं किया कि इस विप्लव का वास्तविक कारण क्या था। उनका यह कहना नितान्त असत्य हैं कि यह विप्लव जहाँ—तहाँ कुछ थोड़े-से सिपाहियों ने किया था। क्या कोई भी बुद्धि रखने वाला व्यक्ति यह कह सकता है कि इतना देशव्यापी विप्लव बिना किसी निश्चित और व्यापक उद्देश्य के हो सकता था? पेशावर से लेकर कलकत्ते तक एक साथ क्रान्ति की बाढ़ का एक साथ उठ खड़ा होना बिना निश्चित राजनीतिक ध्येय के सम्भव नहीं हो सकता था। दिल्ली की राजधानी पर जनता का अधिकार, कानपुर मे अँगरेजों का कत्लेआम, कलकत्ते से लेकर दिल्ली तक के अनेक नगरों मे विद्रोहियों का झण्डा गड़ जाना क्या केवल सैनिकों के बूते की बात थी। वास्तव मे यह महान क्रान्ति सार्वजनिक थी, जिसमे राजाओं से लेकर रङ्क तक सब साथ थे और सभी केवल यही भावना से उठ खड़े हुए थे कि अपने देश से अँगरेजी शासन उखाड़ फेंकना है और पवित्र भारत-भूमि को घोर अत्याचारी और धूर्त अँगरेजों से

रहित कर देना है। दिल्ली के सम्राट बहादुरशाह, झाँसी की महारानी लक्ष्मी बाई, नाना साहब, रुहेलखंड के बहादुर खाँ आदि का बिप्लव मे सम्मिलित होना इस बात का प्रत्यक्ष प्रमाण है कि यह विप्लव सार्वजनिक था और इसमे सभी प्रान्तों तथा सभी सम्प्रदायों के लोग सम्मिलित थे। इसमें हिन्दू और मुसलमान, अमीर और गरीब, राजे महाराजे और ताल्लुकेदार सभी साथ थे।

यह प्रश्न कया जा सकता है कि इस विद्रोह का कारण क्या था? क्या बात थी कि हजारों नहीं लाखों आदमियों ने तलवार उठा ली, अपने प्राणों की चिन्ता न कर रण-क्षेत्रों में वे निकल पड़े और रक्त की होली खेली? कौन सी भावना सभी के हृदयों मे काम कर रही थी कि सभी एक मत से विदेशियों को निकाल बाहर करने पर तुल गये थे। मौलवी लोग मुस्लिम जनता को अँगरेजों से लड़ने के लिये प्रोत्साहित कर रहे थे और ब्राह्मण लोग हिन्दुओं को ललकार रहे थे? दिल्ली की मस्जिदों में इबादतें होती थीं और काशी के मन्दिरों मे विद्रोह की सफलता के लिये प्रार्थनाएँ होती थीं?

इन सब की तह मे जो महान भावना काम कर रही थी वह थी अपनी देश की स्वाधीनता की और अपने धर्म की रक्षा की। मजहब की रक्षा के लिये मुसलमानों ने 'दीन' और हिन्दुओं ने 'धर्म' की आवाज उठाई थी। हमारे देश मे धर्म को जो

सदा से सर्वोच्च स्थान दिया गया है, उस पर आघात की बात देख कर और धर्म पर तथा देश की स्वतन्त्रता पर आघात करने वालों का देश से अंत कर देने की प्रेरणा से यह महान विप्लव खड़ा किया गया था। स्वाधीनता और स्वधर्म पर आघात होता देखकर हिन्दू और मुसलमान अपनी पारस्परिक विरोध-भावना छोड़कर अँगरेज़ों के विरुद्ध एक साथ खड़े हो गए थे। दिल्ली के सम्राट बहादुरशाह ने उस समय अपनी हिन्दू और मुस्लिम प्रजा को सम्बोधित करते हुए अपनी घोषणा मे कहा था—

"ऐ हिन्तुस्तान के बच्चों! अगर हम कस्द कर लें, तो दुश्मन का खात्मा करने मे देर न लगेगी। अगर हम दुश्मन का खात्मा कर दें, तो अपनी जान से भी प्यारे अपने मजहब और मुल्क को हम बचा लेंगे।"

बरेली मे किए गए अपने एलान मे सम्राट बहादुर शाह ने कहा था "हिन्दुस्तान के हिन्दुओं और मुसलमानों उठो? भाइयों उठ खड़े हो!! खुदा की सब से बड़ी न्यामत स्वराज है। क्या जालिम शैतान जिसने धोखा देकर हमारी आज़ादी छीन ली है, उसे हमेशा के लिए हम से दूर रख सकेगा? क्या खुदा की मर्जी के खिलाफ उसकी यह कार्रवाई हमेशा कायम रह सकेगी? नहीं, कभी नहीं। अँगरेज़ों ने इतने जुल्म किए हैं, कि उनके पाप का प्याला भर गया है। उसे और भरने के लिए वे अब हमारे पाक मजहब को भी बर्बाद कर देना चाहते हैं। क्या तुम सब

इतने पर भी खामोश बैठे रहोगे? खुदा यह नहीं चाहता कि तुम चुपचाप बैठे रहो, क्योंकि उसने हिन्दुओं और मुसलमानों के दिलों में यह ख्वाहिश पैदा कर दी है कि अँगरेजों को अपने मुल्क से निकाल बाहर कर दो। और खुदा के फजल से, तुम्हारी कूवतों से वे जल्द ही पूरी शिकस्त पाएँगे और हमारे मुल्क हिन्दुस्तान मे उनका नामोनिशान नहीं रह जायागा। हमारे मुल्क में छोटे और बड़े का कोई फर्क न रहेगा, सब के साथ बराबरी का बर्ताव किया जायगा, क्योंकि मजहब को बचाने की इस पाक लड़ाई में जितने लोग तलवार उठाते हैं, वे सब बराबर से हकदार हैं, सब बराबर के भाई हैं, और इनमे कोई भेदभाव नहीं हो सकता। इसलिए मेरा फिर सभी हिन्दू भाइयों से कहना है कि उठ खड़े हो और इस पाक लड़ाई में जूझ पड़ो।"

सम्राट बहादुरशाह की इस उद्‌बोधनपूर्ण घोषणा से और उसके देव-स्वरूप सारे देश में उठ खड़े हुए विप्लव से यह स्पष्ट है कि ज्वलन्त-भावना से यह सशस्त्र विद्रोह उठ खड़ा हुआ था। स्वदेश और स्वधर्म की रक्षा की भावना उस समय समस्त देश के नर-नारियों में काम कर रही थी और उसी से प्रेरित होकर यह देशव्यापी विप्लव उठ खड़ा हुआ था।

यही एक मात्र भावना १८५७ के विप्लव की जननी थी। प्रस्तुत पुस्तक सन् १८५७ के महान विप्लव, जिसे आधुनिक भारत का प्रथम सशस्त्र स्वतन्त्रता संग्राम कहा जा सकता है,

का वास्तविक, विस्तृत और क्रमबद्ध इतिहास प्रकाश में लाने के उद्देश्य से लिखी गई है। इस विषय की अपने ढंग की हिन्दी मे यह महत्वपूर्ण पुस्तक है और निःसन्देह यह बड़े भारी प्रभाव की पूर्ति करेगी। कम से कम हिन्दी मे सन् सत्तावन के विप्लव के सम्बन्ध में अभी ऐसी प्रामाणिक पुस्तक जहाँ तक मेरा अनुमान है, नहीं थी, अतः इस पुस्तक में उसका क्रमबद्ध और विशद विवरण प्राप्त कर पाठकों को सन्तोष होगा, ऐसा मेरा विश्वास है। विद्वान लेखक ने बड़े अच्छे और क्रमबद्ध ढंग से सभी घटनाओं का समावेश किया है और इस सम्बन्ध मे लेखक तथा अनुभवी प्रकाशक का प्रयत्न सराहनीय है।

प्रयाग, महाशिवरात्रि
सम्वत् २००४ } —रामकिशोर मालवीय

पलासी का युद्ध

अर्थात्

[भारत में अँगरेजी राज कायम होने का इतिहास]

"पलासी का युद्ध" भारत मे अँगरेजी राज के समय की अत्यन्त रोमांचकारी एवं महत्वपूर्ण घटना है। सत्रहवीं सदी मे ईस्ट इन्डिया कम्पनी कायम होने के बाद अँगरेजों का भारत मे व्यापार करने की गरज से आकर भारतीय नरेशों के साथ अनेक प्रकार के षड़यन्त्र, कूटनीति, छल और कपट के व्यवहार द्वारा पलासी के युद्ध मे विजयी होकर भारत में अँगरेजी राज कायम कर लेना, फिर भारतीय नरेशों के साथ विश्वासघात, गुप्त साजिशे, जालसाजियॉ, रिशवतें देना, फूट डलवाना, भारतीय प्रजा पर अनेक प्रकार के अन्याय व अत्याचार और ईस्ट इन्डिया कम्पनी द्वारा भारत के हजारों साल के उन्नत व्यापार और उद्योग धन्धे का नाशकर डालना और इन सबके नतीजे मे भारत का सौ सवा सौ साल के भीतर संसार के सबसे अधिक प्रबल, उन्नत और सम्पन्न देशों की श्रेणी से निकलकर सबसे अधिक निर्बल, अवनत और दरिद्र देशों की श्रेणी तक पहुँचा दिया जाना आदि ईस्ट इन्डिया कम्पनी के अँगरेजों के कारनामों की अत्यन्त दुखकर कहानी इस पुस्तक मे बयान की गई है। देश के प्रत्येक स्वाभिमानी स्त्री पुरुष को इस पुस्तक को अवश्य पढ़ना चाहिए। मूल्य ४०० पृष्ठ का सजिल्द पुस्तक का ५) डाक खर्च अलग।

सन् '५७ का विप्लव

—:o::o::o:—

विप्लव के मुख्य कारण

केवल भारतवर्ष के निवासी ही नहीं, बल्कि इङ्गलैण्ड के निवासी भी यह स्वीकार करते है कि सन् १८५७ का विप्लव-भारतवर्ष की भूमि मे अँगरेजी-राज्य के इतिहास की सब से अधिक रोमांचकारी और महत्वपूर्ण घटना थी। सच कहा जाय तो वह एक ऐसी भयानक घटना थी जिसकी प्रचण्ड लपटों मे एक बार इस देश की वीर-भूमि मे अँगरेजी राज और अँगरेजी जाति का अस्तित्व जलकर मिटने वाला-सा मालूम होता था।

उस रोमांचकारी विप्लव के मुख्य कारणों को भली भाँति समझने के लिए हमारे पास यदि कोई सामग्री है तो वह उस विप्लव से ठीक एक सौ वर्ष पूर्व का इतिहास है। इस इतिहास पर यदि एक बार दृष्टि न डाली गई तो यह सभव नहीं है कि विषय की गम्भीरता सरलता के साथ समझ मे आ जाय!

विचारशील विद्वानों का कथन है कि सन् १८५७ के विप्लव की नींव वास्तव मे सन् १७५७ मे प्लासी की युद्ध भूमि में रखी गई थी, इसलिए सन् १८५७ के विप्लव मे भाग लेने वाले असंख्य भारतीय सिपाहियों के मुख से जो भिन्न-भिन्न प्रकार के

ओजस्वी वाक्य निकला करते थे उनमे से एक वाक्य यह भी था, "आज हम प्लासी के युद्ध का बदला चुकाने वाले है।"

मई और जून के महीने मे दिल्ली के प्रायः सभी समाचार पत्रों मे यह भविष्यवाणी प्रकाशित हुई थी कि जिस दिन प्लासी के युद्ध की शताब्दी पूरी होगी ठीक उसी दिन अर्थात् २३ जून सन् १८५७ को भारतवर्ष की पवित्र भूमि मे अगरेजी राज को सदा के लिए समाप्त कर दिया जायगा। इतना ही नहीं, इस भविष्यवाणी की घोषणा भी देश के प्रत्येक भाग मे बड़ी तत्परता के साथ करा दी गई थी।

परिणाम यह हुआ कि उस समय उत्तर से दक्षिण और पूर्व से पश्चिम तक जितने भारतीय वीर थे, सभी उत्तेजित हो गये और सन् १८५७ के प्लासी के मैदान का बदला चुकाने के लिए विप्लव मे भाग लेना अपना धर्म समझने लगे थे। इसलिये यह कहना पड़ता है कि यदि अगरेज न्याय-पूर्वक प्लासी के युद्ध मे विजयी हुये होते तो सन् १८५७ के विप्लव मे उनके विरुद्ध भाग लेने के लिए कोई भी भारतीय प्रस्तुत न होता।

इसमे कुछ भी सन्देह नहीं कि प्लासी के युद्ध मे अन्याय-पूर्वक विजयी होने वाले अँगरेजों और अँगरेजी राज के विरुद्ध प्लासी युद्ध के समय से ही असंख्य भारतवासियों के हृदय मे क्रोध और असन्तोष के भाव बढ़ने लगे थे। क्लाइव के समय से लेकर डलहौजी के समय तक जिस प्रकार कम्पनी के प्रतिनिधियों ने अपने गम्भीर प्रतिज्ञा-पत्रों और हस्ताक्षरी संधि-पत्रों की अवहेलना की, वह भी विप्लव का एक कारण था।

इतना ही नहीं, भारतवर्ष मे प्रभुता स्थापित करते ही अभिमानी अँगरेज भारत के अगणित राजकुलों को पददलित करने

लगे, और उनकी रियासतों को एक-एक कर अपने राज मे मिलाने लगे; भारत के प्राचीन उद्योग धन्धों को नष्ट कर लाखों भारतवासियों से उनकी जीविका छीनने लगे, असहाय बेगमों और रानियों के महलों मे घुसकर उन्हे लूटने और उनका अपमान करने लगे, अनेक जमींदारों की जमींदारियों को हड़प कर भारत के असंख्य प्रतिष्ठित घरानों को नष्ट करने लगे, इसके साथ ही साथ गोरखपुर और बनारस के समान लाखों भारतीय किसानों को उनकी पैतृक जमीनों से बाहर निकालकर गृहहीन बनाने लगे।

इन्हीं सब शोकास्पद घटनाओं के कारण भारतीय राजाओं और भारतीय प्रजा दोनों मे ही समान रूप से अँगरेजों के विरुद्ध असंतोष की अग्नि भीतर ही भीतर सुलगने लगी थी। सन् १७८० के लगभग पूना दर्बार के प्रधान मत्री नाना फड़नवीस और मैसूर राज के स्वामी हैदरअली का सम्मिलित रूप से दिल्ली-सम्राट और अन्य भारतीय राजाओं को अपनी ओर कर अँगरेजों को भारतवर्ष से निकाल देने का प्रयत्न करना इसी असन्तोष की अग्नि का एक रूप और सन् १८५७ के विप्लव का पूर्व-चिह्न था। सन् १८०६ मे बेलोर की छावनी के भारतीय सिपाहियों ने जो विद्रोह किया था, वह भी इसी अग्नि का एक छोटा-सा स्वरूप था।

बेलोर के विद्रोह का कारण यह था कि उस समय के अँगरेज-शासकों मे भारत के निवासियों को ईसाई बनाने का बड़ा उत्साह था। प्रारम्भ से ही ईसाई मत को भारतवर्ष मे सबसे अच्छा क्षेत्र मद्रास-प्रान्त मे मिला। इसीलिए मद्रास-प्रान्त मे ही अभी तक ईसाइयों की संख्या अधिक है।

जिस समय की घटना का हम वर्णन कर रहे हैं उस समय लार्ड विलियम बेण्टिङ्क मद्रास का गवर्नर और सर जॉन क्रेडक वहाँ का कमाण्डर इन चीफ था। ये दोनों अँगरेज ईसाई मत के प्रचार मे बड़े उत्साह से कार्य करते थे। उस समय के ईसाई शासक ईसाई मत का प्रचार करने वालों को सभी तरह की सुविधाएँ और सहायता दिया करते थे।

पादरी लोग जहाँ कहीं भी जाना चाहते थे, अँगरेज सरकार से उन्हें पासपोर्ट मिल जाते थे। किले के अन्दर भारतीय सिपाहियों मे ईसाई मत का प्रचार करने के लिए उन्हे विशेष सुविधाएँ दी गई थी। धीरे-धीरे मद्रास प्रान्त की भारतीय सेना को आज्ञा दी गई कि कोई भी सैनिक परेड के समय या ड्यूटी पर अथवा वर्दी पहने हुए अपने माथे पर तिलक आदि धार्मिक चिह्न न लगाये। हिन्दू मुसलमान सभी सिपाहियो को आज्ञा दी गई कि वे सब अपनी दाढ़ियाँ मुड़वा दे और सब लोग एक तरह की कटी मूँछ रखे।

इसी पर जुलाई सन् १८०६ की रात को बेलोर की छावनी के भारतीय सैनिक बिगड़ खड़े हुए। दो बजे रात को उन्होने सदर गारद के सामने जमा होकर अपने कमाण्डिंग अफसर कर्नल फैनकोर्ट के मकान को घेर लिया और उसे गोली से मार दिया। उसके बाद उन्होंने अपने शेष अँगरेज सिपाहियों और ईसाई अफसरों को गोली से मारना आरम्भ कर दिया। किन्तु किसी तरह यह विद्रोह शान्त कर दिया गया और विद्रोहियों को पूरा दण्ड दिया गया। इसीलिए मानना पड़ता है कि यह विद्रोह भी सन् १८५७ के विप्लव के कारणों मे से एक कारण अवश्य था।

आगे चलकर डलहौजी का समय आया। डलहौजी के समय में कम्पनी और इंगलैण्ड के नीतिज्ञों की साम्राज्यपिपासा चरम सीमा को पहुँच गई। डलहौजी ने महाराज रणजीतसिंह के साथ कम्पनी की सधियों को रद्द करके पञ्जाब पर चढ़ाई की, लाहौर दरबार के अन्दर फूट डलवाई, दलीपसिंह और उसकी विधवा माता महारानी झिन्दाँ को पञ्जाब और भारत दोनों देशों से निकाल दिया और पञ्जाब के उपजाऊ भाग को कम्पनी के राज्य मे मिला लिया।

डलहौजी ने निरपराध बरमा के साथ युद्ध छेड़ कर पेगू के प्रान्त को बरमा राज्य से छीन लिया। भारतीय राजाओं में जो गोद लेने की प्राचीन प्रथा था, उसका तिरस्कार कर डलहौजी ने सतारा, झाँसी, नागपुर आदि अनेक रियासतो का अन्त कर उन्हे अँगरेजी राज्य मे मिला लिया।

नवाब के 'कुशासन' का बहाना लेकर सन् १८५७ मे उनके अवध की उपजाऊ रियासत को कम्पनी के राज मे सम्मिलित कर लिया। नवाब वाजिदअली शाह को बन्दी करके कलकत्ते भेज दिया। भारत के असंख्य पुराने ताल्लुकेदारों और जमींदारों की पैतृक जागीरे छीनकर उन्हे कंगाल बना दिया।

यह सब व्यवहार तो भारतीय राजाओं और सरदारों के साथ हुआ। साधारण प्रजा के साथ भी अँगरेजों का व्यवहार अनेक प्रकार से दिन-प्रति दिन अधिक से अधिक उद्दण्ड, धृष्ट और असह्य होता जा रहा था। स्थान-स्थान पर अँगरेज अफसर अपने सामने घोड़े पर आनेवाले भारतीयों को घोड़े से उतर कर चलने के लिए बाध्य करते थे। भारतीय जनता के धार्मिक

और सामाजिक प्रथाओं की बड़ी अवहेलना की जाती थी। सभी लोग अँगरेजों के इन दुर्व्यवहारों से मन ही मन कुढ़ने लगे थे।

डलहौजी के आते ही सहारनपुर मे एक नया अँगरेज़ी अस्पताल बना। अस्पताल के बनते ही उसमें प्रत्येक धर्म के पुरुष और स्त्री रोगियों को आने की आज्ञा दी गई। सहारनपुर के अँगरेज अफसरों ने यह घोषणा प्रकाशित की कि प्रत्येक जाति और धर्म के रोगी, स्त्री और पुरुष, यहाँ तक कि पर्दे मे रहने वाली स्त्रियाँ भी इलाज के लिए इसी अस्पताल मे आवे और कोई देशी हकीम या वैद्य न किसी को दवा दे और न किसी का इलाज करे।

इस घोषणा के प्रकाशित होते ही सहारनपुर की जनता मे असंतोष की अग्नि भड़क उठी। लोगो के भाव यहाँ तक प्रचण्ड होने लगे कि वहाँ के अँगरेज अफसरो को अपनी घोषणा वापस लेनी पड़ी। इस प्रकार के अनुचित और उद्दण्ड व्यवहारो के और भी अनेक उदाहरण दिये जा सकते है, फिर भी साधारण रूप से सन् १८५७ के विप्लव के पाँच प्रधान कारण कहे जा सकते हैं। वे पाँच प्रधान कारण इस प्रकार के है :—

१—दिल्ली सम्राट के साथ का अँगरेजों का लगातार अनुचित व्यवहार।

२—अवध के नवाब और और अवध की प्रजा के साथ अत्याचार।

३—डलहौजी की अपहरण नीति।

४—अंतिम पेशवा बाजीराव के दत्तक पुत्र नाना साहब के साथ कम्पनी का अन्याय।

५—भारतवासियों को ईसाई बनाने की प्रबल आकांक्षा और भरतीय सेना मे बलपूर्वक ईसाई मत का प्रचार।

विषय को भली भॉति समझने के लिए आवश्यक होगा कि ऊपर बताये गये कारणों मे से प्रत्येक कारण को पुष्ट करनेवाली घटनाओं का अध्ययन कर लिया जाय नही तो विप्लव की कहानी अधूरी ही रह जायगी।

विप्लव का प्रथम मुख्य कारण :—

सम्राट शाहआलम (जो सन् १७५९ से १८०६ तक दिल्ली के तख्त पर रहा) के समय तक भारत में रहने वाले समस्त अँगरेज अपने को दिल्ली के सम्राट की प्रजा कहने मे ही अपना गौरव समझते थे। इसी लिए अँगरेजों की कम्पनी को अपनी तिजारती कोठियॉ बनवाने के लिए कलकत्ता, मद्रास, सूरत आदि स्थानों मे सम्राट के फरमानो द्वारा ही जागीरे मिलीं थीं। उन जागीरों के लिए अँगरेज दिल्ली के सम्राट को बराबर खिराज देते थे और गवर्नर जनरल से लेकर छोटा से छोटा तक जो अगरेज सम्राट के दरबार मे जाता था, वह शेप दरबारियों के समान आदाब वजा लाता था, सम्राट को नजर भेट करता था और अपने स्थान पर अदब के साथ खड़ा रहता था। प्रत्येक गवर्नर जनरल की मुहर में "दिल्ली के बादशाह का फिदवी खास" जिसका अर्थ यह है कि (दिल्ली के बादशाह के विशेष नौकर) ये शब्द खुदे रहते थे। शाहआलम ने सबसे पहले सन् १७६५ मे क्लाइव को बगाल और बिहार की दिवानी के अधिकार प्रदान किये थे। इसके बाद धीरे-धीरे दिल्ली सम्राट के दरबार मे षड़यन्त्र और युद्ध की तैयारियाँ होने लगी।

दिल्ली-सम्राट का बल घटता गया और अँगरेज कम्पनी का बल बढ़ता गया।

माधोजी सींधिया ने दिल्ली पर चढ़ाई करके भारत सम्राट के बल को फिर से थोड़ा बहुत बढ़ाया और सम्राट, उसकी राजधानी तथा आस-पास के इलाके की सैनिक रक्षा का भार भी अपने हाथों लिया। सम्राट् शाहआलम की लिखी हुई फारसी की एक कविता अभी तक प्रचलित है, जिसमें उसने माधोजी सींधिया को अपना फरजन्द "जिगरबन्दे मन" कहा है और उसकी खुलकर बड़ी प्रशंसा की है।* कम्पनी ने भारत में अपना राज स्थापित करने के लिए मराठों की बढ़ती हुई सत्ता को कुचल देना आवश्यक समझा। यह दूसरे मराठा युद्ध का समय था। जनरल लेक ने कम्पनी की ओर से एक इकरारनामा लिख कर अपने दस्तखतों से शाहआलम के सामने पेश किया जिसमें कम्पनी ने शाहआलम से यह वादा किया कि हम समस्त देश पर आपका प्राचीन क्रियात्मक आधिपत्य फिर से स्थापित कर देंगे आदि आदि।

भाग्यहीन, निर्बल और अदूरदर्शी शाहआलम फिर से अँगरेजोंकी चालों में फँस गया। शाहआलम की ही सहायता से अँगरेजों ने सन १८०४ में मराठों को दिल्ली से निकाल दिया, सम्राट् के निजी खर्च के लिए १२ लाख रुपये सालाना का तुरन्त प्रबन्ध कर दिया और राजधानी की सैनिक रक्षा का भार अपने ऊपर ले लिया। उस समय तक भी अँगरेज

*माधोजी सींधिया फरजन्द जिगरबन्देमन, हस्त मसरूफ तलाफीए सितमगारि-ए-मा।

दिल्ली-सम्राट के देश व्यापी मान, मराठों और अफगानों के बल और अपनी निर्बलता के कारण दिल्ली सम्राट् और उसके ऊपरी मान को बनाये रखना तथा अपने को सम्राट् की प्रजा कहते रहना अपने लिए आवश्यक कार्य समझते थे।

अँगरेजों की नीयत के सम्बन्ध में भारत सम्राट् और उसके हितचिन्तकों को सबसे पहिले सन्देह उस समय हुआ जिस समय कि लार्ड वेल्सली ने यह तजबीज की कि शाहआलम और उसके दरबार को दिल्ली के लाल किले से हटा कर मुंगेर के किले में लाकर रखा जाय। लिखा है कि बूढ़ा शाहआलम इस तजबीज को सुनते ही क्रोध से भर गया। लार्ड वेल्सली को अपनी तजबीज के वापस ले लेने में ही कुशल दिखाई दी किन्तु अनेक दिल्ली-निवासियों के चित्त उसी समय से अँगरेजों की ओर से सशङ्क हो गये। दिल्ली के अन्दर सन् १८५७ के महान विप्लव का एक प्रकार यही बीजारोपण था। इस घटना के बाद ही सन् १८०६ में शाहआलम की मृत्यु हुई। शाहआलम के बाद अकबरशाह दिल्ली के तख्त पर बैठा। इससे पहिले सीटन नाम का एक अँगरेज कम्पनी के रेजिडेण्ट की हैसियत से दिल्ली में रहा करता था। सीटन जब कभी दरबार में जाता था तब निम्न श्रेणी के एक भारतीय अमीर के समान सम्राट के सामने यथा-नियम तसलीम और कोरनिश किया करता था और सम्राट कुल के प्रत्येक बच्चे की ओर यथोचित मान दर्शाता था। किन्तु सीटन के बाद चार्ल्स मेटकाफ रेजिडेण्ट हुआ। मेटकाफ ने तुरन्त अपने अँगरेज मालिकों की आज्ञा से सम्राट अकबरशाह की ओर अपना व्यवहार बदल दिया और अनेक ऐसी हरकतें करनी आरम्भ कर दीं जो सम्राट और उसके दरबार

के लिये घोर अपमान जनक थीं। सम्राट और उसके हितचिन्तकों के दिलों मे अँगरेजों की ओर से असन्तोष और घृणा बढ़ती चली गई।

सम्राट अकबरशाह ने अपने एक पुत्र मिरजा सलीम को, जिसे मिरजा जहाँगीर भी कहते थे, युवराज नियुक्त करना चाहा। ऐसा कहा जाता है कि मिरजा सलीम अँगरेजों से घृणा करता था। अँगरेजों ने किसी बहाने मिरजा सलीम को इलाहाबाद भेजकर वहाँ नजर बन्द कर दिया। सम्राट के दरबार का बल अनेक आन्तरिक कारणों से पहिले ही कम हो रहा था। सम्राट ने इसके बाद अपने एक दूसरे बेटे मिरजा नीली को युवराज बनाने का प्रयत्न किया। अँगरेजो ने इसका भी विरोध किया। सन् १-३७ मे सम्राट अकबरशाह की मृत्यु हुई और अन्त मे सम्राट बहादुरशाह अपने पिता के सिंहासन पर बैठा।

जनरल लेक ने सम्राट शाहआलम को जो 'इकरारनामा' लिख कर दिया था वह अभी तक पूरा न किया गया था। सम्राट अकबरशाह ने उस इकरारनामे की शर्तों को पूरा कराना चाहा, किन्तु उसे भी सफलता न हो सकी। इस पर अकबरशाह ने राजा राममोहन राय को अपना एलची नियुक्त करके इंगलैण्ड भेजा। वहाँ पर भी राजा राममोहन राय की किसी ने न सुनी और इंगलैण्ड के शासकों ने कम्पनी की मुहर लगे हुए 'इकरारनामे' की कदर रद्दी कागज से अधिक न की। जब यह सब समाचार दिल्ली पहुँचा तब वहाँ के लोगों को अँगरेजों के रहते दिल्ली और दिल्ली के सम्राट-कुल के भविष्य के सम्बन्ध मे तरह-तरह की गहरी शकाएँ होने लगीं।

सम्राट बहादुरशाह ने भी इकरारनामे की एक शर्त के अनु-

सार अपने खर्च की रकम को बढ़वाना चाहा। इस बीच दिल्ली और उसके पास के इलाके के ऊपर कम्पनी का पञ्जा कसता जा रहा था, और वही दिल्ली सम्राट जो कुछ समय पहिले समस्त भारत के खजानों का मालिक समझा जाता था, अब अपने सहस्रों कुटुम्बियो और आश्रितों सहित बड़ी आर्थिक कठनाई के साथ दिल्ली के किले के अन्दर दिन बिता रहा था। सम्राट को उत्तर मिला कि यदि आप अपने और अपने वंशजों के समस्त रहे सहे अधिकार विधिवत कम्पनी को सौंप दें तो खर्च की रकम बढ़ा दी जायगी। बहादुरशाह ने इसे स्वीकार न किया।

प्रत्येक ईद को, नौरोज को और सम्राट की साल-गिरह के दिन गवर्नर जनरल और कमाण्डर-इन चीफ दोनो सम्राट के दरबार मे उपस्थित होकर या रेजीडेण्ट द्वारा सम्राट के सामने नजरें भेंट किया करते थे। सन् १८३७ मे बहादुरशाह के तख़्त पर बैठने के समय भी ये नजरें दी गई थी। किन्तु इसके कुछ वर्ष बाद लार्ड एलनब्रु ने गवर्नर जनरल बनते ही इन नजरों का भेंट किया जाना बन्द कर दिया। इस नजर का बन्द किया जाना पूर्वोक्त असन्तोष का एकमात्र कारण कहा जा सकता है। इसी तरह की और भी अनेक बातों मे अँगरेजों ने पद-पद पर दिल्ली-सम्राट का अपमान करना शुरू कर दिया।

सन् १८३९ मे सम्राट बहादुरशाह के पुत्र युवराज दारा-बख़्त की मृत्यु हुई। उसके बाद सम्राट बेगम जीनतमहल के पुत्र शाहजादे जवाँबख़्त को युवराज नियुक्त करना चहता था। सन् १८५७ मे साबित हो गया कि जीनतमहल की योग्यता और संगठन-शक्ति दोनों असाधारण थी और जवाँबख़्त एक होन-हार और स्वाभिमानी युवक था। अँगरेज जीनतमहल और

उसके पुत्र दोनों के विरुद्ध थे। रेजिडेण्ट और गवर्नर जनरल के उस समय के पत्रों से प्रगट है कि वह भविष्य के लिये हिन्दुस्तान के 'बादशाह' की उपाधि को ही तोड़ देने की चिन्ता मे थे।

गवर्नर जनरल ने गुप्त षड्यन्त्र द्वारा बहादुरशाह के एक दूसरे पुत्र मिरजा फखरू से एक प्रतिज्ञा-पत्र लिखवा लिया, जिसमें एक शर्त यह भी थी कि यदि मुझे युवराज बना दिया गया तो तख्त पर बैठते ही मै दिल्ली का लाल कला छोड़कर, जहाँ अँगरेज कहेगे, वहाँ जाकर रहने लगूँगा। बहादुरशाह को जब इसका पता चला तब उसने आपत्ति की। फिर भी कहा जाता है कि बहादुरशाह की इच्छा के विरुद्ध मिरजा फखरू ही को युवराज नियत होने की घोषणा दिल्ली मे कर दी गई। यह समय लार्ड डलहौजी का था। राजधानी के अन्दर अँगरेजो के विरुद्ध गहरे असन्तोष का यह भी एक मुख्य कारण हुआ।

सन् १८५४ मे मिरजा फखरू की भी मृत्यु हो गई। रेजिडेण्ट टामस मेटकाफ बहादुरशाह के दरबार में मिलने गया। उस समय बहादुरशाह के नौ बेटे थे, जिनमे सबसे होनहार और होशियार मिरजा जवाँबख्त समझा जाता था। बहादुरशाह ने एक पत्र रेजिडेण्ट को दिया जिसमे लिखा था कि जवाँबख्त को युवराज बनाया जाय। इस पत्र के साथ एक अलग पत्र था जिस पर बाकी आठों शाहजादो के दस्तखत थे और यह लिखा था कि हम सब जवाँबख्त के युवराज बनाये जाने मे खुश है और यही चाहते भी है। इस पर अँगरेजों ने इन आठों शाहजादों मे से एक मिरजा कोयास को फिर अपनी ओर फोड़ा।

मिरजा कोयास से गववर्नर जनरल के नाम एक गुप्त पत्र लिखाया गया। इस अवसर पर गवर्नर जनरल ने रेजिडेण्ट को अपने एक पत्र मे इस प्रकार लिखा था :

"सम्राट के ऊपरी वैभव और ऐश्वर्य के अनेक भूषण उतर चुके हैं जिससे उस वैभव की पहली सी चमक-दमक नही रही, और सम्राट के वे अधिकार, जिन पर तैमूर के कुल वालो को घमण्ड था, एक दूसरे के बाद छिन चुके हैं, इसलिए बहादुरशाह के मरने के बाद कलम के एक डोबे मे 'बादशाह' की उपाधि का अन्त कर देना कुछ भी कठिन नहीं है।"

बादशाह को जो नजर, गवर्नर जनरल और कमाण्डर-इन-चीफ देते थे, बन्द हुई। कम्पनी का सिक्का जो बादशाह के नाम से ढाला जाता था, वह भी बन्द कर दिया गया। गवर्नर जनरल की मोहर मे जो पहले "बादशाह का फिदवी खास" (बादशाह का विशेष नौकर) ये शब्द रहते थे, वे निकाल दिये गये और हिन्दुस्तानी रईसों को मनाही कर दी गई कि वे भी अपनी मोहरों मे बादशाह के प्रति ऐसे शब्दो का उपयोग न करे।

इन सब बातो के बाद अब गवर्नमेण्ट ने फैसला कर लिया है कि दिखावे की अब कोई बात भी ऐसी बाकी न रखी जाय जिससे हमारी गवर्नमेण्ट बादशाह के अधीन मालूम हो। इसलिए दिल्ली के 'बादशाह' की उपाधि एक ऐसी उपाधि है जिसका रहने देना या न रहने देना गवर्नमेण्ट की इच्छा पर निर्भर है।"*

---

*ख्वाजाहसन निजामी की लिखी हुई 'देहली की जॉकनी' नामक पुस्तक से उद्धृत।

अपने इसी इरादे को सफल बनाने के लिए गवर्नर जनरल ने शाहजादे जवाँबख्त के विरुद्ध मिरजा कोयास को युवराज स्वीकार किया। सम्राट को इसकी सूचना दे दी गई, और मिरजा कोयास से ये तीन शर्तें कर ली गईं। १—तुम्हे 'बादशाह' के स्थान पर केवल 'शाहजादा' कहा जाया करेगा। २—तुम्हे दिल्ली का किला खाली करना होगा। और ३—एक लाख मासिक के स्थान पर तुम्हे पन्द्रह हजार रुपये मासिक खर्च के लिए मिला करेगे।

इस समाचार को पाते ही सम्राट बहादुरशाह और दिल्ली निवासियों के दिलों मे क्रोध की आग भड़क उठी कि जिसने दिल्ली वालों को विप्लव के लिए कटिबद्ध कर दिया और वे जिस तरह हो, अँगरेजों के पजे से देश को स्वतन्त्र करने के उपाय सोचने लगे। यह घटना सन् १८५६ की थी। इसका परिणाम यह हुआ कि थोडे ही समय मे अर्थात् उक्त घटना के अगले वर्ष ही भारत मे इस ओर से उस ओर तक विप्लव की भयानक आग लगी हुई दिखाई दी और वह ऐसी भयानक आग थी जिसकी कल्पना भी अँगरेजों ने स्वप्न मे भी न की होगी। वे तो अपने को सर्वशक्ति-सम्पन्न समझे हुए थे।

विप्लव का दूसरा मुख्य कारण :—

विप्लव का दूसरा मुख्य कारण था, अवध के नवाब और अवध की प्रजा के ऊपर कम्पनी का अत्याचारपूर्ण अमानुषिक बर्ताव। विप्लव से केवल एक वर्ष पूर्व बिना किसी कारण के अवध का समस्त राज्य अँगरेजों ने अपने अधिकार मे कर लिया और नवाब वाजिदअली शाह को अवध से निर्वासित कर कलकत्ते भेज दिया।

सबसे अन्तिम भारतीय राज्य, जिसे लार्ड डलहौजी ने अँगरेजी राज मे शामिल किया था, वह अवध का राज था। लार्ड डलहौजी के इस कार्य को वर्णन करने से पहले कुछ वर्ष पूर्व की एक और हास्य-जनक घटना को वर्णन करना प्रसग के अनुकूल ही होगा। वह घटना इस प्रकार की थी—डलहौजी का पिता एक समय कम्पनी की भारतीय सेना का कमाण्डर इन-चीफ था। अपने समय के अन्य अँगरेज अफसरों के समान वह एक बार लखनऊ के नवाब से भेट करने गया। कमाण्डर-इन-चीफ ने अवध के नवाब से अपनी धर्मपत्नी का परिचय कराया। अनुमान किया जाता है कि कमाण्डर-इन-चीफ का उद्देश्य अपनी पत्नी को महल मे भिजवा कर बेगमों से कुछ नजरे कमाना था। पुरुषों से स्त्रियों का इस प्रकार परिचय कराने की प्रथा भारत मे न थी। अवध का नवाब कमाण्डर-इन चीफ का मतलब न समझ सका। उसने यह समझा कि कमाण्डर इन-चीफ अपनी पत्नी को नवाब के हाथों बेचना चाहता है। निस्सन्देह अवध के नवाब को इस तरह का सौदा रुचिकर न हो सकता था। थोड़ी देर के बाद उसने अपने कर्मचारियों से कहा, "बहुत हो चुका! इस औरत को यहाँ से हटाओ।"

इस स्थल पर आवश्यकता इस बात की भी है कि घटना-क्रम को पूर्ण रीति से समझाने के लिए अँगरेजों और अवध का इतिहास संक्षेप मे बतला दिया जाय।

आरभ मे अवध का राज्य विशाल मुगल साम्राज्य का एक अंग था। अवध के नवाब दिल्ली-सम्राट के पैतृक वजीर समझे जाते थे। धीरे-धीरे मुगल साम्राज्य की निर्बलता के अन्तिम दिनो मे अवध के नवाब बहुत दर्जे तक उस साम्राज्य से स्वतत्र होते

चले गये। कम्पनी के साथ अवध के नवाब का सम्बन्ध सन् १७६४ में प्रारंभ हुआ। आरंभ में अवध के नवाब को अपने राज्य की रक्षा के लिए राज्य के अन्दर कम्पनी को सेना रखने की सलाह दी गई। इस सेना के खर्च के लिए सोलह लाख रुपये वार्षिक नवाब से लिये जाने लगे। धीरे-धीरे कम्पनी की यह सेना बढ़ने लगी और उसके खर्च के लिए रकम भी बढ़ती चली गई। यहाँ तक कि इस बिशाल सेना के खर्च के लिए रुहेलखण्ड और दोआब का इलाका, जिसकी बचत उस समय दो करोड़ रुपये वार्षिक थी, नवाब से ले लिया गया।

सन् १८०१ में अवध के नवाब और कम्पनी के बीच एक और नई सन्धि हुई, जिसमें अँगरेजों ने वादा किया कि नवाब का शेष समस्त राज्य पीढ़ी-दर-पीढ़ी उसके शासन में कायम रहेगा और अँगरेज उसमें कभी किसी प्रकार का हस्तक्षेप नहीं करेंगे। इसी सन्धि की एक धारा यह भी थी कि "अँगरेज सरकार नवाब वजीर के समस्त इलाके की बाहर के आक्रमणों और भीतर के विद्रोहों से रक्षा करने का वादा करती है।" वास्तव में यही धारा अवध की समस्त भावी मुसीबतों की जड़ साबित हुई।

इसके बाद समय-समय पर अँगरेज गवर्नर जनरलों ने अपने भारतीय युद्धों के लिये करोड़ों रुपये कभी बतौर कर्ज के और कभी बतौर सहायता के, अवध के नवाब से वसूल किये। असंख्य अँगरेज शासकों और अफसरों की व्यक्तिगत आर्थिक कठिनाइयों को दूर करने के लिए भी अवध के खजाने ने समय-समय पर कामधेनु का काम दिया। वास्तव में अवध के राज्य से धन चूस-चूस कर ही अधिकतर कम्पनी के नवजात साम्राज्य ने भारत में अपने शरीर को हृष्ट-पुष्ट किया।

आये दिन की नित्य नई मॉगों के कारण अवध के नवाब की आर्थिक कठिनाई बढ़ती चली गई। एक अँगरेजी रेजिडेण्ट लखनऊ के दरबार में रहने लगा। शासन के छोटे से छोटे मामलों मे नित्य नये हस्तक्षेप होने लगे। कई छोटे-छोटे इलाकों का शासन नवाब से कहकर अँगरेज अफसरों को सौंप दिया गया। इन अंगरेज अफसरो ने स्थान-स्थान पर अपने कानून चला दिये। इस अनुचित हस्तक्षेप के कारण प्रजा मे दुःख और दरिद्रता की अधिकता होने लगी। नवाब ने प्रजा की दशा सुधारने के अनेक प्रयत्न किये किन्तु प्रत्येक बार कम्पनी के प्रतिनिधियों ने नवाब के इन प्रयत्नों को सफल होने से पहले ही रोक दिया।

अवध के शासन मे कम्पनी के प्रतिनिधियों के इस अनुचित हस्तक्षेप और उसके परिणामों को वर्णन करते हुए सर हेनरी लारेन्स जनवरी सन् १८४५ के कलकत्ता रिव्यू मे लिखता है—"हमारे भारतीय इतिहास मे अवध का, अध्याय हमारे लिए बड़े ही कलंक का अध्याय है। उससे हमे यह भयानक चेतावनी मिलती है कि जो राजनीतिज्ञ एक बार धर्म और अधर्म के सीधे नियम को छोड़कर उसकी जगह क्षणिक उपयोगिता या अपने विचार के अनुसार 'अपने राष्ट्रीय हित की दृष्टि से काम करने लगता है तो वह किसी सीमा तक पहुँच सकता है। अवध के इतिहास के प्रत्येक लेखक ने जिन घटनाओं का वर्णन किया है, उन सबसे यही सिद्ध होता है कि उस प्रान्त मे अँगरेजो का हस्तक्षेप करना जितना अँगरेजों के नाम पर कलक था, उतना ही अवध दरबार और वहाँ की प्रजा के लिए नाशकर था। × × × हम जिधर हो दृष्टि डालते हैं उधर ही हमे अपने हस्तक्षेप के नाशकर परिणाम स्पष्ट अक्षरों मे लिखे हुए दिखाई देते है। × × ×

यदि कहीं पर भी कुशाशन बनाये रखने के लिये कोई सफल उपाय काम मे लाया जा सकता है तो वह यह है कि देशी नरेश हो, उसका मन्त्री भी देशी हो, और दोनों की पुष्टि के लिए वे विदेशी संगीनें हों, जिनको एक अँगरेज रेजिडेण्ट नित्य पीछें से चलाता रहे ।"

वास्तव बात ऐसी ही थी । एक ओर तो अवध के शासन में इस प्रकार पद पद पर हस्तक्षेप किया जा रहा था और दूसरी ओर अवध के नवाब को दिल्ली के दरबार से तोड़ने के लिए नित्य नये प्रयत्न किये जा रहे थे । कम्पनी के प्रतिनिधि इस बात के लिए चिन्तित रहते थे कि अवध के नवाब दिल्ली की ओर से सर्वथा स्वाधीन हों । यहाँ तक कि मार्क्विस आफ हेस्टिंग्स ने अवध के 'नवाब-वजीर' को 'अवध के बादशाह' की उपाधि दी और इसके बाद नवाब के उत्तराधिकारियों को इसी उपाधि से पुकारा गया । किन्तु ज्यों-ज्यों मुगल दरबार की ओर अवध के नवाबों की स्वतंत्रता बढ़ती गई, त्यों-त्यों अँगरेज कम्पनी की ओर से उनकी परतंत्रता बढ़ती चली गई यहाँ तक कि अवध के अदूरदर्शी-भारतीय नरेश कम्पनी की मित्रता के चगुल मे पड़कर थोड़े ही दिनों मे सर्वथा पंगुल हो गये ।

नवाब पर बार-बार यह अपराध लगाया जाने लगा कि तुम्हारा राज-प्रबन्ध ठीक नही है, तुम्हारी प्रजा तुमसे असतुष्ट है । वास्तव मे जो कुछ कुप्रबन्ध था और उसके कारण जैसा असंतोष उस समय अवध मे फैला हुआ था, वह सब अँगरेजों ने ही जान-बूझकर पैदा किया था ।

एक स्थल पर लार्ड हेस्टिंग्स ने ऐसा लिखा है—"वास्तव मे इस प्रकार का शासन स्थापित करने का जिससे प्रजा सुखी हो,

एममात्र सच्चा और लाभकर उपाय यही हो सकता था कि अँगरेज रेजिडेण्ट को वापस बुला लिया जाता और नवाब को अपने राज-प्रबन्ध मे स्वतन्त्र छोड़ दिया जाता। इसलिए उस इलाके के असतोष का सारा अपराध कम्पनी के ही सिर पर है।"

इतना ही नही, सन् १८३७ मे नवाब के साथ एक नई सन्धि फिर की गई, जिससे नवाब को और भी अधिक जकड़ दिया गया धीरे-धीरे समय बीतता गया। सन् १८४७ मे नवाब वाजिद्अली-साह अवध के तख्त पर बैठा। वाजिद्अलीशाह नौजवान, उत्साही और समझदार था। उसने अवध के शासन मे अनेक सुधार किये। वह समझ गया कि अवध के राज्य मे वास्तविक रोग क्या है ?

जिस भाग्यहीन वाजिद्अलीशाह के ऊपर विषयलोलुपता के असख्य झूठे और द्वेषपूर्ण अपराध लगाये जा चुके है, उसी ने तख्त पर बैठते ही सबसे पहले अपनी रही-सही सेना को सुधारने और उसे फिर से सुसगठित करने के प्रबल प्रयत्न करने आरम्भ कर दिये। सेना के अनुशासन के लिए उसने अनेक नये और कठोर नियम बनाये। उसने प्रतिदिन अपने सामने सेना से कवायद करवानी शुरू कर दी। लखनऊ दरबार की समस्त पलटनों को प्रतिदिन सूर्योदय से पहले कवायद के मैदान मे जमा हो जाना पड़ता था। नवाब वाजिद अलीशाह स्वय सूर्योदय से पूर्व सेनापति की वर्दी पहन कर और घोड़े पर सवार होकर मैदान मे पहुँच जाता था। यदि किसी पलटन को आने मे देर होती थी तो उससे दो हजार रुपये जुर्माना वसूल किया जाता था।

इतिहास-लेखक मेटकाफ लिखता है कि—"वाजिदअलीशाह अपने नियमों का इतना पाबन्द था कि यदि कभी किसी कारण उसे देर होती थी तो इतनी ही रकम जुर्माने की वह स्वयं अदा करता था किन्तु वाजिदअलीशाह को प्रायः कभी भी देर न होती थी। दोपहर तक सारी पलटनें कवायद करती थीं और वाजिदअलीशाह बराबर घोड़े पर सवार मैदान मे उपस्थित रहता था।"

अवध के नवाब वाजिदअलीशाह के ये काम कम्पनी के प्रतिनिधियो के लिये अधिक अरुचिकर होने लगे। परिणाम यह हुआ कि अनेक प्रकार से दबाव डालकर नवाब को इस कार्य से रोका गया इतना ही नहीं, एक समय वह भी आया जब कि वाजिदअलीशाह को विवश होकर कवायद के मैदान में जाना भी बन्द कर देना पड़ा।

इस घटना के थोड़े ही दिनों बाद डलहौजी का समय आया। अवध की हरी-भरी भूमि का प्रलोभन डलहौजी के लिए कोई साधारण प्रलोभन न था। अवध के विषय की ये बातें पार्लमेंट की रिपोर्ट में इस तरह दर्ज है—

"इस सुन्दर भूमि मे हर जगह जमीन की सतह से बीस फुट नीचे और कहीं-कहीं दस फुट नीचे विपुल जल भरा हुआ है। यह प्रदेश अत्यन्त मनोरम और वैभव-पूर्ण है। इसमे लम्बे और ऊँचे बाँसों के जगल के जगल है। मैदानों मे आम के वृक्षों की ठडी छाया है। खेत हरी-भरी पैदावार से लहलहाते है। स्वय प्रकृति ने यहाँ की भूमि को अत्यन्त सुन्दर बनाया है। इस पर इमली के वृक्षो की घनी छाया, सन्तरे के बागों की सुगन्ध, इजीर के पेड़ों का गहरा रग और फूलों के रज की

सुन्दर और व्यापक सुगंध यहाँ के दृश्य को और अधिक वैभव प्रदान करती रहती है।"

इसमें सन्देह नहीं कि अवध का धन-वैभव उस समय कल्पना से अतीत था। इसीलिए असंभव हो गया कि डलहौजी इस प्रलोभन को जीत सकता किन्तु अवध के अपहरण के लिए उतना भी बहाना न मिल सका जितना कि उसे नागपुर, झाँसी और सतारा के लिए मिल चुका था। अवध के नवाबों ने सर्वदा अँगरेजों की सहायता की थी। वे सदा ईमानदारी के साथ सन्धि का पालन करते थे।

वाजिदअलीशाह अपने पूर्वाधिकारी का पुत्र था और वाजिद-अलीशाह के अनेक पुत्र लखनऊ के महल में मौजूद थे। फिर भी सन् १८५६ में लार्ड डलहौजी ने अपने इस निश्चय की घोषणा करा दी कि अवध का राज्य कम्पनी के राज्य में मिला लिया जायगा। इसका कारण यह बताया गया कि नवाब अपने शासन में उचित सुधार नहीं कर रहा है और न करने के ही योग्य है। निस्संदेह डलहौजी का यह कार्य सन् १८०१ और १८३७ की सन्धियों का स्पष्ट उल्लंघन था।

लार्ड डलहौजी की आज्ञा से लखनऊ का रेजिडेण्ट ऊटरम महल में वाजिदअलीशाह से मिलने गया। ऊटरम ने नवाब के सामने एक पत्र पेश किया, जिसमें लिखा था कि मैं खुशी से अपनी सल्तनत कम्पनी को देने के लिए राजी हूँ। रेजिडेण्ट ऊटरम ने उस पत्र पर दस्तखत करने के लिए नवाब पर दबाव डाला। नवाब ने पत्र पढ़ कर दस्तखत करने से साफ इनकार कर दिया। इसके बाद रिश्वतों और धमकियों द्वारा वाजिद-

अलीशाह से दस्तखत कराने का प्रयत्न किया गया। तीन दिन बीत गये, फिर भी वाजिदअलीशाह ने दस्तखत करने से इंकार किया।

इस पर कम्पनी की सेना ने समस्त सन्धियों को धूल में मिलाकर लखनऊ के महल में बलपूर्वक प्रवेश किया। कम्पनी की मर्यादा के अनुसार महलों को लूटा गया, बेगमों का अपमान किया गया। वाजिदअलीशाह को कैद करके कलकत्ते भेज दिया गया, और समस्त अवध पर कम्पनी का अधिकार हो गया।

इसी समय के आस-पास वाजिदअलीशाह के शासन और उसके चरित्र पर भाँति-भाँति के झूठे कलंक लगाकर अनेक पुस्तकें लिखवाई गईं। इनमें एक प्रसिद्ध पुस्तक लार्ड डलहौजी के जीवन-चरित्र के रचयिता आरनाल्ड की लिखी हुई है। उचित होगा कि हम इन रद्दी पुस्तकों और उसके झूठे कलंकों को लेकर कोई तर्क उपस्थित न करें। सर जान के के समय में यह कहते हैं कि कम्पनी की यह प्रथा थी कि जिस देशी नरेश का राज्य छीना जाता था उसे जन-साधारण की दृष्टि में गिराने के लिये उसके चरित्र पर अनेक झूठे दोष लगाये जाते थे किन्तु दुर्भाग्यवश आरनाल्ड जैसों की पुस्तकों के आधार पर अनेक उपन्यास रचे गये। वाजिद-अली शाह के कल्पित पाप इतिहास से इतिहास में नकल किये जाने लगे और आज तक वाजिदअलीशाह के असंख्य देश-निवासी तक इनमें से अनेक गन्दे कलंकों को सच्चा मानते चले आ रहे हैं।

इस स्थल पर हमारा यह अभिप्राय कदापि नहीं है कि वाजिदअलीशाह के जीवन में भोग-विलास की वासना लेश-मात्र भी न थी अथवा यह है कि उसका व्यक्तिगत चरित्र सर्वथा एक

आदर्श चरित्र था किन्तु हम उस भारतीय नरेश के साथ केवल न्याय और सत्य की दृष्टि से केवल इतनी ही बातों का प्रतिपादन अपने इन शब्दों मे करना चाहते है—

पहिली बात यह कि वाजिदअलीशाह की ऐय्याशी का जमाना केवल उस समय प्रारंभ हुआ, जिस समय अँगरेज गवर्नर जनरल और रेजिडेण्ट के हस्तक्षेप द्वारा उसे अपनी सेना को कवायद कराने तक से रोका गया। उस जमाने मे भी वाजिदअलीशाह की ऐय्याशी के सम्बन्ध मे जितनी बाते कही जाती है उनमे से नब्बे प्रतिशत कल्पित और मिथ्या है, और उनमे सत्य की मात्रा कदापि उससे अधिक नहीं है जितनी संसार के नब्बे प्रतिशत नरेशो के जीवन मे पाई जाती है और जितनी क्लाइव, वारन हेस्टिंग्स जैसे अनेक गवर्नर जनरलों के जीवन मे कही अधिक पतित और असभ्य रूप मे पाई जाती थी। साथ ही इस अनुचित हस्तक्षेप से पहले वाजिदअलीशाह का जीवन एक नरेश की हैसियत से असाधारण सयम का जीवन था।

दूसरी बात यह कि वाजिदअलीशाह शुजाउद्दौला के बाद अवध का पहला नवाब था जिसने अपने राज्य को अँगरेजों के प्रभाव से मुक्त करने का विचार किया और यही उसकी आपत्तियों और उस पर झूठे कलङ्को का कारण हुआ।

तीसरी बात यह कि सन् १८५७ के विप्लव ने पूर्ण रूप साबित कर दिया कि नवाब वाजिदअलीशाह अपनी हिन्दू और मुसलमान प्रजा मे सर्वप्रिय था और कम्पनी का हस्तक्षेप अवध के अन्दर किसी भी अवध के निवासी को रुचिकर न था।

अवध के नवाबों के अधीन अधिकांश बड़े-बड़े जमींदार और ताल्लुकेदार हिन्दू थे। कम्पनी की सत्ता जमते ही इन में से अधिकांश की जमीनें छीनी जाने लगी, उनके गाँव जब्त किये जाने लगे और उनके किले गिराये जाने लगे। सर जान के लिखता है कि "इन प्राचीन पैतृक जमींदारों के साथ घोर अन्याय किया गया।" समस्त अवध के अन्दर वह जबदस्ती और बरबादी शुरू हो गई जिसका वर्णन पढ़कर पढ़ने वाले का हृदय काँपने लगता है।

इतिहास से उस समय की घटना का पता चलता है कि अवध के सहस्रों ग्रामों के लाखों किसान नवाब वाजिदअली शाह और उसके कुटुम्बियों के इस विपत्ति का हाल सुनकर रो पड़ते थे और सहस्रों ग्राम-निवासी अपने गृह-विहीन जमींदारों और ताल्लुकेदारों से मिलकर उनके साथ सहानुभूति प्रगट करते थे। नवाब से लेकर छोटे से छोटे किसान तक सब कम्पनी की नई अमलदारी से दुःखी थे। कम्पनी की फौज के अधिकांश हिन्दुस्तानी सिपाही अवध ही से लिए जाते थे, इसलिए अवध-निवासियों के साथ लार्ड डलहौजी के अत्याचारों ने समस्त अवध और अँगरेजी फौज दोनों के अन्दर गहरे असंतोष के बीज बो दिये।

विप्लव का तीसरा मुख्य कारण :—

विप्लव का तीसरा मुख्य कारण लार्ड डलहौजी का व्यापक अपहरण-नीति थी। किस प्रकार उसने एक दूसरे के बाद सतारा, पंजाब, झाँसी, नागपुर, पेगू सिक्किम और सम्बलपुर आदि रियासतों का अपहरण किया, इसे भी संक्षेप में बतला देना आवश्यक है।

भारत के अन्दर अँगरेजी साम्राज्य के विस्तार देनेवालों में डलहौजी का नाम सबसे अन्तिम है अर्थात् डलहौजी के शासन-काल के पश्चात् भारत के मानचित्र में कोई और हिस्सा लाल नही रँगा गया।

लार्ड आकलैण्ड के समय में इङ्गलैण्ड के अन्दर लार्ड लैन्सडाउन के मकान पर वहाँ के मंत्रियों और मुख्य-मुख्य नीतिज्ञों की एक सभा हुई थी जिसमे यह निश्चय किया गया था कि अँगरेजो को भारत के अपने मित्र देशी नरेशों के राज्यों को जिस प्रकार बन पड़े अपने सम्राज्य में मिला-मिला कर अपनी वार्षिक आय को बढ़ाना चाहिए। इसी निश्चित नीति के अनुसार लार्ड डलहौजी ने एक-एक करके भारत के रहे सहे देशी राज्यो का अन्त करना आरंभ कर दिया।

महाराजा रणजीतसिंह के समय से ही पंजाब पर कम्पनी के शासकों के दांत लगे हुए थे। लार्ड एलनब्रु ने रणजीतसिंह की मृत्यु के बाद पंजाब के अन्दर विद्रोह खड़े करने और अराजकता फैलाने का पूरा प्रयत्न किया। सिखों के साथ युद्ध करने की उसने तैयारी भी कर ली थी किन्तु सिख युद्ध को आरम्भ करने का श्रेय गवर्नर जनरल सर हेनरी हार्डिञ्ज को प्राप्त हुआ क्योंकि उसने अपने पूर्वाधिकारी के कार्य को ज्यों का त्यों जारी रखा।

सतलज नदी के दाहिनी ओर उस समय महाराजा रणजीत सिंह के बालक पुत्र महाराजा दलीपसिंह का राज्य था और बाईं ओर फीरोजपुर, लुधियाना, अम्बाला और मेरठ इन चारों स्थानों में अँगरेजो की मुख्य छावनियाँ थी। अँगरेज पंजाब पर आक्रमण करने का बहाना खोज रहे थे।

महाराजा दलीपसिंह के नाबालिग होने के कारण उसकी माता रानी झिन्दा राज्य का अधिकतर कार्य चलाती थीं और शासन-व्यवस्था मे सिख साम्राज्य के तीन मुख्य स्तम्भ लालसिंह, तेजसिंह और गुलबासिंह का पूर्ण रूप से विश्वास करती थी किन्तु ये तीनों ही अगरेजो से मिल गये धीरे-धीरे परिस्थिति बदलती ही गई। अन्त मे अँगरेजो को सिखों से युद्ध करने का कुछ न कुछ बहाना मिल ही गया। भयानक युद्ध के बाद मार्च सन् १८४६ मे लाहौर दरबार के साथ पहली सन्धि हुई किन्तु शीघ्र ही इस सन्धि को तोड़कर दूसरी सन्धि की आवश्यकता अनुभव की जाने लगी। अन्त मे लाहौर मे ही दूसरी सन्धि की गई जिसे भैरवलाल की सन्धि कहा जाता है। यह सन्धि १६ दिसम्बर सन् १८४६ को की गयी। इस सन्धि के अनुसार रानी झिन्दा को पन्द्रह हजार पाउण्ड अर्थात् डेढ़ लाख रुपय सालाना की पेनशन देकर राज्य प्रबन्ध से अलग कर दिया गया। दलीपसिंह के नाबालिग रहने के समय तक के लिए आठ सरदारो की एक समिति बना दी गई।

सर फ्रेडरिक करी इसी समय लाहौर का रेजीडेण्ट था वह आरम्भ से ही बालक दलीपसिंह और सिख राज्य को समूल नष्ट कर देना चाहता था इसीलिए पञ्जाबियो मे उसके प्रति सन्देह और असतोष होने लगा था।

कुछ दिनो के बाद मुलतान मे सग्राम छिड़ गया। लाहौर बैठे बैठे रेजीडेण्ट करी ने महाराज दलीपसिंह की माता महारानी झिन्दा कौर पर यह दोषारोपण किया कि मुलतान के विद्रोह मे झिन्दाकौर का हाथ था और इसी बहाने अँगरेज रेजीडेण्ट के आदेश से १५ मई सन् १८४८ को महाराजा

रणजीतसिंह की विधवा महारानी और महाराजा दलीपसिंह की माता भिन्दा कौर को शेखपुरे के महल से कैद करके तुरन्त बनारस भेज दिया गया। समस्त पञ्जाब और विशेषकर समस्त सिख जाति महारानी भिन्दा कौर को अपनी माता के समान समझती थी। विधवा महारानी के साथ इस प्रकार के व्यवहार को देखते ही समस्त सिख जाति में एक आग सी लग गई। इसी प्रकार की घटनाएँ होते-होते दूसरा सिख युद्ध हुआ और अन्त में लार्ड डलहौजी ने अन्याय-पूर्वक नाबालिग महाराज दलीपसिंह का राज्य छीनकर उसे अँगरेजी राज्य में मिला लिया। इस प्रकार डलहौजी ने पञ्जाब पर अपना अधिकार स्थापित कर लिया।

अब पेगू पर किस प्रकार अधिकार जमाया गया इसे भी संक्षेप में जान लेना उचित होगा। जून सन् १८५१ में मार्क नामक एक अँगरेजी जहाज मोलमई से चलकर रंगून पहुँचा। जहाज के अँगरेज कप्तान का नाम शैपर्ड था। रंगून बन्दरगाह बरमा के राज्य में था। रंगून पहुँचने के बाद दो मुकदमे रंगून की बरमी अदालत में कप्तान शैपर्ड के विरुद्ध दायर किये गये। एक मुकदमा नरहत्या का था और दूसरा लूटने का था। अगस्त सन् १८५१ में चैम्पियन नामक एक दूसरा अँगरेजी जहाज मारीशस से रंगून पहुँचा। उस जहाज के कप्तान लुई के विरुद्ध भी नर-हत्या करने पर बरमी अदालत में मुकदमे दायर किये गये। बरमी अदालत ने उन दोनों को उचित दंड दिया। इसी एक बहाने को लेकर अँगरेजों ने बरमा राज्य के शासकों से द्रोह करना आरम्भ कर दिया। अंत में गवर्नर जनरल डलहौजी ने एक बड़ी सेना बरमा की ओर भेज दी। चूँकि बरमा-निवासी किसी भी प्रकार युद्ध के लिए तैयार न थे इसलिए अंगरेज

सैनिक वहाँ पर सफल हो गये और पेगू का प्रान्त अगरेज कम्पनी के उदर में समा गया।

इसके बाद बिना युद्ध के ही डलहौजी ने हिन्दुस्तान के अन्य आठ राज्यो का अन्त कर दिया और एक विशाल राज्य का अग भंग कर डाला। जिस नीति के अनुसार इन राज्यों को अगरेजी राज्य में मिलाया गया था उसे अगरेजी मे 'लेप्स' कहते है। इसका अर्थ यह था कि जिन देशी नरेशों ने कम्पनी के साथ मित्रता की सन्धि कर रखी थी, अथवा जिनके पूर्वजों की सहायता से कम्पनी ने राज्य स्थापित किया था, उनमें से किसी के मर जाने पर यदि उसके कोइ पुत्र न हो तो उसका समस्त राज्य अगरेजों का हो जाता था और कम्पनी तुरन्त उस पर अपना अधिकार कर लेती थी।

सबसे पहला भारतीय राज्य, जिसे इस नीति के अनुसार लार्ड डलहौजी ने जब्त किया था, वह सतारा का राज्य था। इस स्थल पर उल्लेखनीय बात यह है कि सतारा के राजा की सहायता से ही अंगरेजो ने पेशवा बाजीराव का नाश किया था और फिर आगे चलकर सतारा के राजा के साथ की गई प्रतिज्ञाओं को ही अँगरेजो ने तोड़ दिया। इसी प्रकार नागपुर का राज्य तथा ऊपर उल्लेख किये गये अन्य राज्यों को भी लार्ड डलहौजी ने हड़पकर अँगरेजी राज्य मे मिला लिया।

इन भारतीय राज्यों को साधारणतया जिस प्रकार कम्पनी के राज्य में मिलाया जाता था और उसका जो परिणाम होता उसके विषय मे मद्रास कौन्सिल का सदस्य जान सलीवन लिखता है—

"जब किसी देशी रियासत का अन्त किया जाता है तब वहाँ के नरेश को हटाकर एक अँगरेज उसके स्थान पर नियुक्त कर

दिया जाता है। उस अँगरेज को कमिश्नर कहा जाता है। तीन या चार दर्जन खानदानी देशी दरबारियों और मंत्रियों के स्थान पर कमिश्नर के तीन या चार सलाहकार नियुक्त हो जाते हैं। प्रत्येक देशी नरेश जिन सहस्रों सैनिकों का पालन करता है उनकी जगह हमारी सेना के इने-गिने सौ सिपाही नियुक्त कर दिये जाते हैं। उन पुराने छोटे से दरबार का लोप हो जाता है, वहाँ का व्यापार शिथिल पड़ जाता है, राजधानी वीरान हो जाती है, लोग निर्धन हो जाते हैं, अँगरेज फलते-फूलते हैं और स्पंज की तरह गंगा के किनारे से धन खींचकर टेम्स नदी के किनारे ले जाकर निचोड़ देते हैं।"

इन रियासतों के अपहरण का उल्लेख करते हुए इतिहास-लेखक लडलो लिखता है—

"निस्सन्देह यदि इस तरह की दशाओं में जिन नरेशों की रियासतें अँगरेजी राज्य में मिला ली गईं, उनके पक्ष में अँगरेजों के विरुद्ध भारतवासियों के विचार न भड़क उठते तो भारत-वासियों को मनुष्यत्व से गिरा हुआ कहा जाता। निस्सन्देह एक भी स्त्री ऐसी न होगी जिसे इन रियासतों के अपहरण ने हमारा शत्रु न बना दिया हो, एक भी बच्चा ऐसा न होगा जिसे हमारे इन कार्यों के कारण फिरंगी राज्य के विरुद्ध आरंभ से घृणा की शिक्षा न दी जाती हो।" निस्सन्देह सन् १८५७ तक भारतवासी मनुष्य से इतने गिरे हुए न थे।

अपनी अपहरण-नीति की आड़ में लार्ड डलहौजी ने इनाम कमीशन नाम की एक जाँच कमेटी तैयार की। इस कमेटी ने समस्त भारत के लगभग पैंतीस हजार जागीरों और इनामों की जाँच की और दस वर्ष के अन्दर उनमें से लगभग इक्कीस

हजार को जब्त करके कम्पनी के राज्य मे मिला लिया। इस प्रकार समस्त भारत के अन्दर सहस्रों पुराने घरानों को बरबाद कर दिया। इसमे सदेह नही कि कम्पनी के इन सब कार्यों ने समस्त देश के अन्दर लाखों भारतवासियो को अँगरेजों की ओर से दुःखी और निराश कर दिया था।

विप्लव का चौथा मुख्य कारण :—

विप्लव का चौथा कारण पेशवा बाचीराव के दत्तक पुत्र सुप्रसिद्ध नाना साहब के साथ कम्पनी का अन्याय था। सन् १८५१ मे अतिम पेशवा बाजीराव की मृत्यु हुई। बाजीराव के राज्य के बदले मे कम्पनी ने सन् १८१८ मे उसे "उसके कुटुम्बियों और उसके आश्रितों के पोषण के लिए" आठ लाख रुपये वार्षिक देते रहने का वादा किया था। सन् १८२७ मे बाजीराव ने नाना धुन्धपन्त को गोद लिया। नाना की आयु उस समय तीन वर्ष की थी। कानपुर के पास बिठूर मे पेशवा के साथ उस समय लगभग आठ हजार पुरुष स्त्री और बच्चे रहा करते थे। इन सब का पोषण इसी आठ लाख रुपये वार्षिक की पेनशन से होता था।

बाजीराव के मरते ही गवर्नर जनरल डलहौजी ने इस पेनशन को बन्द कर दिया। बाजीराव की मृत्यु के पहले की पेनशन के बासठ हजार रुपये कम्पनी की ओर बाकी थे। डल-हौजी ने इसे भी देने से इनकार किया। नाना साहब को इसका भी नोटिस दे दिया गया कि बिठूर की जागीर भी तुमसे जिस समय चाहे, छीन ली जायगी।

समस्त अँगरेज इतिहास-लेखक स्वीकार करते हैं कि इससे पहले युवक नाना साहब का व्यवहार अंगरेजों के प्रति बहुत ही अच्छा था। सर जान के लिखता है कि "नाना शान्त-स्वभाव

और आडम्बर रहित युवक था। उसमे कोई भी बुरी आदत नहीं थी और वह अँगरेज कमिश्नर की सलाह मानने के लिए सदैव तैयार रहता था।"

कानपुर के समस्त अँगरेज और उनकी मेमे नाना साहब के महल मे जाकर ठहरतीं व रहती थीं। नाना उनको बडे आराम से रखता था और जब वे उसके यहा से चलने लगते तब उन्हे मूल्यवान दुशाले और आभूषण भेट करता था। नाना के हाथी घोड़े और गाड़ियाँ सर्वदा अगरेजों की सेवा के लिये खडी रहती थीं। फिर भी लार्ड डलहौजी ने बाजीराव के मरते ही नाना साहब की पेनशन को बन्द कर दिया।

नाना ने अपने खर्च, कठिनाइयों और कम्पनी की सन्धियों को दिखाते हुए डलहौजी के पास प्रार्थना पत्र भेजा कि पेनशन न बन्द की जाय। नाना ने इग्लैण्ड के शासकों से अपील की और अपना एक योग्य वकील अजीमुल्ला खाँ को इस कार्य के लिए विलायत भेजा किन्तु वहाँ पर भी नाना के साथ किसी ने न्याय न किया।

सर जान के, चार्ल्स बाल, ट्रेवेलियन और मार्टिन, ये चारो प्रसिद्ध अँगरेज इतिहास लेखक स्वीकार करते है कि न्याय नाना के पक्ष मे था। परिणाम यह हुआ कि उसी समय से युवक नाना साहब के चित्त मे अँगरेजो की ओर घृणा उत्पन्न हो गई और वह अपने तथा अपने देश को अँगरेजों के पञ्जे से छुड़ाने के उपाय सोचने लगा।

विप्लव का पाँचवाँ मुख्य कारण :—

विप्लव का पाँचवाँ कारण था भारतवासियों को ईसाई बनाने की आंकाँक्षा और विशेष रूप से हिन्दुस्तानी सेनाओं मे अँगरेज अफसरों का ईसाई-मत प्रचार। सन् १८५७ के बहुत पहले से

अनेक बड़े-बड़े ऑगरेज नीतिज्ञों को भारतवासियों के ईसाई हो जाने मे ही अपने राज्य की स्थिरता दिखाई देती थी। ईस्ट इण्डिया कम्पनी के अध्यक्ष मिस्टर मैंगल्स ने सन् १८५७ मे पार्लिमेंट के अन्दर कहा था—

"परमात्मा ने हिन्दुस्तान का विशाल साम्राज्य इंग्लैण्ड को सौंपा है, और इसलिए सौंपा है ताकि हिन्दुस्तान के एक सिरे से दूसरे सिरे तक ईसा मसीह का विजयी झन्डा फहराने लगे। हममे से प्रत्येक को अपनी पूरी शक्ति इस काम मे लगा देनी चाहिये, ताकि समस्त भारत को ईसाई बनाने के महान् कार्य मे देश भर के अन्दर कही पर भी किसी कारण तनिक भी ढील न होने पाये।"

यह बात ब्रिटिश-भारतीय राजनीति की दृष्टि से उस समय के सब से अधिक उत्तरदायी ऑगरेज नीतिज्ञ की है। उसी समय के निकट एक दूसरे विद्वान ऑगरेज रेवरेण्ड कैनेडी ने लिखा है—"हम पर कुछ भी आपत्तियाँ क्यों न आयें, जब तक भारत मे हमारा साम्राज्य बना हुआ है तब तक हमे यह नहीं भूलना चाहिये कि हमारा मुख्य कार्य उस देश मे ईसाई मत को फैलाना है। जब तक रासकुमारी से लेकर हिमालय तक सारा हिन्दुस्तान ईसा के मत को ग्रहण न कर ले और हिन्दू तथा मुसलमान धर्मों की निन्दा न करने लगे तब तक हमे लगातार प्रयत्न करते रहना चाहिये। इस कार्य के लिए हम जितने भी प्रयत्न कर सके, हमे करने चाहिये और हमारे हाथों मे जितने अधिकार और जितनी सत्ता है उसका इसी के लिये उपयोग करना चाहिये।"

इसी तरह के और भी वाक्य उस समय के अनेक ऑगरेज नीतिज्ञों, शासकों और विद्वानों के उद्धृत किये जा सकते हैं।

यही विचार लार्ड मैकाले के लेखों मे पाया जाता है और यही एक अश तक ब्रिटिश-भारतीय शिक्षा प्रणाली के मूल में भी वर्तमान है।

कारण स्पष्ट है। अँगरेज नीतिज्ञ इस बात को भली भाँति समझते थे कि किसी जाति को अधिक समय तक पराधीन रखने के लिए उसमे किसी प्रकार का राष्ट्रीय अभिमान या अपनी श्रेष्ठता अथवा अपने प्राचीनत्व की आन का विचार नही रहने देना चाहिये और कम से कम उस समय भारतवासियों को सब से अधिक अभिमान अपने धर्म का था। धर्म ही उनकी मुख्य आन थी। इसीलिए भारतवासियो को धर्म-च्युत कर देना उनके राष्ट्रीय अभिमान और उमगों को एक दीर्घ काल के लिए अस्त कर देना था। अनन्त काल तक उन्हे विदेशी राज्य के भक्त और उसकी विनीत प्रजा बनाये रखने का यही सब से अच्छा उपाय हो सकता था।

मद्रास के गवर्नर की हैसियत से लार्ड विलियम बेण्टिङ्क ने जिस प्रकार अपने प्रान्त और विशेषकर वहाँ की सेना के अन्दर ईसाई-मत-प्रचार को सहायता और उत्तेजना दी, उसी का परिणाम सन् १८०६ की बेलोर के सिपाहियों का विद्रोह था, जिसका कि वर्णन हम पहले कर चुके है। गवर्नर जनरल होने के बाद भी लार्ड बेण्टिङ्क की यह नीति इसी प्रकार चलती रही। सन् १८३२ मे एक नया कानून पास किया गया जिसका अभिप्राय यह था कि जो भारतवासी ईसाई हो जायँ, उनका अपनी पैतृक सम्पत्ति पर पूर्ववत् अधिकार बना रहे।

अँगरेजी-राज्य के स्थापित होने के साथ-साथ असख्य प्राचीन मन्दिरों और मस्जिदों की माफी की जागीरे छिन गईं। कैदियों

के लिए जेलखाने मे अपने धर्म का पालन करना असम्भव कर दिया गया। लार्ड डलहौजी ने भारतवासियों को गोद लेने की प्राचीन धार्मिक प्रथा को नाजायज करार दिया, और भी इसी तरह के अनेक कार्य किये गये जो भारतवासियों के धार्मिक नियमों और उनके धार्मिक रस्म रिवाज के स्पष्ट विरुद्ध थे।

स्वयं लार्ड कैनिंग ने लाखों रुपये ईसाई-मत के प्रचारकों में वितरण किये। भारतीय खजाने से पादरी विशपों को ऊँचे ऊँचे वेतन मिलने लगे। दफ्तरों के अन्दर अनेक अँगरेज अफसर अपने भारतीय मातहतों पर ईसाई होने के लिये अपना दबाव डालने लगे। अनेक अँगरेज ईसाई पादरी अपनी वक्तृताओं और पत्रिकाओं मे हिन्दू और मुसलमान धर्मों की घोर निन्दा करने लगे और दोनों धर्मों के पूज्य पुरुषों के लिये अनुचित शब्दों का प्रयोग करने लगे। २२ मार्च सन् १८३२ को पार्लिमेंट की सिलेक्ट कमेटी के सामने गवाही देते हुए कप्तान टी० मैकेन ने ऐसा बयान किया था—

"×××बहुत से योग्य भारतीय मुसलमानों ने मुझसे बयान किया है कि गवर्नमेंट ईसाई पादरियों के साथ बड़ी रियायते करती है और ये पादरी लोग उनके धार्मिक रिवाजों को गलियों तक मे निन्दा करने मे हद को पहुँच जाते है। इनमे से एक पादरी हिन्दू-मुसलमान जनता को व्याख्यान देते हुए कह रहा था—"तुम लोग मुहम्मद के जरिये अपने पापों की माफी की आशा करते हो, किन्तु मुहम्मद इस समय दोजख मे है और यदि तुम लोग मुहम्मद के उसूलों पर विश्वास करते रहोगे तो तुम सब भी दोजख जाओगे।" ईसाई पादरियों के

विरुद्ध इस तरह की शिकायतें उन दिनों प्रायः सभी स्थानों में हुआ करती थीं।

सन् १८४९ में पजाब पर कम्पनी का अधिकार हुआ। उसके बाद पंजाब को एक आदर्श ईसाई प्रान्त बनाने के लिए विशेष प्रयत्न किये गये। सर हेनरी लारेन्स, सर जान लारेन्स, सर राबर्ट माण्ट गूमरी, डानेल्ड मेकलिग्राड, कर्नल एडवर्डस इत्यादि पञ्जाब के प्रसिद्ध अँगरेज शासक सब उसी राय के थे। इनमें से अनेक की यह राय थी कि पञ्जाब मे शिक्षा का सारा कार्य ईसाई पादरियों के हाथों मे दे दिया जाय। सरकार की ओर से ईसाई मदरसों को धन की पूरी सहायता दी जाय और अँगरेज सरकार अपने स्कूल बन्द कर दे।

गवर्नर जनरल लार्ड डलहौजी और कम्पनी के डाइरेक्टर भी इन लोगों की राय से सहमत थे। इनमे से कुछ की राय यह भी थी कि सरकारी स्कूलो और कालेजों मे इञ्जील और ईसाई मत की शिक्षा दी जाया करे। अँगरेज सरकार हिन्दू धर्म और इस्लाम को किसी तरह की सहायता, उत्तेजना या स्वीकृति न दे। किसी सरकारी महकमे में किसी भी हिन्दू या मुसलमान त्योहार की छुट्टी न दी जाय। अपने न्यायालयों मे अँगरेज सरकार हिन्दू या मुस्लिम धर्मशास्त्रों और धार्मिक रिवाजो को कोई स्थान न दे। हिन्दुओं या मुसलमान के धार्मिक कीर्तन बन्द कर दिये जायँ।

किन्तु भारत की विचित्र परिस्थितियों मे उस समय के शासकों की यह नीति इस खुले रूप मे देर तक न चल सकी। कुछ भी हो, ईसाई धर्म-प्रचार के पक्ष मे निरन्तर प्रयत्न होते रहे धीरे-धीरे इन धर्मोन्मत्त शासकों का ध्यान हिन्दुस्तानी सिपाहियों

की ओर गया। इतिहास-लेखक नालेन लिखता है कि अँगरेज सरकार सिपाहियों के धार्मिक भावों की अवहेलना करने लगी और बात-बात में उनके धार्मिक नियमों आदि का उल्लंघन किया जाने लगा। यहाँ तक कि कम्पनी की सेना के अनेक अँगरेज अफसर खुले तौर पर अपने सिपाहियों का धर्म-परिवर्तन करने के काम मे लग गये।

बंगाल के पैदल सेना के एक अँगरेज कमाण्डर ने अपनी सरकारी रिपोर्ट मे लिखा है कि "मै लगातार २८ वर्ष से भारतीय सिपाहियो को ईसाई बनाने की नीति पर अमल करता रहा हूँ और गैर ईसाइयों की आत्माओं को शैतान से बचाना मेरे फौजी कर्तव्य का एक अंग रहा है।"

'काज़ेज़ आफ दी इण्डियन रिवोल्ट' नामक पत्रिका का भारतीय रचयिता लिखता है—"सन् १८५७ के आरम्भ मे हिन्दुस्तानी सेना के बहुत से कर्नल सेना को ईसाई बनाने के अत्यन्त घोर तथा दुष्कर कार्य मे लगे हुए पाये गये। उसके बाद यह बता चला कि इन जोशीले अफसरों मे से अनेक ××× न रोजी के ख्याल से फौज मे भर्ती हुए थे, न इसलिए भर्ती हुए थे कि फौज का कार्य उनकी प्रकृति के अत्यन्त अनुकूल था, बल्कि उनका केवल मात्र और एकमात्र उद्देश्य यही था कि इस जरिये से लोगों को ईसाई बानया जाय। फौज को उन्होंने खास तौर पर इसलिए चुना, क्योंकि शान्ति के दिनों मे फौज के अन्दर सिपाहियों और अफसरों दोनो को हद दर्जे की फुर्सत रहती है और वहाँ पर बिना खर्च परिश्रम इत्यादि के या बिना गाँव-गाँव भटकने के हर तरफ बहुत बड़ी संख्या में गैर ईसाई मिल सकते है।"

"× × इन लोगों ने हिन्दू और मुसलमान अफसरों और सिपाहियों मे प्रचार करना और उनमे ईसाई पुस्तकों के अनुवाद और पत्रिकाएँ बाँटना शुरू किया। शुरू मे सिपाहियों ने कभी घृणा के साथ और कभी उदासीनता के साथ यह सब सहन किया। किन्तु जब इन लोगो का कार्य बराबर चलता रहा, जब इनके ईसाई बनाने के प्रयत्न दिन-प्रतिदिन अधिक से अधिक गहरे और कष्ट पहुँचाने वाले होते गये, तब दोनो धर्मों के सिपाही चौंक उठे। × × इस अर्से मे ये विचित्र अफसर जिन्हे 'मिशनरी कर्नल' और 'पादरी लेफ्टेनेण्ड' कहा जाने लगा था, चुप न बैठे। सिपाहियों की सहनशीलता से इनका साहस और बढ़ गया और वे पहले की अपेक्षा और अधिक जोश दिखलाने लगे। हिन्दू-धर्म और इस्लाम की वह पहले से अधिक जोरदार शब्दों मे निन्दा करने लगे। पहले से अधिक जोश के साथ वे इन अविश्वासी लोगो पर जोर देने लगे कि अपने तैंतीस करोड़ कुरूप देवी-देवताओ को छोड़ कर उनकी जगह एक सच्चे परमात्मा की, उसके बेटे ईसा के रूप मे पूजा करो। मुहम्मद और राम को अभी तक वे केवल ऐसे-वैसे मनुष्य कहा करते थे अब वे उन्हे बड़े दगाबाज और पक्के धूर्त बतलाने लगे।"

"× × धीरे-धीरे इन धर्म-प्रचारक कर्नलों ने सिपाहियों को रिश्वतें दे-देकर उन्हे ईसाई बनाना शुरू किया और ईसाई बननेवालों को तरक्की तथा दूसरे इनामो का भी लालच दिया। इस नापाक काम मे उन्होंने निर्लज्जता के साथ अपने अफसरी के प्रभाव का उपयोग किया। सिपाहियों ने आपत्ति की, उनके यूरोपियन अफसरों ने वादा किया कि हर

सिपाही को, जो अपना धर्म छोड़ देगा, हवलदार बना दिया जायगा। हर हवलदार को सूबेदार मेजर बना दिया जायगा, इत्यादि। इसका परिणाम यह हुआ कि भारतीय सिपाहियों में बहुत बड़ा असन्तोष फैलने लगा।”

विप्लव के ठीक बाद पूर्वोक्त पत्रिका लन्दन से प्रकाशित हुई। इसके बाद भारतीय क्रान्ति और उसके कारणों के ऊपर असंख्य पुस्तकें, पत्रिकाएँ और लेख इंग्लैण्ड और भारत मे प्रकाशित हुए किन्तु किसी लेखक को भी पूर्वोक्त पत्रिका के गम्भीर दोषारोपण को असत्य कहने का साहस न हो सका।

इसी पत्रिका का अँगरेज सम्पादक मैलकम लुइन, जो मद्रास सुप्रीम कोर्ट का जज और मद्रास कौन्सिल का सदस्य रह चुका था, अपने अनुभव से भारतवासियों के साथ उस समय के अँगरेज शासकों के, बर्ताव का वर्णन करते हुए भूमिका मे लिखता है—“समाज के सदस्यो की हैसियत से हम दोनो अर्थात् अँगरेज और हिन्दुस्तानी एक दूसरे से अनभिज्ञ हैं। हमारा एक दूसरे से वही सम्बन्ध है जो कि मालिकों और गुलामों मे होता है। हमने हर एक ऐसी चीज पर अपना अधिकार जमा लिया है जिससे कि देशवासियों का जीवन सुखमय हो सकता था। प्रत्येक ऐसी वस्तु जो कि देशवासियो को समाज से उभार सकती थी या मनुष्य की हैसियत से उन्हे ऊँचा कर सकती थी, हमने उनसे छीन ली है। हमने उन्हे जाति-भ्रष्ट कर दिया है। उनके उत्तराधिकार के नियमों को हमने रद्द कर दिया है। उनकी विवाह की सस्थाओं को हमने बदल दिया है उनके धर्म के पवित्रतम रिवाजों की हमने अवहेलना की है। उनके मन्दिरों की जायदादें हमने जब्त कर की है। अपने

सरकारी उल्लेखों मे हमने उन्हे काफिर कहकर कलङ्कित किया है। उनके देशी नरेशों के राज्य हमने छीन लिये है और उनके अमीरो और रईसो की जायदादे जब्त कर ली है। अपनी लूट-खसोट से हमने देश को बर्बाद कर दिया है, और लोगो को सता-सता कर उनसे मालगुजारी वसूल की है। हमने संसार के सबसे प्राचीन उच्च कुलों को निर्मूल कर देने और उन्हें गिराकर पैरिया बना देने का प्रयत्न किया है।"

इसके बाद भारतवासियो को ईसाई बनाने के प्रयत्न के अनौचित्य और भारतीय धर्म और भारतीय सभ्यता की श्रेष्ठता का वर्णन करते हुए मैलकम लुइन लिखता है—

"× × नही, यदि वृक्ष की परख उसके फूलों से की जाती है, यदि इंग्लैण्ड और भारत के अलग-अलग सदाचारों को वहाँ के धर्म की कसौटी मान लिया जाय, तो भारत का मस्तक उस तुलना मे ऊँचा रहेगा।"

इन सब प्रसगों से यह प्रमाणित है कि अपने भारतीय सिपाहियो के साथ कम्पनी और कम्पनी के अफसरों का साधारण व्यवहार भी बहुत अच्छा न था। सामान, वेतन, रहने के मकान इत्यादि के विषय मे सिपाहियो की ओर से अनेक शिकायते बार-बार की जा चुकी थीं। किन्तु उन पर यथोचित ध्यान कभी न दिया गया था। परिणाम यह हुआ कि हिन्दुस्तानी सिपाहियों के दिल अँगरेज की ओर से भीतर ही भीतर असन्तोष और क्रोध से भर गये। सन् १८५७ के महान् विप्लव का यह पाँचवाँ और एक तरह सबसे अधिक जबर्दस्त कारण था।

———

विप्लव की योजनाएँ

पूर्वोक्त पाँचों कारणों ने मिलकर समस्त भारत के अन्दर अँगरेजी-राज्य के विरुद्ध प्रत्येक श्रेणी के लोगों मे जबर्दस्त स्फोटक सामग्री जमा कर रखी थी। केवल किसी ऐसे योग्य नेता की आवश्यकता थी जो इस सामग्री से लाभ उठाकर समस्त देश को स्वाधीनता के एक महान् सग्राम के लिये तैयार कर सके और सौ वर्ष से जमे हुए विदेशी शासन को उखाड़ फेंक सके, या कोई अकस्मात् चिनगारी इस मामले पर पड़कर देश मे एक भयकर आग लगा दे, परिणाम, फिर चाहे कुछ भी क्यों न हो।

इसीलिए यह कहना पड़ता है कि सन् १८५७ का महान् विप्लव वास्तव मे भारत के हिन्दू और मुसलमान नरेशों और भारतीय जनता की ओर से देश को विदेशियों की राजनैतिक अधीनता से मुक्त कराने का एक महान् और व्यापक प्रयत्न था। लन्दन 'टाइम्स' का विशेष प्रतिनिधि सर विलियम हावर्ड रसल, जो सन् १८५७ के महान् विप्लव के समय भारत मे मौजूद था, उस विप्लव के सम्बन्ध मे लिखता है—

"वह ऐसा युद्ध था जिसमे लोग अपने धर्म के नाम पर, अपनी कौम के नाम पर, बदला लेने के लिये और अपनी आशाओं को पूरा करने के लिए उठे थे। उस युद्ध मे समस्त राष्ट्र ने अपने ऊपर से विदेशियों के जुए को फेंक कर उसकी जगह देशी नरेशो की पूर्ण सत्ता और देशी धर्मों का पूर्ण अधिकार फिर से स्थापित करने का संकल्प कर लिया था।"

इस राष्ट्रीय प्रयत्न की तह मे उतनी ही गहरी योजना और उतना ही व्यापक और गुप्त सगठन भी था। जहाँ तक मालूम हो सकता है, इस विशाल योजना का सूत्रपात दोनों मे से किसी एक स्थान पर हुआ--कानपुर के निकट बिठूर मे या इग्लैण्ड की राजधानी लन्दन मे।

अन्तिम पेशवा बाजीराव का दत्तक पुत्र नाना साहब धुन्धपत विप्लव के मुख्यतम नेताओ मे से था। यह पहले ही बताया जा चुका है कि नाना साहब ने अपनी पेनशन के विपय मे अपील करने के लिए अजीमुल्ला खाँ को इंग्लैण्ड भेजा था। यह अजीमुल्ला नाना का विश्वस्त सलाहकार और विप्लव का दूसरा मुख्य नेता था। अजीमुल्ला अत्यन्त योग्य नीतिज्ञ था। अँगरेजी और फ्रान्सीसी दोनो भापाओं का वह पूर्ण पडित था। विलायत मे वह हिन्दुस्तानी वेश मे ही रहता था। देखने मे वह अत्यन्त सुन्दर था। लन्दन के उच्च समाज के लोगो मे उसका आचार-व्यवहार इतना आकर्पक रहा कि लिखा है, उच्चतम श्रेणी के अँगरेजी समाज की अनेक स्त्रियाँ उस पर मुग्ध हो गईं। फिर भी अजीमुल्ला को अपने मुख्य उद्देश्य मे सफलता प्राप्त न हो सकी अर्थात् नाना की पेनशन के विषय मे इग्लैण्ड के नीतिज्ञों या शासको ने उसकी एक न सुनी।

ठीक उन्हीं दिनों सतारा के पदच्युत राजा की ओर से अपील करने के लिए रंगो बापूजी नामक एक मराठा नीतिज्ञ भी इंग्लैण्ड गया हुआ था। रंगो बापूजी को भी अपने कार्य मे सफलता न हो सकी। लन्दन मे अजीमुल्ला और रंगो बापू जी को भेट हुई। सम्भव है कि सन् १८५७ के विप्लव की योजना का सूत्रपात भारत से अजीमुल्ला के चलने से पहले बिठूर ही मे

हो चुका हो, किन्तु इसमे सन्देह नहीं कि रंगो बापू जी और अजीमुल्ला खाँ ने लन्दन के कमरों मे बैठकर बहुत अंश तक इस राष्ट्रीय योजना को रंग और रूप दिया। उसके बाद रंगो बापू जी दक्खिन के नरेशों को इस योजना के पक्ष मे करने के उद्देश्य से सतारा वापस आया और चतुर अजीमुल्ला खाँ यूरोप के अन्दर अँगरेजों के बल और स्थिति को समझने के लिए और भारत के भावी स्वाधीनता सग्राम मे अन्य राष्ट्रों की सहायता या सहानुभूति प्राप्त करने के लिये यूरोप के विविध देशों मे भ्रमण करने लगा।

अन्य देशो मे होते हुए अजीमुल्ला खाँ टर्की की राजधानी कुस्तुनतुनिया पहुँचा। उन दिनो रूस और इग्लैण्ड के बीच युद्ध हो रहा था। अजीमुल्ला खाँ ने सुना कि हाल मे सेबस्तेपोल की लड़ाई मे रूस ने अगरेजो को हरा दिया है। अजीमुल्ला खाँ रूस भी पहुँच गया। कई अँगरेज इतिहास लेखकों ने यह शङ्का प्रकट की है कि अजीमुल्ला खाँ नाना साहब की ओर से अँगरेजों के विरुद्ध रूस से सन्धि करने के लिए रूस गया था। रूस मे प्रसिद्ध अँगरेज विद्वान रसल के साथ, जो लन्दन के अखबार 'टाइम्स' का सम्वाददाता था, अजीमुल्ला खाँ की मुलाकात हुई। एक दिन रसल के साथ बैठकर अजीमुल्ला खाँ बड़े शौक के साथ दिन भर अँगरेजो और रूसियो की लड़ाई देखता रहा। रसल ने लिखा है कि रूसी तोप का एक गोला अजीमुल्ला के ठीक पैर के पास आकर फूटा, किन्तु अजीमुल्ला अपनी जगह से बाल भर भी न हिला। मालूम नही कि रूस के बाद अजीमुल्ला और कहाँ-कहाँ गया। किन्तु इसमे सन्देह नही कि अजीमुल्ला खाँ ने इटली, रूस, टर्की और मिश्र

इत्यादि देशो की सहानुभूति अपने भावी स्वाधीनता युद्ध की ओर करने का प्रयत्न किया। लार्ड राबर्टस् ने अपनी पुस्तक 'फार्टी इयर्स-इन-इण्डिया' मे लिखा है कि—"उसने अजीमुल्ला के कई पत्र इस सम्बन्ध मे टर्की के सुलतान और उमर पाशा के नाम देखे, जिनमे भारत के अन्दर अँगरेजों के अत्याचारों का वर्णन था।"

कह नही सकते कि अजीमुल्ला खाँ को अपने इन सब प्रयत्नों मे कहाँ तक सफलता प्राप्त हुई किन्तु दो बाते ध्यान मे रखने योग्य है। एक यह कि विप्लव के दिनो मे भारत के अन्दर यह एक आम अफवाह उड़ी थी कि नाना साहब ने अँगरेजो के विरुद्ध रूस के जार के साथ कुछ सन्धि कर ली है। दूसरी यह कि जिन दिनों भारत मे विप्लव हो रहा था उन दिनो इटली का प्रसिद्ध देशभक्त सेनापति गैरीबाल्डी भारतवासियो की सहायता के लिए अपने देश से सेना और सामान लाने की तैयारी कर रहा था। इटली की आन्तरिक कठिनाइयों, और विद्रोहो के कारण गैरीबाल्डी को जल्दी वहाँ से चलने का अवकाश न मिल सका, और जिस समय गैरीबाल्डी अपने यहाँ के जहाजों मे सेना और समान भरकर भारतीय विप्लवकारियो की सहायता के लिए अपने देश से चलने के लिए तैयार हुआ, उसी समय उसे मालूम हुआ कि भारत का विप्लव शान्त हो चुका है। गैरीबाल्डी ने बड़े दुःख के साथ अपनी सेना को जहाजों से उतार लिया।

यूरोप और एशिया के अन्य देशों मे भ्रमण करने के बाद अजीमुल्ला खाँ भारत लौटा। अब एक ओर रंगो बापूजी सतारा मे बैठा हुआ दक्खिन के नरेशों और वहाँ के लोगों को तैयार कर रहा था और दूसरी ओर अजीमुल्ला खाँ और नाना

साहब बिठूर मे बैठे हुए आगामी विप्लव के नक्शे को पूरा कर रहे थे।

विप्लव की योजना करने वालों का मुख्य विचार यह था कि भारत के समस्त हिन्दू और मुसलमान बूढ़े सम्राट् बहादुर शाह के झण्डे के नीचे मिलकर अँगरेजों को देश से बाहर निकाल दे और फिर सम्राट् ही के झण्डे के नीचे अपने देश के सुशासन का नये सिरे से प्रबन्ध करें। इसके लिए एक विशाल और गुप्त सगठन की आवश्कता थी और सगठन के बाद इस बात की भी आवश्यकता थी कि समस्त भारत में एक साथ एक ही दिन अँगरेजो के विरुद्ध विद्रोह खड़ा कर दिया जाय।

इस विशाल गुप्त सगठन की नींव मालूम होता है बिठूर ही मे रखी गई। संगठन इतना विशाल होते हुए भी इतना सम्पूर्ण, सुन्दर और शुव्यवस्थित था और उसे अंगरेजों जैसी जागरूक कौम से वर्षो इतनी अच्छी तरह गुप्त रखा गया कि इस विषय मे अनेक अँगरेज इतिहास-लेखको तक ने विप्लव के प्रवर्तकों और सचालकों की योग्यता की मुक्त-कठ से प्रशसा की है। अधिकतर अँगरेजो की ही पुस्तको से हमे इस संगठन के विषय मे जो कुछ मालूम हो सकता है, उससे पता चलता है कि सन् १८५६ से कुछ पहले नाना साहब ने बिठूर से बैठे हुए भारत भर मे चारों ओर अपने गुप्त-दूत और प्रचारक भेजने आरंभ कर दिये।

नाना के विशेष दूत दिल्ली से लेकर मैसूर तक समस्त भारतीय नरेशों के दरबारों मे पहुँचे और उसके गुप्त प्रचारक कम्पनी की समस्त देशी फौजों तथा जनता को अपनी ओर करने के लिये निकल पड़े। जो गुप्त-पत्र नाना ने इस समय भारतीय

नरेशों को लिखे उनमे उसने दिखलाया कि किस प्रकार अँगरेज एक-एक देशी रियासत को हड़प कर समस्त भारत को पराधीन करने के प्रयत्नों मे लगे हुए है। कुछ समय बाद अँगरेजों ने नाना के एक दूत को पकड़ा जो मैसूर दरबार के नाम नाना का पत्र लेकर गया था। इसी दूत से अँगरेजों को पता लगा कि इस प्रकार के कितने ही पत्र नाना अनेक नरेशों को भेज चुका था। इतिहास-लेखक सर जान के लिखता है—

"महीनों से बल्कि वर्षों से ये लोग समस्त देश के ऊपर अपने षडयन्त्रों का जाल फैला रहे थे। एक देशी दरबार से दूसरे दरबार तक विशाल भारतीय महाद्वीप के एक छोर से दूसरे छोर तक नाना साहब के दूत पत्र लेकर घूम चुके थे। इन पत्रो मे होशियारी के साथ और शायद रहस्यपूर्ण शब्दो मे भिन्न-भिन्न जातियों और भिन्न-भिन्न धर्मों के नरेशों और सरदारों को सलाह दी गई थी और उन्हे आमन्त्रित किया गया था कि आप लोग आगामी युद्ध मे भाग ले।"

इस राष्ट्रीय योजना को फूलने फलने के लिए सबसे अच्छा स्थान दिल्ली के लाल किले मे मिला जिसके कारण पहले ही बातये जा चुके है।

सम्राट बहादुरशाह, उसकी योग्य बेगम जीनत महल और उनके सलाहकारों ने देश और नाना साहब का पूरा साथ देने का निश्चय कर लिया। लिखा है कि इन विषयों मे दिल्ली के सम्राट और ईरान के शाह के बीच भी कुछ पत्र व्यवहार हुआ। दिल्ली के नगर मे भी गुप्त सभाएँ होने लगी और उपाय सोचे जाने लगे।

इसके बाद ही अवध के अँगरेजी-राज्य में मिलाये जाने का समय आया। सर जॉन के लिखता है कि इस एक घटना से नाना को बहुत बड़ी सहायता मिली। सर जॉन के इन शब्दों मे लिखता है कि :—

"अँगरेजों के इस अन्तिम राज्य-अपहरण का इतना प्रबल प्रभाव पड़ा कि लोग एक दूसरे से पूछने लगे कि अब कौन सुरक्षित रह सकता है। यदि अँगरेज सरकार ने अवध के नवाब जैसे अपने बफादार दोस्त और मददगार का राज्य छीन लिया है, जिसने कि आवश्यकता के समय अँगरेजों को मदद दी थी तो अँगरेजों के साथ वफादारी करने से क्या लाभ ? कहा जाता है कि जो राजा और नवाब उस समय तक (विप्लव मे भाग लेने से) पीछे हट रहे थे वे अब आगे बढ़ने लगे और नाना साहब को अपने पत्रों का संतोष-जनक उत्तर मिलने लगा।"

लखनऊ का निर्वासित नवाब वाजिद अलीशाह, उसका होशियार वजीर अली नकी खाँ, अवध के समस्त ताल्लुकेदार, जमीदार और वहाँ की समस्त प्रजा अब इस राष्ट्रीय विप्लव की सफलता पर अपना सर्वस्व न्यौछावर कर देने के लिए तैयार हो गई। वाजिद अलीशाह की वेगम हजरत महल और वजीर अली नकी खाँ, दोनों की गणना विप्लव के मुख्य प्रवर्तकों मे की जाती है। वजीर अली नकी खाँ, ने कलकत्ते से बैठ कर मुसलमान फकीरों और हिन्दू साधुओं के रूप मे अपने गुप्त दूत उत्तरी भारत की समस्त देशी फौजों मे भेजने आरम्भ किये और उन फौजों के भारतीय अफसरों के साथ गुप्त पत्र व्यवहार आरम्भ किया। वेगम हजरत महल ने अवध के तमाम रईसों और जनता को राष्ट्रीय विप्लव के लिए तैयार करना शुरू

किया। इतिहास-लेखक के लिखता है कि—"अली नकी खाँ के निमन्त्रण पर हजारों हिन्दू सिपाही और उनके अफसरों ने गगा-जल और मुसलमानो ने कुरान हाथ मे लेकर राष्ट्रीय सग्राम में भाग लेने और अँगरेजों को देश से बाहर निकालने की शपथ खाई।"

इस विशाल संगठन के लिए धन की कमी न थी। सहस्रों रईसों और साहुकारो ने अपनी थैलियाँ राष्ट्रीय नेताओं के चरणों पर रख दी। बैरकपुर से पेशावर तक और लखनऊ से सतारा तक हजारों राष्ट्रीय फकीर और सन्यासी घूम-घूम कर एक-एक ग्राम और एक-एक पलटन मे स्वाधीनता के युद्ध का प्रचार करने लगे। सहस्रों मौलबी सहस्रो पडित विप्लव की सफलता के लिए जगह-जगह ईश्वर से प्रार्थना करने लगे।

विप्लव के इस समय पाँच मुख्य केन्द्र थे—दिल्ली, बिठूर, लखनऊ, कलकत्ता और सतारा। इसमे सन्देह नहीं कि जिस शीघ्रता और वेग के साथ समस्त भारत और विशेषकर उत्तरी भारत मे विप्लव का प्रचार किया गया, अत्यन्त आश्चर्य-जनक था। तरीफ यह कि अँगरेजों को अन्त-समत तक इस तैयारी का कुछ भी ज्ञान न हो सका।

सन् १८५७ के इस गुप्त संगठन के विषय मे एक अँगरेज लेखक जैबक लिखता है—"जिस आश्चर्यजनक गुप्त संगठन से यह समस्त षडयन्त्र चलाया गया, जितनी दूरदर्शिता के साथ योजनाएँ की गई, जिस सावधानी के साथ इस सगठन के बिविध समूह एक दूसरे के साथ काम करते थे, एक समूह का दूसरे समूह के साथ सम्बन्ध रखने वाले लोगों का किसी को पता न चलता था, और इन लोगो को केवल इतनी ही सूचना

दी जाती थी जितनी उनके कार्य के लिए आवश्यक होती थीं, इस सब बातों का बयान कर कसना कठिन है और ये लोग एक दूसरे के साथ आश्चर्यजनक वफादारी का व्यवहार करते थे।"

इसका एक कारण यह भी था कि अधिकांश अँगरेजी थानों मे पुलिस अनेक अन्य सरकारी कर्मचारी और अँगरेजो के बावर्ची और भिश्ती तक इस राष्ट्रीय योजना मे शामिल थे, कहो कहीं अँगरेजों ने किसी प्रचारक को पकड़ भी लिया। एक अँगरेज इतिहास लेखक लिखता है कि—"एक बार मेरठ छावनी के निकट कोई फकीर ठहरा हुआ विप्लव का प्रचार कर रहा था। अँगरेजो ने उसे बाहर निकाल दिया। वह फकीर अपने हाथी पर बैठकर पास के गाँव मे चला गया और वहाँ से अपना काम करता रहा।"

इन राजनैतिक फकीरों को प्रायः सवारी के लिए हाथी और रक्षा के लिए सिपाही मिले हुए थे। यहाँ तक कि काशी, प्रयाग, और हरिद्वार मे अँगरेजी राज्य के नाश के लिए खुली प्रार्थनाएँ होने लगी और सहस्रों यात्री भावी विप्लव मे भाग लेने का सकल्प उठाने लगे। तमाशों, पवाड़ों, लावनियों, कठपुतलियों, नाटकों आदि से भी विप्लव के सचालकों ने पूरा लाभ उठाया। इस प्रकार का व्यापक प्रचार कम या अधिक एक साल से ऊपर तक रहा।

दिल्ली दरबार के राजकवि ने एक राष्ट्रीय गान तैयार किया जो देश भर मे स्थान-स्थान पर गाया जाने लगा। धीरे-धीरे संगठन के केन्द्रों की सख्या बढ़ने लगी। इन केन्द्रों के बीच गुप्त पत्र-व्यवहार होने लगा। जगह-जगह विप्लव की घोषणा प्रकाशित होने लगी, जिनमे लोगों को देश और धर्म

के नाम पर शहीद होने के लिए आमन्त्रित किया गया। इस प्रकार की घोषणा सन् १८५७ के आरम्भ में मद्रास में भी लगी हुई पाई गई। जगह-जगह गुप्त सभाएँ होने लगीं, जनमे एक-एक समय दस-दस हजार आदमी भाग लेते थे। पत्र-व्यवहार के लिए भी गुप्त लिपियाँ तैयार हो गईं।

अन्त मे इस गुप्त संगठन के अनेक केन्द्रों को एक सूत्र मे बाँधने और देश भर मे विप्लव का दिन निश्चित करने के लिए मार्च सन् १८५७ के प्रारम्भ मे नाना साहब और अजीमुल्ला खाँ तीर्थ-यात्रा के बहाने बिठूर से निकले। नाना साहब का भाई बाला साहब भी उनके साथ था। सब से पहले ये लोग दिल्ली पहुँचे। लाल किले के दीवान खास में सम्राट बहादुरशाह, बेगम जीनतमहल और दिल्ली के मुख्य-मुख्य नेताओ के साथ इन लोगों की गुप्त मन्त्रणाएँ हुई। इसके बाद नाना अम्बाले गया। अन्य अनेक स्थानों मे चक्कर लगाने के बाद १८ अप्रैल को नाना और उसके साथी लखनऊ पहुँचे। लखनऊ मे बड़े समारोह के साथ नाना का जुलूस निकाला गया। नाना जहाँ जाता था वहाँ के अँगरेज अफसरों से मिलकर उन्हे तरह-तरह के बहाने बतला देता था और इस प्रकार अपनी ओर से निःशक कर देने के पूरे प्रयत्न करता रहता था। इसके बाद कालपी आदि होते हुए नाना अप्रैल के अन्त मे बिठूर वापस आ गया। रसल लिखता है—कि अपनी इस यात्रा मे नाना और अजीमुल्ला रास्ते की समस्त अँगरेजी छावनियों मे होते जाते थे।

विप्लव के उन सहस्रों प्रचारकों मे, जिन्होने घूम-घूम कर जनसाधारण के हृदयों को अपनी ओर किया, सबसे मुख्य नाम फैजाबाद के एक जमींदार मौलवी अहमदशाह का है।

लखनऊ और आगरे के शहरों मे दस-दस हजार आदमी मौलवी अहमदशाह का व्याख्यान सुनने के लिए जमा होते थे। हिन्दू और मुसलमान अपनी सौ वर्ष की पराधीनता की कहानी सुनकर मौलवी अहमदशाह के व्याख्यानों से यह शपथ खाकर उठते थे कि हम लोग आगामी स्वाधीनता के संग्राम मे अपने प्राणों की बाजी लगा देंगे। मौलवी अहमदशाह का विशेष वृत्तान्त आगे चलकर इसी पुस्तक मे किसी उचित स्थान पर दिया जायगा।

सन् १८५७ के अद्भुत संगठन का वर्णन समाप्त करने से पहले दो और बातों का वर्णन करना आवश्यक है। विप्लव के नेताओं ने अपने संगठन के दो मुख्य चिन्ह नियत किये थे। एक कमल का फूल और दूसरी चपाती। कमल का फूल उन समस्त पलटनों मे, जो इन संगठन मे शामिल थी, घुमाया जाता था। किसी एक पलटन का सिपाही फूल लेकर दूसरी पलटन मे जाता था। उस पलटन भर मे हाथों हाथ वह फूल सब के हाथों से निकलता था। जिसके हाथ मे वह सब से अन्त मे आता था उसका कर्तव्य होता था कि वह अपने पास की दूसरी पलटन तक उस फूल को पहुँचा दे। इसका गुप्त अर्थ यह लिया जाता था कि उस पलटन के सब सिपाही विप्लव मे भाग लेने के लिए तैयार हैं। इस प्रकार के सहस्रों कमल पेशावर से बैरकपुर तक विविध पलटनों के अन्दर घुमाये गये।

चपाती (रोटी) एक गॉव का चौकीदार दूसरे गॉव के चौकीदार के पास ले जाता था। उस चौकीदार का कर्तव्य होता था कि वह उस चपाती मे से थोड़ी सी स्वय खाकर शेष गॉव के दूसरे लोगों को खिला दे और फिर गेहूँ या दूसरे आटे की उसी तरह

की चपातियाँ बनवाकर वह अपने गांव तक पहुँचा दे। इसका अर्थ यह होता है कि उस गाँव की जनता राष्ट्रीय विप्लव मे भाग लेने के लिए तैयार है। चमत्कार सा मालूम होता है कि थोड़े महीनों के अन्दर ये अलौकिक चपातियाँ भारत जैसे विशाल देश मे इस सिरे से उस सिरे तक लाखो ग्रामों के अन्दर पहुँच गई। निस्सन्देह सिपाहियो के लिए लाल रंग का कमल और जनता के लिये रोटी, दोनों चिह्न गम्भीर और अर्थ-सूचक थे।

नाना की इस यात्रा मे ही रविवार ३१ मई सन् १८५७ का दिन समस्त भारत मे एक साथ विप्वल करने के लिए नियत कर दिया गया। किन्तु इस तिथि की सूचना प्रत्येक केन्द्र के केवल मुख्य-मुख्य नेताओ की ओर प्रत्येक पलटन के तीन-तीन अफसरों को ही दी गई। शेष कर्तव्य केवल अपने नेताओ की आज्ञा पर कार्य करना था।

विविध देशी पलटनो के बीच भी इस समय खूब पत्र व्यवहार हो रहा था। इस प्रकार के एक पत्र मे, जो अँगरेजों के हाथों मे पड़ा लिखा था—"भाइयों। हम स्वयं विदेशियों की तलवार अपने शरीर के अन्दर धोप रहे है। यदि हम खडे हो जायँ तो सफलता निश्चित है। कलकत्ते से पेशावर तक सारा मैदान हमारा होगा।" इतिहास लेखक के लिखता है कि सिपाही लोग रात को अपनी गुप्त सभाएँ किया करते थे जिनमे बोलने वालों के मुँह पर नकाब पड़ा होता था।

———

कलकत्ते के पास की घटनाएँ

ऊपर किये गये वर्णनों से पाठक स्वयं विचार कर सकते है कि १८५७ के महान विप्लव को चलाने वालों ने कितनी गुप्त और कितनी सुव्यवस्थित योजनाएँ तैयार की थी, किन्तु किसी भी विप्लव अथवा क्रान्ति को पूर्ण रूप से सफल बनाने के लिए आवश्यकता इस बात की होती है कि सभी स्थानों मे नियत समय पर और नियत उपायो से विप्लवकारी कार्य किये जायें। जनवरी सन् १८५७ मे कलकत्ते के पास दमदम नामक ग्राम मे अकस्मात् एक छोटी सी घटना हुई जिसका कुपरिणाम यह हुआ कि सन् १८५७ का विप्लव अपने सभी प्रयत्नो के सफल होते-होते सफल न हो सका।

सन् १८५३ मे एक नये ढंग के कारतूस बनाने के लिए कम्पनी की ओर से अपनी भारतीय सेना के लिये कारखाने खोले गये। इससे पहले के कारतूस सिपाहियों को हाथों से तोड़ने पड़ते थे, किन्तु नये कारतूस को दाँतो से काटना पड़ता था। आरम्भ मे केवल एक दो पलटनो मे उन्हे प्रचलित किया गया। भारतीय सिपाहियों ने अज्ञान के कारण कई जगह नये कारतूसों को दाँतों से काटना स्वीकार कर लिया। धीरे धीरे नये कारतूसों का इस्तेमाल बढ़ाया गया।

बैरकपुर के पास इन कारतूसों के बनाने के लिये एक कारखाना खोला गया। एक दिन दमदम का एक ब्राह्मण सिपाही

पानी का लोटा हाथ मे लिये बारिक की ओर जा रहा था अकस्मात मेहतर ने आकर पानी पीने के लिए सिपाही से लोटा माँगा। सिपाही ने हिन्दू प्रथा के अनुसार लोटा देने से इन्कार किया। इस पर मेहतर ने कहा, "तुम अब जात-पात का घमंड न करो। क्या तुम्हे मालूम नही कि शीघ्र ही तुम्हे अपने दाँतों से गाय का मांस और सुअर की चर्बी काटनी पड़ेगी? जो नये कारतूस बन रहे है उनमे जान-बूझकर ये दोनों चीजें लगाई जा रही है।"

ब्राह्मण सिपाही इसे सुनते ही क्रोध से भरकर छावनी मे गया। जब दूसरे सिपाहियो ने यह समाचार सुना तो वे भी क्रोध से लाल हो गये। वे सोचने लगे कि अँगरेज सरकार इस प्रकार जान-बूझकर हमे धर्म-भ्रष्ट करना चाहती है। उन्होंने अपने अँगरेज अफसरो से पूछा। अफसरों ने उन्हे स्पष्ट उत्तर दिया कि यह अफवाह बिलकुल झूठी है और नये कारतूस मे इस तरह की कोई चीज नही है। सिपाहियो को विश्वास न हुआ। उन्होंने बैरकपुर के कारखाने मे काम करने वाले छोटी जाति के हिन्दुस्तानी मजदूर से पता लगाया। उन्हे पता लगा कि वास्तव मे नये कारतूसो के अन्दर दोनों चीजें, जो हिन्दू और मुसलमान धर्मों मे निषिद्ध है, लगाई जाती है। इस प्रकार अपनी तसल्ली करने के बाद बैरकपुर के सिपाहियों ने यह खबर सारे हिन्दुस्तान मे फैला दी। लिखा है कि इसके दो महीने के अन्दर बैरकपुर से पेशावर और महाराष्ट्र तक हजारों पत्र इस विषय के भेजे गये और नये कारतूसों का समाचार बिजली के समान भारत के एक-एक हिन्दुस्तानी सिपाही के कानों तक पहुँच गया। प्रत्येक हिन्दू और मुसलमान सिपाही अब अँगरेजों से इस अन्याय का

बदला लेने के लिए बेचैन हो गया, किन्तु सिपाहियों के नेता ने उन्हे ३१ मई तक रोक रखने का हर तरह से प्रयत्न किया।

इस स्थल पर विचार करने योग्य बात यह है कि नये कारतूसो मे गाय और सुअर की चरबी का उपयोग किया जाना कहाँ तक सच था। आजकल प्रायः समस्त अँगरेज इतिहास लेखक और विशेषकर वे अँगरेज और हिन्दुस्तानी लेखक, जो सरकारी स्कूलो के लिए पाठ्य पुस्तके लिखते है, इस अफवाह को झूठा बनाते है और उस पर विश्वास करने वाले सिपाहियो को पागल कहते है।

सन् १८५७ मे गवर्नर जनरल लार्ड कैंकिंग से लेकर छोटे से छोटे अंगरेज अफसर तक सब ने गम्भीरता के साथ यह ऐलान किया और सिपाहियों को विश्वास दिलाने का प्रयत्न किया कि कारतूसो मे चरबी का किस्सा सरासर झूठा है और बदमाश लोगों ने फौज को बर्बाद करने के लिए फैलाया है। किन्तु सर जान के जो सन् १८५७ के विप्लव का सब से अधिक प्रामाणिक इतिहास लेखक माना जाता है, वह इस प्रकार लिखता है—"इसमें कोई सदेह नही कि इस चिकने मसाले के बनाने मे गाय की चरबी का उपायोग किया गया था।"

सर जान के यह भी लिखता है कि—"दिसम्बर सन् १८५३ मे कर्नल टकर ने बहुत साफ शब्दों मे इस बात को लिखा था कि नये कारतूसो मे गाय और सुअर दोनों की चरबी लगाई जाती थी।" दमदम के कारखाने में जिस ठेकेदार को कारतूसों के लिए चरबी का ठेका दिया गया था उसके ठेके के कागज मे यह साफ शब्दों मे लिखा गया था कि "मैं गाय की चरबी लाकर दूंगा।" और चरबी का भाव चार सेर रखा गया था।

लार्ड राबर्ट्स ने (जो इस विप्लव के समय भारत मे मौजूद था) लिखा है—"मिस्टर फारेस्ट ने भारत सरकार के कागजो की हाल मे जाँच की है। उस जाँच से साबित है कि कारतूसो के तैयार करने मे जिस चिकने मसाले का उपयोग किया जाता था वह मसाला वास्तव मे दोनो निषिद्ध पदार्थों अर्थात् गाय की चरबी और सुअर की चरबी को मिला कर बनाया जाता था और इन कारतूसो के बनाने मे सिपाहियो के धार्मिक भावो की ओर इतनी बेपवाही दिखाई जाती थी कि जिसका विश्वास नहीं होता।"

इस पर प्रसिद्ध इतिहास लेखक विलियम लैकी लिखता है—"यह एक लज्जाजनक और भयकर सच्चाई है कि जिस बात का सिपाहियों को विश्वास था, वह बिल्कुल सच थी।" और आगे चलकर लैकी यह भी लिखता है—"इस घटना पर फिर से दृष्टि डालते हुए अंगरेज लेखको को लज्जा के साथ स्वीकार करना चाहिए कि भारतीय सिपाहियो ने जिन बातो के कारण विद्रोह किया था, उनसे ज्यादा जबरदस्त बाते कभी किसी विद्रोह को उचित साबित करने के लिए और हो ही नही सकती।"

सिपाहियों मे इस असतोष के फैलने के थोड़े ही दिनों बाद कम्पनी सरकार की ओर से एक एलान प्रकाशित हुआ कि एक भी इस तरह का कारतूस फौज मे नही भेजा गया, किन्तु हाल ही मे साढ़े बाईस हजार कारतूस अम्बाला डिपो से और चौदह हजार कारतूस सियालकोट डीपो से अर्थात् केवल दो डिपो से साढ़े छत्तीस हजार कारतूस भारतीय फौज मे भेजे जा चुके थे। कई पलटनो मे अंगरेज अफसरो ने देशी सिपाहियो को धमकाना शुरू किया किया कि तुम्हे नये कारतूसो का उपयोग

करना पड़ेगा। एक दो जगह सिपाहियों ने जिद्द की इस पर सारी रेजिमेण्ट को कड़ी सजा दी गई।

इस प्रकार इन गाय और सुअर की चरबी से बने हुए कारतूसों ने उस समय की हिन्दुस्तानी फौज के अन्दर स्फोटक मसाले के ऊपर चिनगारी का काम किया। कोई अँगरेज इतिहास लेखक कारतूसों के मामले को ही विप्लव का एकमात्र या मुख्य कारण बतलाते हैं। इन लोगों के उत्तर में हम केवल दो तीन प्रामाणिक अँगरेज इतिहास लेखकों की ही राय नीचे उद्धृत करते हैं। जस्टिन मैक्कार्थी लिखता है—"सच यह है कि हिन्दुस्तान में उत्तरी और उत्तर-पश्चिमी प्रान्तों के अधिकांश भाग में देशी कौमें अँगरेजी सत्ता के विरुद्ध खड़ी हो गई। चरबी के कारतूसों का झगड़ा केवल इस तरह की चिनगारी थी जो अकस्मात इस समस्त स्फोटक मसाले म आ पड़ी। वह एक राष्ट्रीय और धार्मिक युद्ध था।"

एक दूसरा इतिहास लेखक मेडले लिखता है—"किन्तु वास्तव में जमीन के नीचे ही नीचे जो स्फोटक मसाला अनेक कारणों से बहुत दिनों से तैयार हो रहा था, उस पर चरबी लगे हुए कारतूसों ने केवल दियासलाई का काम किया।"

चार्ल्स बाल ने अपने विप्लव के इतिहास में लिखा है कि डिजरेली, जो बाद में इंग्लैण्ड का प्रधान मंत्री हुआ, कहा करता था कि "कोई भी मनुष्य कारतूसों को विप्लव का वास्तविक कारण नहीं मानता।"

एक इतिहास लेखक लिखता है कि "जिन कारतूसों पर भारतीय सिपाही आपत्ति करते थे, उन्हीं को उनमें से अनेक ने बेखटके विप्लव के दिनों में अँगरेजों के विरुद्ध इस्तेमाल किया।"

हम ऊपर लिख चुके हैं कि इन नये कारतूसों के कारण विप्लव नियत समय से पहले आरम्भ हो गया। सन् १८५७ के विप्लव का श्रीगणेश एक प्रकार बैरकपुर से हुआ। फरवरी सन् १८५७ मे बैरकपुर की १९ नम्बर पलटन को नये कारतूस उपयोग करने के लिए दिये गये। सिपाहियों ने उन कारतूसो का उपयोग करने से साफ इन्कार कर दिया। बगाल भर मे उस समय कोई गोरी पलटन न थी। इसलिए अँगरेज अफसरों ने तुरन्त बरमा से एक गोरी पलटन मँगाकर १९ नम्बर पलटन से हथियार रखा लेने और सिपाहियो को नौकरी से निकाल देने का इरादा कर लिया।

सिपाहियो को जब इस बात का पता चला तो उनमे से कुछ ने चुपचाप हथियार रख देने के बदले तुरन्त विद्रोह कर देने का विचार किया। उनके हिन्दुस्तानी अफसरों ने उन्हें ३१ मई तक रुके रहने की सलाह दी। किन्तु १९ नवम्बर पलटन का एक नौजवान सिपाही, जिसका नाम मगल पाण्डे था, अपने आपको न रोक सका। इसमे सदेह नही कि उसे सब तरह के समझाने का प्रयत्न किया गया। किन्तु अँगरेज अफसरों के इस अपमान जनक बर्ताव से दुःखी होकर वह तुरन्त बदला लेने के लिए अधीर हो उठा। ३१ मई तक रुकना उसके लिये असम्भव सा हो गया।

२९ मार्च सन् १८५७ को पलटन परेड के मैदान मे बुलाई गई। जिस समय पलटन आकर खड़ी हुई उस समय मगल पाडे तुरन्त अपनी भरी हुई बन्दूक लेकर सामने कूद पड़ा और चिल्लाकर शेष सिपाहियों को अँगरेजो के विरुद्ध धर्म युद्ध आरम्भ करने के लिए आमन्त्रित करने लगा।

एक अँगरेज अफसर सार्जेण्ट मेजर ह्यूसन ने जब यह देखा

तब उसने सिपाहियों को आज्ञा दी कि मगल पांडे को गिरफ्तार कर लो, किन्तु कोई सिपाही आज्ञा पालन करने के लिये आगे न बढ़ा। इतने मे मगल पांडे ने अपनी बन्दूक की गोली से तुरन्त सार्जेण्ट मेजर ह्यूसन को वही पर ढेर कर दिया। इस पर एक दूसरा अफसर लेफ्टिनेण्ट वाघ अपने घोड़े पर आगे बढ़ा।

उसका घोड़ा अभी कुछ दूर ही था कि मंगल पाडे ने एक दूसरी गोली के घोड़े और सवार दोनो को जमीन पर गिरा दिया। मगल पांडे ने तीसरी बार अपनी बन्दूक भरने का इरादा किया। लेफ्टिनेण्ट वाघ ने उठकर और आगे लपककर पाडे पर अपनी पिस्तौल चलाई, परंतु पाडे बच गया। पांडे ने अब तुरंत अपनी तलवार निकाल कर एक दूसरे अँगरेज अफसर को भी वही पर समाप्त कर दिया।

थोड़ी देर के बाद कर्नल व्हीलर ने आकर सिपाहियों को आज्ञा दी कि मगल पांडे को गिरफ्तार कर लो। सिपाहियों ने वैसा करने से इकार कर दिया। कर्नल घबड़ाकर जनरल के बँगल पर गया। जनरल ने समाचार पाकर कुछ गोरे सिपाहियो के साथ पांडे की ओर बढ़ा। यह देख कर मगल पांडे ने स्वय अपनी छाती पर गोली चलाई। वह घायल होकर गिर पड़ा और गिरफ्तार कर लिया गया।

मगल पाडे का कोर्ट मार्शल हुआ। उसे फॉसी की सजा दी गई। ८ अप्रेल का दिन फॉसी के लिए नियत किया गया किन्तु बैरकपुर भर मे कोई मेहतर तक मंगल पाडे को फांसी देने के लिए तैयार न हुआ। अन्त मे कलकत्त से चार आदमी इस काम के लिए बुलाये गये और ८ तारीख के सबेरे मंगल पाडे को फॉसी दे दी गई।

चार्ल्स बाल और रावर्ट्स दोनो लिखते है कि उसी दिन से सन् १८५७-५८ के समस्त विप्लवकारी सिपाहियों को पांडे के नाम से पुकारा जाने लगा।

कहने की आवश्यकता नहीं कि आज भी हमारे भारतीय युवक यह विश्वास करते है कि जिस दिन मगल पांडे को फाँसी दी गई उसी दिन से स्वतन्त्रता-सग्राम का आरम्भ होता है और निरन्तर उसी सग्राम मे लगे रहने के कारण ही आज हम सब भारतीय भारत से अँगरेजों को भगाने मे और स्वतन्त्रता-लाभ करने मे सफल मनोरथ से हो सके है।

यदि हमारे भारतीय युवको का ऐसा विश्वास न होता तो वे १५ अगस्त सन् १९४७ अर्थात् स्वतन्त्रता-दिवस के उपलक्ष मे अपने उस प्रथम अमर शहीद मगल प ड को स्मरण न करते, और न इस ऐतिहासिक दिवस के उत्सव को मनाने के बाद अर्थात् नवम्बर मे ही प्रयाग नगर से 'अमर कहानी' नामक पत्रिका के शहीद अक "मगल पाडे" शीर्षक जीवन कहानी को 'भारतीय क्रान्ति के इतिहास का पहला खूनी व १८५७ के गदर का प्रथम शहीद' इन शब्दो द्वारा सुशोभित करने का प्रयत्न न करते और न सफलता के साथ उस प्रथम शहीद 'मगल पांडे' की कहानी को समाप्त करके अपने को धन्य समझते।

उपर्युक्त कहानी का लेखक कोई न कोई पाडे ही रहा होगा किन्तु इस स्थल पर अनुमान करना यह पड़ता है कि जिस प्रकार कहानी का चरित-नायक देश के गौरव के लिए शहीद हो गया उसी प्रकार इस कहानी के गुप्त लेखक पाडे ने भी अपने नेक मित्र के नाम को बढ़ाने के लिए लेखकों के ससार मे शहीद होना ही उचित समझा होगा। कुछ भी हों, और चाहे कोई भी कहानी

लेखक हो किन्तु कहानी का निर्माण सुन्दर हुआ है, इसे स्वीकार कर लेना भी अपने लिए गौरव का विषय समझा रहा है।

मंगल पांडे की जीवन-कहानी के शेष भाग को इस प्रकार वर्णन किया गया है—(जब फाँसी की सजा सुना दी गई तब)। "सारी रेजीमेंट मे मातम छाया था। अनायास ही किसी ने कहा, "मगल से पूछ लिया जाय कि घर क्या संदेश भेजेगा।"

फाँसी मगल के गले मे पड़ चुकी थी, उसी समय किसी ने पूछा, "घर कुछ सन्देश भेजना है ?"

"हाँ !" मगल ने हँसते हुए कहा।

"क्या ?"

"घर को नही, देश को भेजना है।"

मगल की आँखे लाल हो गई आवेश मे बोला, "देश को मेरा खून देना और कहना तुम्हे इसकी सोगन्ध है कि जब तक इन विदेशियों से इस अपमान का बदला न ले लेना, तुम चैन से न बैठना। मरना है तो इन्सानों की मौत मरो, कुत्तों की तरह जजीरे घसीट कर नही।"

रूमाल हिला और तख्ता हट गया।

मंगल पाण्डे की फाँसी के बाद

जब मंगल पांडे को फॉसी हो गई तब अँगरेजों को विदित हुआ कि १९ नम्बर और ३४ नम्बर की देशी पलटनें विप्लव के लिए गुप्त मन्त्रणाएँ कर रही हैं। ऐसा विदित होते ही तुरन्त इन दोनो पलटनों से हथियार रखा कर सिपाहियों को बरखास्त कर दिया गया। पलटन नम्बर ३४ के सूबेदार को इस अपराध मे कि उसके यहाॅ गुप्त मत्रणाएँ हुआ करती थीं, फॉसी दे दी गई। फिर भी इन दोनो पलटनों के नेताओ ने विप्लव के सचालकों के आदेश का ध्यान रखते हुए ३१ मई से पहले विप्लव की कोई कार्रवाई नही की।

यह समाचार भी समस्त उत्तरी भारत मे बड़ी ही शीघ्रता के साथ फैल गया। यह बात पहले ही निश्चित हो चुकी थी कि विप्लव के कार्य आरम्भ करने से पहले हर एक जगह अॅगरेजों के बॅगलों और बागिचो मे आग लगा दी जाय। अप्रैल के महीने मे लखनऊ, मेरठ और अम्बाले मे अॅगरेजों के मकान जला दिये गये। अफसरो ने इन आकस्मिक घटनाओं के अपराधियों का पता लगाने का भरसक प्रयत्न किया। किन्तु पुलिस भी विप्लव-कारियों के साथ मिली हुई थी, इसलिए उन अपराधियों का कुछ भी पता न चला।

इसके बाद मई का महीना आया। ६ मई सन् १८५७ को मेरठ मे बतौर परीक्षा के ९० हिन्दुस्तानी सवारों की एक कम्पनी

को चर्बी लगे हुए नये कारतूस दिये गये। उन कारतूसों को दाँतों से काटने के लिए सवारों से यह कहा गया। ९० सवारों से ८५ सवारों ने साफ इन्कार कर दिया। उन सभी सवारों का कोर्ट मार्शल हुआ। आज्ञा उल्लघल करने के अपराध मे उन सबको आठ-आठ और दस-दस वर्ष की सख्त कैद की सजा दी गई। ९ मई को सबेरे उन ८५ सवारों को परेड पर लाकट खड़ा किया गया। उनके सामने गोरी फौज और तोपखाना था। छावनी के शेष समस्त हिन्दुस्तानी सिपाहियों को भी यह दृश्य दिखाने के लिए परेड पर बुला लिया गया। ८५ अपराधी सवारों से उनकी वर्दियाँ उतरवा ली गईं और वहीं परेड पर खड़े-खड़े उनके हाथों मे हथकड़ियाँ और पैरों मे बेड़ियाँ डाल दी गईं। उन सब सवारों से कहा गया कि तुम सबों को दस-दस वर्ष की सख्त कैद की सजा दी गई है। इसके बाद पैरों मे बेड़ियाँ डाले हुए उन सब हिन्दुस्तानी सवारो को बड़ी निर्दयता के साथ जेलखाने भेज दिया गया। उनके साथ के सहस्रों हिन्दुस्तानी सिपाही जो उन्हे सब तरह से निपराध समझते थे, भीतर ही भीतर दुःख और क्रोध से अधीर हो उठे किन्तु उन्हे अभी तीन सप्ताह और शान्त रहने की आज्ञा थी। वे सब हिन्दुस्तानी वीर सिपाही अपने क्रोध को पीकर अपने-अपने बारिगों की ओर वापस चले गये।

यह सब घटना सबेरे की थी। सन्ध्या के समय मेरठ छावनी के ये हिन्दुस्तानी सिपाही शहर घूमने के लिए गये। कहा जाता है कि मेरठ की स्त्रियों ने स्थान-स्थान पर उन्हे यह कह कह कर लांछना दी—"छिः! तुम्हारे भाई जेलखाने मे हैं और तुम यहाँ बाज़ार मे मक्खियाँ मार रहे हो। तुम सब सिपाहियों के

पुरुषार्थ और जीवन को बार-बार धिक्कार है।" सिपाहियों ने अभी तक काफी धीरज से काम लिया था। अब मेरठ की स्त्रियों के शब्द उनके दिलों मे रह-रह कर चुभने लगे। रात को बारिगों मे फिर गुप्त सभाएँ हुई। उन सभाओ मे यह निश्चित हुआ कि २१ मई तक चुप बैठना असंभव है।

९ मई की रात को ही सिपाहियों ने दिल्ली के नेताओं को यह समाचार भेज दिया कि हम लोग कल या परसों तक दिल्ली अवश्य पहुँच जायँगे। आप लोग भी दिल्ली मे सब तरह से तैयार रहे। दूसरे दिन १० मई को इतवार था मेरठ शहर के अन्दर नगर निवासी तथा सहस्रों सशस्त्र ग्रामों के निवासी बाहर से आ-आकर एकत्रित होने लगे थे। उधर छावनी मे जोरों की तैयारी हो रही थी।

सब से पहले कुछ सवार जेलखाने की ओर बढ़े। चूँकि जेलर भी विप्लवकारियों के साथ मिले हुए थे इसलिए जेलखाने मे पहुँच कर उन सबों ने जेलखाने की दीवारों को ही गिरा दिया। फिर क्या था उन समस्त कैदियों की बेड़ियाँ तुरन्त काट दी गई। हिन्दू और मुसलमान, पैदल सवार और तोपखाने के समस्त सिपाही इधर-उधर मेरठ के तमाम अँगरेजों को मौत के घाट उतारने के लिए दौड़ पड़े। अनेक अँगरेज मारे गये। बगलों दफ्तरों और होटलों मे आग लगा दी गई। 'दीन! दीन! हर हर महादेव! और 'मारो फिरगी को!' इस तरह की आवाजे शहर और छावनी के चारों ओर गूँजने लगी। निश्चित योजना के अनुसार तार काट दिये गये और रेलवे लाइन पर विप्लवकारियों का पहरा बैठ गया। जो अँगरेज किसी प्रकार बच गए, उनमे से कुछ अस्तबलों और नालियों मे जाकर छिप गये और शेष

ने हिन्दुस्तानी नौकरों के घरों मे भाग कर आश्रय लिया। चूँकि शहर और छावनी दोनों ही स्थानों मे विद्रोह की आग लग चुकी थी इसलिये जो थोड़ी सी सेना अँगरेजो की मेरठ मे मौजूद थी, वह भी भयभीत हो जाने के कारण उस समय अपने कर्त्तव्य को निश्चित न कर सकी। परिणाम यह हुआ कि अनेक अँगरेज, स्त्रियाँ और बच्चे बंगलों के अन्दर जल-जल कर परलोक को सिधार गये। इसके बाद १० तारीख की रात को ही मेरठ के समस्त सैनिक दिल्ली की ओर रवाना हो गये। उस समय अँगरेजों के पास कोई भी ऐसी शक्ति न थी जो उन्हे दिल्ली जाने से रोक लेती।

मालसन, ह्वाइट और विलसन नाम के ये तीनों इतिहास लेखक यह स्वीकार करते है कि मेरठ मे निश्चित समय से पहले ही विप्लवकारियों द्वारा विद्रोह का प्रारम्भ हो जाना अँगरेजों के लिए बरकत और भारत के विप्लवकारियों के लिए हानि पहुँचानेवाला साबित हुआ। मालसन स्पष्ट लिखता है कि यदि पूर्व निश्चय के अनुसार एक ही साथ और एक ही तारीख को समस्त भारत मे स्वाधीनता का संग्राम हुआ होता, तो यह निश्चित था कि भारत मे एक अँगरेज जिन्दा न बचता और उसी समय भारत मे अँगरेजी-राज्य का अन्त हो गया होता।

जे० सी० विलसन लिखता है कि "वास्तव मे मेरठ शहर की स्त्रियों ने वहाँ के सिपाहियों को समय से पहले भड़का कर अँगरेजी-राज्य को नष्ट होने से बचा लिया। फिर भी मेरठ मे विद्रोह का आरम्भ होते ही भारत मे एक किनारे से लेकर दूसरे किनारे तक एक भयानक और प्रचण्ड आग भड़क उठी।"

हजार सशस्त्र हिन्दुस्तानी सवार मेरठ से चलकर ११ मई को आठ बजे सबेरे दिल्ली पहुँच गये।

दिल्ली के नेताओं को उनके आने का पहले पता था किन्तु अँगरेजो को इसका गुमान तक न था। दिल्ली मे कम्पनी की फौज का अँगरेज अफसर कर्नल रिप्ले समाचार को पाते ही ५४ नम्बर की देशी पलटन को जमा करके मेरठ के विद्रोहियो का सामना करने के लिए बढ़ा। आमना-सामना होते ही जिस समय मेरठ के सवारों ने 'अँगरेजी-राज की क्षय' और 'सम्राट बहादुरशाह की जय !' ऐसे नारे लगाये, उस समय दिल्ली के सिपाही बजाय तुरन्त हमला करने के, आगे बढ़कर अपने मेरठ के सिपाही भाइयों के साथ गले मिलने लगे। कर्नल रिप्ले घबड़ा गया और तुरत वही पर मार डाला गया। दिल्ली की सेना के सब अँगरेज अफसर मार डाले गये। संयुक्त सेना ने काश्मीरी दरवाजे से दिल्ली मे प्रवेश किया। दरियागञ्ज के तमाम अँगरेजी बँगले जला दिये गये। दिल्ली के किले पर तुरंत विप्लवकारियों का अधिकार हो गया। सम्राट बहादुरशाह और बेगम जीनतमहल ने सोचा कि अब ३१ मई तक ठहरे रहना मूर्खता होगी।

इतने मे मेरठ की पैदल सेना और तोपखाना भी दिल्ली पहुँच गया। मेरठ के तोपखाने ने लाल किले मे प्रवेश करते ही सम्राट बहादुरशाह के नाम पर २१ तोपों की सलामी दी। चार्ल्स बाल लिखता है कि सेना के भारतीय अफसरो ने सम्राट बहादुरशाह को जाकर सलाम किया और मेरठ का समाचार कह सुनाया। इन अफसरों मे हिन्दू और मुसलमान दोनो शामिल थे। मेटकाफ लिखता है कि सम्राट ने उन सबो से कहा कि मेरे पास कोई खजाना नही है मै आप लोगों की तनखाहे

कहाँ से दूँगा ? इस पर सिपाहियों ने उत्तर दिया—"हम लोग हिन्दुस्तान भर के अँगरेजी खजाने ला-लाकर आपके कदमों पर डाल देंगे।" बूढ़े सम्राट ने स्वाधीनता के संग्राम का नेतृत्व स्वीकार कर लिया और समस्त किला सम्राट की जय-ध्वनि से गूँज उठा। दिल्ली के सहस्रों नगर-निवासी विप्लवकारियों के साथ मिल गये। जो अँगरेज जिसे जिस स्थान पर मिला उसने उसे उसी स्थान पर मार डाला। लिखा है कि जिस समय मेरठ की फौज दिल्ली पहुँची उस समय दिल्ली के सहस्रों मुसलमान उनके चारों ओर से इकट्ठे हो गये और दिल्ली के हिन्दू-निवासी स्थान-स्थान पर अपनी कुटियों मे मेरठ से आये हुए हुए सिपाहियों को ओलों और बताशों का शर्बत पिलाने लगे। दिल्ली का अँगरेजी बैंक अधिकार मे कर लिया गया और अँगरेजी इमारतों को मिट्टी मे मिला दिया गया।

दिल्ली के अन्दर उस समय कोई भी गोरी पलटन न थी। किले के पास अँगरेजों का एक बहुत बड़ा मैगजीन था, जिसमे लगभग नौ लाख कारतूस, दस हजार बन्दूक और बहुत सा गोला बारूद था। लेफ्टिनेण्ट विलोबी को सन्देशा भेजा कि मैगजीन हमारे हवाले कर दो। विलोबी ने इन्कार किया। मैगजीन के अन्दर नौ अँगरेज और कुछ हिन्दुस्तानी थे। हिन्दुस्तानियों ने जब लाल किले के ऊपर सम्राट बहादुरशाह का हरा और सुनहला झण्डा फहराते हुए देखा, तब वे अपने सिपाही भाइयों से आ मिले। यह हरा झण्डा ही सन् १८५७-५८ के विप्लव मे समस्त भारत के अन्दर विप्लवकारियों के युद्ध का झंडा था। नौ अँगरेजों ने कुछ देर वीरता के साथ शत्रुओं का सामना किया। अन्त मे मैगजीन को बचा सकना असम्भव देख, उन्होंने उसमे आग लगा

दी। लिखा है कि मैगजीन के उड़ने पर एक हजार तोपों के साथ छूटने का सा शब्द हुआ, जिससे समस्त दिल्ली के मकान हिल गये। नौ अँगरेज वीर भी उसी आग के भीतर समाप्त हो गये; और उसी के साथ २५ हिन्दुनानी और आसपास की गलियों मे लगभग ३०० और नगर निवासी खंड-खड होकर उड़ गये समस्त बन्दूक विप्लवकारियों के हाथ आ गई और प्रत्येक सिपाही को चार-चार बन्दूके मिल गई।

छावनी के अन्दर सब अँगरेज अफसर मार डाले गये। शहर के अन्दर अँगरेजों का कत्लेआम ११ मई से १६ मई तक जारी रहा। इस बीच सैकड़ों अँगरेज जान बचाकर दिल्ली से भाग निकले। अनेक ने अपने मुह काले कर लिये और हिन्तुस्तानी फकीर के समान कपड़े पहिन लिये। अनेक गर्मी से और मार्ग की कठिनाई से मर गये और अनेक को पास-पड़ोस के गॉववालों ने खत्म कर दिया। कुछ अंगरेजो को दयालु ग्रामवालों ने आश्रय दिया और अपने यहाँ छिपा लिया। १६ मई सन् १८५७ को भारत की प्राचीन राजधानी दिल्ली पूर्ण रूप से कम्पनी के अधिकार से मुक्त हो गई और सम्राट बहादुरशाह फिर से दिल्ली का क्रियात्मक सम्राट माना जाने लगा।

इसमे सन्देह नही कि दिल्ली की इस घटना का प्रभाव भारत के शेप भाग पर बड़े ही महत्व का हो गया। नाना साहिब और महान् विप्लव के अन्य सचालकों ने बहादुरशाह ही के नाम पर समस्त भारत के नरेशों, सैनिकों और प्रजा को अँगरेजों के विरुद्ध आमन्त्रिन किया था। बहादुरशाह का झडा ही उस समय भारत भर के विप्लवकारियों का एकमात्र झंडा था। इस स्थल पर ध्यान देने योग्य बात है कि यद्यपि मेरठ, दिल्ली और उसके

आस-पास के ग्रामों मे उन दिनों एक-एक अँगरेज को चुन-चुन कर मारा गया, फिर भी एक भी अँगरेज स्त्री का अपमान विप्लवकारियो की ओर से नही किया गया। इसके प्रमाण मे हम केवल कम्पनी की खुफिया पुलिस के प्रधान अफसर आनरेबुल सर विलियम म्योर के० सी० एस० आई० का यह बयान दे देना उचित समझते है। उनका कहना है कि "चाहे और कितना भी अत्याचार और रक्तपात क्यों न हुआ हो, जो कहानियाँ अँगरेज स्त्रियों की बेइज्जती की कही-सुनी जाती थी, वे सब जहाँ तक मैंने देखा और जाँच की वहाँ तक वे सब आदि से लेकर अन्त तक निराधार थी।"

दिल्ली के स्वाधीन हो जाने का समाचार बिजली के समान तमाम भारतवर्ष मे फैल गया। जिस जिसने इस समाचार को सुना वही-वही ईश्वर को धन्यवाद देता हुआ प्रसन्नता प्रकट करने लगा। अनेक स्थानों के नेता उस समय तक भी यह न निश्चय कर पाये कि उन्हे अपने-अपने स्थानों मे तुरन्त विप्लव के कार्य आरम्भ कर देना चाहिये अथवा निश्चित दिवस के आने तक की प्रतीक्षा करनी चाहिए। फिर भी ११ मई से लेकर ३१ मई तक समस्त उत्तरी भारत मे स्थान-स्थान पर विप्लव के दावानल की ज्वाला भड़क उठी।

कम्पनी की ९ नम्बर पैदल पलटन अलीगढ़, मैनपुरी, इटावा और बुलन्दशहर मे बँटी हुई थी। मई महीने के आरम्भ मे एक ब्राह्मण प्रचारक बुलन्दशहर की छावनी मे सिपाहियों को विप्लव करने का उपदेश देने के लिए पहुँचा। पलटन के तीन सिपाहियों ने मुखबिरी करके उस ब्राह्मण को पकड़वा दिया। पलटन का

मुख्य स्थान अलीगढ़ था। उस ब्राह्मण को फाँसी के लिए अलीगढ़ लाया गया। २० मई के सध्या समय समस्त भारतीय सिपाहियों के सामने उस उपदेशक ब्राह्मण को फाँसी पर लटका दिया गया। ब्राह्मण को फाँसी पर लटका हुआ देखकर उत्तेजना के कारण समस्त सिपाहियों का रक्त बात की बात मे खौलने लगा। विप्लव से सम्बन्ध रखने वाली पुस्तकों मे लिखा हुआ है कि उसी समय तुरंत एक सिपाही कतार से निकल कर अपनी तलवार से उसके शरीर की ओर संकेत करके अपने अन्य सिपाही भाइयों को उत्तेजित करते हुए कहने लगा, 'भाइयो! यह शहीद हमारे लिए रक्त का स्नान कर रहा है।' ऐसी दशा मे सिपाहियो के लिये ३१ मई तक की प्रतीक्षा कर सकना असम्भव हो गया। उस समय को परिस्थितियो से विवश होकर ९ नम्बर की समस्त पलटन तुरन्त बिगड़ खड़ी हुई किन्तु इस पलटन के सिपाहियो ने शान्ति के साथ अपने अँगरेज अफसरो से कहा कि यदि आप लोग अपनी जान बचाना चाहते है तो तुरन्त अलीगढ़ छोड़ दीजिए। उसी समय अलीगढ़ के समस्त अँगरेज अपनी स्त्रियों और बच्चो सहित अलीगढ़ से चल दिये और २० तारीख की आधी रात से पहले स्वाधीनता का हरा झण्डा अलीगढ़ के ऊपर फहराने लगा। सिपाही बहुत सा खजाना और अस्त्र शस्त्र लेकर दिल्ली की ओर रवाना हो गये।

अलीगढ़ का यह समाचार २२ तारीख को मैनपुरी पहुँचा। इस समाचार को सुनते ही वहाँ के समस्त सिपाही भी उसी दिन बिगड़ खड़ हुये। इन लोगो ने भी तमाम अँगरेजो की जान बचा दी और फिर अलीगढ़ के सिपाहियों के समान गोला, बारूद और हथियार ऊँटों पर लाद कर २३ मई को राजधानी दिल्ली

की ओर रवाना हो गये। स्वाधीनता का झण्डा मैनपुरी के ऊपर भी फहराने लगा।

ठीक ऐसी ही घटना इटावे मे भी हुई। इटावे के कलक्टर मिस्टर ह्यूम ने पुलिस और जनता से सहायता के लिये कहा, किन्तु इन दोनों मे से किसी ने भी कलक्टर की बात न मानी और उसकी समस्त आज्ञाओं का उल्लघन करते हुए प्रत्यक्ष रूप से विप्लवकारियो का साथ दिया। असिस्टेण्ट मैजिस्टेट लड़ाई मे मारा गया। २३ मई को हिन्दुस्तानी सिपाहियों ने खजाने पर अपना अधिकार कर लिया और जेलखाने को भी तोड़ दिया। किन्तु इतना सब होने पर भी अँगरेजों को अपने बच्चो और स्त्रियो सहित भाग जाने का मौका भी दिया। उस समय के इतिहास की पुस्तकों मे भी लिखा हुआ है कि इटावे के कलक्टर मिस्टर ह्यूम एक भारतीय स्त्री का रूप धारण करके इटावे से निकल भागे। समस्त शहर मे स्वाधीनता का ढिंढोरा पीट दिया गया। इस प्रकार ९ नम्बर पलटन के समस्त सिपाही अलीगढ़, बुलन्दशहर, मैनपुरी, इटावा और आस-पास के इलाके को स्वाधीन करके कम्पनी के खजाने पर अधिकार करते हुए, अँगरेजों को जान से न मारते हुए केवल हथियार और रसद साथ लेकर दिल्ली की ओर चल दिये। इन नगरो के शासन का प्रबन्ध नगरनिवासियों को सौंप दिया गया।

अजमेर के निकट नसीराबाद मे कम्पनी की एक पलटन देशी पैदल की, एक कम्पनी गोरों की और कुछ तोपखाना रहा करता था। मेरठ के सिपाही इस समय दूर दूर तक फैल गये थे जिनमे से कुछ नसीराबाद मे भी पहुँचे। २८ मई को

वहाँ की हिन्दुस्तानी सेना विद्रोही हुई। गोरों की कम्पनी से उनका संग्राम हुआ। कुछ अँगरेज मारे गये और शेष जान बचा कर भाग गये। देशी सिपाहियो के नेता दिल्ली-सम्राट के नाम पर नगर के शासन प्रबन्ध करके खजाना, हथियार और कई हजार सिपाहियो को साथ लेकर दिल्ली की ओर चल दिये।

रुहेलखण्ड का प्रान्त कुछ समय पहले रुहेल पठानों के स्वाधीन शासन मे रह चुका था। बरेली वहाँ की राजधानी थी। अन्तिम रुहेला नवाब का वशज खानबहादुर खाँ इसी समय कम्पनी के अधीन जजी के पद पर नियुक्त था। यह खानबहादुर खाँ ही रुहेलखण्ड मे विप्लव का प्रधान नेता था।

उन दिनों बरेली मे कम्पनी की ओर से ८ नम्बर देशी सवार, १८ और ६८ नम्बर पैदल पलटने और कुछ तोपखाना रहता था। जनरल सिबल्ड वहाँ का सेनापति था। मेरठ के विप्लव की खबर १४ मई को बरेली पहुँची। मेरठ के विप्लव के बाद ही अँगरेज प्रधान सेनापति (कमाण्डर-इन-चीज) ने हिन्दुस्तान की समस्त सेनाओं मे इस बात की घोषणा कर दी थी कि चर्बी वाले नये कारतूस बन्द कर दिये गये और समस्त सिपाही पुराने कारतूसों का ही उपयोग करे, परन्तु विप्लव-कारियो पर इस घोषणा का अब कोई भी प्रभाव नहीं पड़ सकता था। देहली से निम्नलिखित पत्र रुहेलखण्ड की पलटनों के नाम पहुँचा—

"दिल्ली की सेना के सेनापति की ओर से बरेली और मुरादाबाद की पलटनो सेनापतियों के नाम हार्दिक आलिंगन!

भाइयों ! दिल्ली मे अँगरेजों के साथ युद्ध बराबर हो रहा है। ईश्वर के आशीर्वाद से हमने अँगरेजों को जो पहली बार हराया है, उसी से वे इतना घबरा गये है जितना कि किसी दूसरे अवसर पर दस बार हारने पर भी कभी न घबराते। अनगिनती हिन्दुस्तानी बहादुर दिल्ली मे आ-आकर प्रतिदिन जमा हो रहे है। ऐसे अवसर पर अगर आप वहाँ भोजन कर रहे हों, तो हाथ यहाँ आकर धोइए। शाहों का बादशाह, जहाँपनाह, हमारा दिल्लीं का शाहशाह आपका स्वागत करेगा और आपकी सेनाओं को पारितोषिक देगा। हमारे कान इस प्रकार आपकी ओर लगे हुए है जिस प्रकार रोजेदारों के कान अजान देने वाले की पुकार की ओर लगे रहते है। हम आपकी तोपों की आवाज सुनने के लिए बेचैन है। हमारी आँखे आपके दर्शनों की प्यासी उसी तरह सड़क पर लगी हुई है जिस तरह कासिद की आँखे लगी रहती है। आइए, आपका फर्ज है कि आप फौरन आइए। हमारा घर आपका घर है। भाइयो ! आइए, बिना आपकी आमद की बहार के गुलाब मे फूल नही आ सकते। बिना जारिश के कली नही खिल सकती। विना दूध के बच्चा नहीं जी सकता।"

इसमे सन्देह नहीं कि यह पत्र यथा समय बरेली पहुँच गया था। जिन-जिन सिपाहियो के सामने यह पत्र पढ़ा गया वे तुरन्त दिल्ली जाने और अँगरेजों को मार भगाने के लिए कमर कस कर तैयार हो गये। उस समय तक सिपाहियों पर अँगरेजों और उनके सहायकों ने जो-जो अत्याचार किये थे वे प्रायः सभी को विदित हो चुके थे। अत्याचारो का बदला लेने के लिए समस्त भारतीय सैनिक अधीर होने लगे किन्तु

रुहेलखड के नेता खानबहादुर खाँ इतने पर भी विप्लव की योजना के पूर्व निश्चय के अनुसार ३१ मई तक प्रतीक्षा करना उचित समझने लगे। कहने की आवश्कता नही कि खानबहादुर खाँ और बरेली की समस्त देशी पलटनो का व्यवहार अँगरेजों के साथ इतना सुन्दर और प्रशसनीय रहा कि अन्त समय तक अँगरेजों को उनकी वफादारी मे सन्देह करने का तनिक भी मोका न मिल सका।

विप्लव के प्रचण्ड दिन

जैसे ही ३१ मई का सबेरा हुआ वैसे ही सबसे पहले बरेली के कप्तान ब्राउनलो का बंगला जलाया गया। ठीक ग्यारह बजे दिन को अचानक एक तोप छुटी। विप्लव आरम्भ करने का यही संकेत था। यह सभी स्वीकार करते है कि बरेली का संगठन अच्छा था। ६८ नम्बर पलटन ने अँगरेजों के बगले मे आग लगाना और अँगरेजों को मारना आरम्भ कर दिया। अँगरेज नैनीताल की ओर भागने लगे। जनरल सिबल्ड और अन्य अनेक अँगरेज अफसर मार डाले गये केवल ३२ अँगरेज जान बचा कर नैनीताल पहुँच सके। छः घण्टे के अन्दर बरेली के ऊपर स्वाधीनता का हरा झण्डा फहराने लगा।

जिस समय अँगरेजी झण्डा उतार कर उसके स्थान पर हरा झण्डा फहराया गया उसी समय तोपखाने के सूबेदार बख्तखॉ ने विप्लव की सेनाओं का प्रधान सेनापतित्व ग्रहण किया। इतिसाह-लेखक चार्ल्स बाल लिखता है कि बख्त खॉ ने सिपाहियों को उपदेश दिया कि स्वाधीनता प्राप्त कराने के बाद तुम्हे शान्ति और न्याय का व्यवहार करना चाहिये। समस्त प्रजा ने खानबहादुर खॉ को सम्राट की ओर से रुहेलखण्ड का सूबेदार स्वीकार किया। उसी दिन सूर्यास्त से पहले खानबहादुर खॉ की ओर से एक दूत सम्राट को रुहेलखण्ड की स्वाधीनना को सूचना देने के लिये दिल्ली की ओर रवाना हो गया।

बरेली से ४७ मील दूर शाहजहाँपुर मे २८ नम्बर पैदल पलटन थी। ठीक बरेली ही के समान शाहजहाँपुर भी इस पलटन के प्रयत्नों द्वारा ३१ मई के सध्या के समय तक स्वाधीन हो गया बरेली के दूसरी ओर मुरादाबाद है। वहाँ पर २९ नम्बर देशी पलटन थी। १८ मई को अँगरेज अफसरों को पता चला कि मेरठ के कुछ विप्लवकारी सिपाही मुरादाबाद के निकट आकर ठहरे हुए है। रात के समय २९ नम्बर के सिपाहियों को मेरठ के सिपाहियो पर हमला करने का हुकुम मिला। सिपाहियो ने उन पर हमला किया। लड़ाई के बाद इन सिपाहियों ने अपने अफसरों को सूचना दी, केवल एक को छोड़कर शेष सब मेरठ भाग गये। कुछ दिनो के बाद पता चला कि ये सब मेरठ के सिपाही मुरादाबाद के सिपाहियो के साथ बागिचो मे आये और खाने-पीने के बाद आपस मे बाते की और वही आनन्द के साथ रात बिताई।

३१ मई को सबेरे २९ नम्बर पलटन के सब सिपाही परेड पर जमा हुए। उन्होने अपने अँगरेज अफसरो को नोटिस दिया। कि, "कम्पनी का राज्य समाप्त हो गया। आप सब लोग दो घण्टे के अन्दर मुरादाबाद छोड़ दीजिये, नही तो आप सब को मार डाला जायगा।" मुरादाबाद की जनता और पुलिस भी विप्लव के पक्ष मे थी। कुछ अँगरेज जिनमे वहाँ के जज कलेक्टर और सिविल सर्जन भी शामिल थे, अपने बाल बच्चों को लेकर मुरादाबाद से भाग निकले। मुरादाबाद का कमिश्नर पावेल और उसके कुछ साथी मुसलमान हो गये। उनको फिर जान से नही मारा गया। इसके बाद सिपाहियों ने खजाने और तमाम सरकारी माल पर अपना अधिकार कर लिया। सूर्यास्त मे

पहले ही मुरादाबाद के ऊपर भी स्वाधीनता का हरा झण्डा फहराने लगा।

बरेली, शाहजहाँपुर और मुरादाबाद के अतिरिक्त एक और बड़ा शहर रुहेलखण्ड के इलाके मे है। वह शहर बदायूँ के नाम से प्रसिद्ध है। पहली जून की सन्ध्या के समय बदायूँ मे विप्लव का कर्य आरम्भ होता है। सिपाहियों, मुख्य मुख्य नगर-निवासियों और पुलिस ने मिल कर ढिढोरा पिटवा दिया कि अँगरेजी राज्य का अन्त हो गया और सूबेदार खानबहादुर खाँ का शासन आरम्भ हो गया। इतना सुनते ही बदायूँ के अगरेज जगलो मे भाग गये। उनमे से अनेक अँगरेज बड़े कष्टो के साथ जङ्गलों मे मर भी गये। इस प्रकार समस्त रुहेलखण्ड दो दिन के हो अन्दर कम्पनी के अत्याचार-पूर्ण शासन से निकल गया। इसके बाद एक नई सेना का संगठन कर सूबेदार खानबहादुर खाँ ने समस्त रुहेलखण्ड मे शान्ति और सुशासन को स्थापित किया। अधिकाँश महकमों मे हिन्दुस्तानी कर्मचारी पहले के ही समान बहाल रखे गये और लगान दिल्ली के सम्राट के नाम पर वसूल किया जाने लगा। खानबहादुर खाँ ने अपने हाथ से रुहेलखण्ड की स्वाधीनता का सब हाल लिखकर सम्राट को भेजा।

इतना ही नही, उसने एक ऐलान लिखकर समस्त रुहेलखण्ड मे बटवाया। इस ऐलान के मुख्य वाक्य इस प्रकार थे—"हिन्दुस्तान के रहने वालों! स्वराज्य का पाक दिन, जिसका बहुत अरसे से इन्तजार था, आ पहुँचा है। आप लोग इसे मजूर करेंगे या इससे इन्कार करेंगे? आप हम जबर्दस्त मौके से फायदा उठायगे या इसे हाथ से जाने देंगे? हिन्दू और मुसलमान भाइयो! आप सब को मालूम होना चाहिये कि

अगर ये अँगरेज हिन्दुस्तान मे रह गये तो हम सब को कत्ल कर देगे और आप लोगों के मजहब को मिटा देगे ! हिन्दुस्तान के बाशिन्दे इतने दिनों तक अँगरेजों के धोखे मे आते रहे और अपनी ही तलवारों से अपने गले काटते रहे है इसलिये अब हमे मुल्क-फरोशी के अपने इस गुनाह का प्रायश्चित करना चाहिये। अँगरेज अब भी अपनी पुरानी दगाबाजी से काम लेगे । वे हिन्दुओं को मुसलमानो के खिलाफ और मुसलमानों को हिन्दुओ के खिलाफ उभारने की कोशिश करेगे । लेकिन हिन्दू भाइयो ! उनके फरेब मे न पड़ना । हमे अपने होशियार हिन्दू भाइयों को यह बताने की जरूरत नही है कि अँगरेज कभी अपने वादे पूरे नही करते । ये लोग चाल और दगाबाजी के ताक मे है । ये हमेशा से सिवाय अपने मजहब के और सब मजहबो को दुनियाँ से मिटाने की कोशिश करते रहे है। क्या उन्होने गोद लिये हुए बच्चों के हक नही छीन लिये है ? क्या उन्होने हमारे राजाओ के राज्य और मुल्क नही हड़प लिये है ? नागपुर का राज्य किसने ले लिया ? लखनऊ की बादशाहत किसने छीन ली ? हिन्दू और मुसलमान दोनों को किसने पैरो तले रौंदा ? मुसलमानो ! अगर तुम कुरान की इज्जत करते हो तो और हिन्दुओं ! अगर तुम गो माता की इज्जत करते हो तो अपने छोटे छोटे तफर्कों को भूल जाओ और इस पाक जग मे शामिल हो जाओ। लड़ाई के मैदान मे कूद कर एक झण्डे के नीचे लड़ो और खून की नदियों से अँगरेजो का नाम हिन्दुस्तान से धो डालो !× गाय का मारा जाना बन्द कर दिया जाय। इस पाक जङ्ग मे जो आदमी खुद लड़ेगा या जो धन से लड़ने वालो की मदद करेगा दोनो को इस लोक मे और परलोक

मे दोनों जगह निजात मिलेगी ! लेकिन अगर कोई इस मुल्की जङ्ग की मुखालफत करेगा तो वह अपने सर पर कुल्हाड़ी मारेगा और खुदकशी के गुनाह का जिम्मेवार होगा ।"

बरेली, शाहजहाँपुर, मुरादाबाद और बदायूँ से कम्पनी की समस्त हिन्दुस्तानी सेना कम्पनी के खजानों, तोपों और अन्य हथियारों सहित बख्तखाँ के नेतृत्व मे राजधानी दिल्ली की ओर रवाना हो गई। खानबहादुर खाँ और बख्तखाँ दोनों की गिनती उस विप्लव के सबसे अधिक योग्य नेताओं मे की जाती है।

रुहेलखण्ड की घटनाओं का वर्णन करने के पश्चात् उचित तो यही होता कि हम लखनऊ और कानपुर की घटनाओं का वर्णन करते किन्तु इन्हे कुछ देर के लिए बीच मे ही छोड़कर हम बनारस और इलाहाबाद की घटनाओं की ओर दृष्टि डालना चाहते है। और आशा है कि पाठकगण इस सम्बन्ध मे हमारा साथ अवश्य देगे।

बनारस मे कम्पनी की ३७ नम्बर पैदल पलटन, एक लुधियाना की सिख पलटन और एक सवार पलटन थी। वहाँ का तोपखाना गोरों के हाथों मे था। आगरे से कलकत्ते तक उस समय केवल दानापुर मे एक पूरी गोरी रेजिमेण्ट मौजूद थी। अर्थात यदि एक साथ सभी स्थानो मे स्वाधीनता की लड़ाई शुरू होती तो अँगरेजों के लिए कम से कम उत्तरी भारत मे ठहर सकना सर्वथा असभव था।

३१ मई को बनारस की बारिगों मे आग लगा दी गई। ३ जून को गोरखपुर और आजमगढ़ के खजानों से सात लाख रुपये

नकद बनारस के लिये आ रहे थे। उसी दिन रात को १७ नम्बर पलटन ने, जो आजमगढ़ में थी, विप्लव आरम्भ कर दिया। केवल दो अँगरेजों को छोड़कर उन्होंने शेष सब अँगरेजों की जान बख्श दी यहाँ तक कि उनके और उनके बाल-बच्चों के बनारस जाने के लिये गाड़ियो तक का प्रबन्ध कर दिया किन्तु सात लाख के उस खजाने पर, कम्पनी के गोले बारूद पर और जेलखाने, दफ्तरों आदि पर विप्लवकारियो ने अपना अधिकार जमा लिया। आजमगढ़ की पुलिस ने विप्लवकारी सिपाहियो का पूरा साथ दिया। आजमगढ़ के नगर पर उसी रात को बड़ी धूमधाम के साथ स्वाधीनता का हरा झण्डा फहराने लगा।

इस समय तक गवर्नर जनरल लार्ड कैनिंग ने मेरठ के विद्रोह और दिल्ली की स्वाधीनता का समाचार पाते ही बम्बई, मद्रास और रङ्गून से मँगाकर बहुत सी गोरी सेना बंगाल मे जमा कर ली थी। ठीक उन्ही दिनो ईरान के साथ अँगरेजों का युद्ध समाप्त हुआ था और चीन के ऊपर अँगरेज आक्रमण करने वाले थे किन्तु भारत मे विप्लव हो जाने के कारण अँगरेजों को चीन पर आक्रमण करने का विचार छोड़ देना पड़ा। एक विशाल गोरी सेना ईरान से चीन की ओर जा रही थी। लार्ड कैनिग ने इस समस्त सेना को भारत मे रोक लिया। इसमे से बहुत सी सेना लेकर सुप्रसिद्ध जनरल नील बनारस पहुँचा। उसके पहुँच जाने से ही बनारस के अँगरेजों के जी मे जी आया। ४ जून को आजमगढ़ का समाचार बनारस पहुँचा। उसी दिन तीसरे पहर बनारस के अँगरेज अफसरों ने देशी सिपाहियों से हथियार रखा लेने का निश्चय किया।

परेड के मैदान मे जिस समय देशी सिपाहियों को हथियार

रख देने की आज्ञा दी गई, उस समय के सब सिपाही बजाय हथियार रख देने के मैगजीन पर ऑगरेज अफसरों पर टूट पड़े। तुरन्त सिख पलटन उनके मुकाबिले के लिये आ खड़ी हुई। अभी लड़ाई शुरू हो हुई थी कि ऑगरेजी तोपखाने ने आकर सब पर गोले बरसाने शुरू किये। यद्यपि सिख ऑगरेजों का साथ दे रहे थे, यद्यपि उस समय की घटबराहट मे तोपखाने के ऑगरेज अफसर यह न समझ सके कि उनमे से कौन हिन्दू था और कौन सिख ? उन्होने दोनों पर गोले बरसाने शुरू कर दिये। विवश हो कर सिखो को भी विप्लवकारियों का साथ देना पड़ा। सन् १८५७-५८ के तमाम विप्लव मे कदाचित् यही एकमात्र अवसर था जब कि सिख सेना ने हिन्दू और मुसलमानो का साथ दिया।

बनारस की जनता विप्लवकारियो के साथ थी, किन्तु सिखों ने, वहाँ के कई रईसों ने और राजा चेतसिह के वशज बनारस के उपाधिधारी राजा ने उस समय, ऑगरेजों को पूरी सहायता दी। विप्लवकारी नगर छोड़कर इधर-उधर फैल गये। ५ जून को जौनपुर मे विप्लव का आरम्भ हुआ। उस विप्लव मे कई ऑगरेज मारे गये। शेष ऑगरेजो को नगर छोड़कर चले जाने की आज्ञा दे दी गई। विप्लवकारियो ने खजाने पर अधिकार कर लिया। जौनपुर के बचे हुये ऑगरेज नावो मे बैठकर बनारस की ओर चल दिये।

अपने-अपने नगरों को स्वाधीन करने के बाद आजमगढ़ और जौनपुर दोनों जगह के विप्लवकारी सिपाही फैजाबाद की ओर चल दिये। दोनों नगरो के ऊपर हरा झण्डा फहराने लगा। यद्यपि बनारस नगर पर कम्पनी का अधिकार रहा, फिर भी

आस-पास का अधिकाँश इलाक़ा विप्लवकारियो के अधिकार मे आ गया। जगह-जगह अँगरेज़ों के नियुक्त किये हुए जमीदारों को हटा कर पुराने पैतृक जमींदार उनकी जगह नियुक्त कर दिये गये। जगह-जगह अँगरेजी अदालतों, अँगरेजी जेलो और अँगरेजी दफ्तरों का अन्त कर दिया गया। तार काट डाले गये। रेले उखाड़ कर फेक दी गईं। गॉव-गॉव मे हरा झण्डा लिये हुए स्वयसेवक पहरा देने लगे।

बनारस के प्रान्त भर मे विप्लवकारियों ने एक भी अँगरेज स्त्री को नही मारा और जिन अँगरेजों ने हथियार रख दिये उन्हे शान्ति के साथ स्वय गाड़ियों मे बैठा कर नगर से चले जाने की आज्ञा दे दी।

अब हम इलाहाबाद की ओर दृष्टिपात करेगे। यह बात प्रसिद्ध है कि सन् ५७ मे भी विप्लवकारियों और अँगरेजो दोनों की ही दृष्टि से इलाहाबाद का नगर बनारस की अपेक्षा कही अधिक महत्त्व का था। कलकत्ते से पश्चिमोत्तर प्रदेशो को जाने वाली सब सड़के इलाहाबाद मे मिलती थी। इलाहाबाद का किला भारत के सुविशाल किलों मे से एक है। उसमे गोले-बारूद और अस्त्र-शस्त्रो का एक बहुत बड़ा संग्रह था। इतिहास की पुस्तकों मे लिखा है कि तीर्थराज प्रयाग के पण्डे आस पास की हिन्दू जनता के अन्दर स्वाधीनता के युद्ध का प्रचार करने मे बहुत भाग ले रहे थे। मुसलमानों मे हिन्दुओ की अपेक्षा कही अधिक जोश था। चार्ल्स बाल लिखता है कि अँगरेज सरकार के अधिकांश बड़े और छोटे देशी कर्मचारी इस सगठन मे शामिल थे।

जिस समय मेरठ का समाचार इलाहाबाद पहुँचा, उस

समय इलाहाबाद में एक भी अँगरेज सिपाही न था। वहाँ केवल ६ नम्बर देशी पलटन, लगभग २०० सिख सिपाही और मुट्ठी भर अँगरेज अफ़सर थे। अवध से देशी सवारों की एक पलटन और बुला ली गई थी। ६ नम्बर की पलटन ने अपने अँगरेज अफसरों इतनी सुन्दरता के साथ भुलावा देकर रखा कि उन अफसरों को अन्त समय तक उन पर सन्देह न हो पाया। दिल्ली का समाचार पाकर उन्होंने अपने अफसरों से कहा, "आप हमें दिल्ली भेज दीजिए, हम विद्रोहियों के टुकड़े-टुकड़े कर डालेंगे।" इस पर गर्वनर जनरल लार्ड कैनिंग तक ने ६ नम्बर पलटन को शाबासी दी। लिखा है कि ६ जून को जब उनके अँगरेज अफसर बारिगों में उनसे मिलने के लिए गये तब कुछ सिपाहियों ने अपनी खैरख्वाही दिखाने के लिए लपककर उन्हें अपनी छाती से लगाया जब कि वही रात उनके विप्लव के लिए नियत थी। ६ नम्बर की बारिगें किले के बाहर थी। जिस समय अगरेज अफसर खाना खा रहे थे, उसी समय सिपाहियों की बिगुल बजी। बिगुल के बजते ही विप्लव करने के लिए सिपाही निकल पड़े। फिर क्या था। ? विप्लवकारी अँगरेजों पर टूट पड़ने के लिए आगे बढ़े। बात की बात में अनेक अँगरेज मारे गये। शेष किले में जाकर छिप गये। अँगरेजों ने सवार पलटनों को अपनी सहायता के लिए बुलया। सवार तुरन्त आकर जमा हो गये किन्तु परिणाम यह हुआ कि सब सवार बजाय विप्लवकारियों पर आक्रमण करने के मैदान में पहुँचते ही उन सबों के साथ मिल गये। दोनों पलटनों के अधिकांश अफसर बहुत बुरी तरह मारे गये। इतना ही नहीं, विप्लवकारी सिपाहियों द्वारा अँगरेजों के बँगलों में भी तुरन्त आग लगा दी गई।

जिस समय विप्लवकारी सिपाही पूरे उत्साह के साथ निर्विघ्न विप्लव के कार्यों को सफल बना रहे थे, उस समय सिख पलटन किले के अन्दर थी। वह विप्लवकारी सिपाहियों का साथ नहीं दे रहे थे। यदि किले के सिख उस समय बुद्धिमानी से काम करते हुए विप्लवकारियों का साथ दे जाते तो इसमें कुछ सन्देह न था कि आध घन्टे के अन्दर इलाहाबाद नगर का सुप्रसिद्ध और सुविशाल किला और उसके भीतर का तमाम सामान विप्लवकारियों के अधिकार में आ जाता। इस स्थल पर बड़े खेद के साथ लिखना पड़ता है कि ऐसे भयानक संकट के समय उन सिखों ने भारत-माता के परम शत्रु अँगरेजों का साथ दिया। यही कारण है कि विप्लव के दिनों में भी अँगरेजी झण्डा इलाहाबाद के किले पर फहराता रहा।

कुछ भी हो, इलाहाबाद की जनता ने विप्लवकारी सिपाहियों का पूरा साथ दिया। जनता का साथ पा जाने से विप्लवकारी सिपाहियों का उत्साह कई गुना अधिक बढ़ गया। अँगरेजों के जितने मकान थे, सभी जला दिये गये। जेलखाने में जितने कैदी थे सभी तुरन्त रिहा कर दिये गये। इसके बाद विप्लवकारी सिपाही खजाने को अपने अधिकार में कर लेने के लिए आगे बढ़े। बात की बात में उनका वहाँ भी अधिकार जम गया। दूसरी ओर रेल की पटरियाँ उखाड़ने और तार को काटने तथा तार के खम्भों को तोड़ने का काम आरम्भ हो गया। निर्विघ्न ये काम तुरन्त पूरे हो गये। कहा जाता है कि इलाहाबाद के खजाने में विप्लवकारियों को लगभग तीस लाख रुपये मिले। तारीख ७ जून को सन्ध्या समय शहर और छावनी में हरे झण्डे का जुलूस निकाला गया। नगर-निवासियों और सिपाहियों ने झण्डे को

सलामी दी। शहर की कोतवाली के ऊपर हरा झण्डा फहराने लगा।

इलाहाबाद के आस-पास के सैकड़ों गाँवों मे हिन्दू और मुसलमान रैयत तथा जमीदार आदि सबो ने मिलकर अँगरेजी राज्य का अन्त हो जाने की घोषणा कर दी और जिस तरह इलाहाबाद मे स्वाधीनता का हरा झण्डा फहराने लगा था उसी तरह हर एक गाँव मे स्वाधीनता का हरा झण्डा फहराने लगा। जगह-जगह अँगरेजों के नियुक्त किये हुए नये जमींदार हटा दिये गये और पुराने खानदानी जमीदार उनकी जगह नियुक्त कर दिये गये। लिखा हुआ मिलता है कि नगर के अन्दर दस-दस बारह वर्ष के लड़के हरे झण्डे हाथों मे लेकर जुलूस बनाये हुए निकलने लगे। इतिहास लेखक सर जान के अपनी पुस्तक 'इण्डियन म्युटिनी' मे लिखता है—

"न केवल गङ्गा के पार के इलाकों मे ही, बल्कि गङ्गा और जमुना के बीच के इलाके मे भी देहाती जनता बिगड़ खड़ी हुई × शीघ्र ही हिन्दू अथवा मुसलमान एक भी मनुष्य न बचा जो हमारे विरुद्ध न हो गया हो।"

इलाहाबाद के स्वाधीन होने के बाद दो-चार दिन थोड़ी बहुत अराजकता रही। उसके बाद शहर के लोगों और आस-पास के कुछ जमीदारों ने मिलकर मौलवी लियाकत अली नामक एक योग्य व्यक्ति को सम्राट बहादुरशाह की ओर से इलाहाबाद के इलाके का सूबेदार नियुक्त किया। लियाकत अली एक असाधारण योग्य व्यक्ति था। उसके चरित्र की पवित्रता के कारण

सब लोग उसका बड़ा आदर करते थे। उसने खुसरोबाग को अपना केन्द्र बनाया, शहर मे पूरी शान्ति स्थापित कर दी और दिल्ली सम्राट को बराबर अपने यहाँ की सभी घटनाओं की सूचनाएँ भेजता रहा। इसके बाद मौलवी लियाकत अली ने इलाहाबाद के किले पर अधिकार कर लेने का प्रयत्न किया। किले के भीतर जितने सिख सिपाही थे, उसने उन सबों को स्वाधीनता के सग्राम मे भाग लेने के लिए आमन्त्रित किया किन्तु सिखो पर इसका कुछ भी प्रभाव न पड़ा।

सन् १८५७ के महान् विप्लव की घटनाओ का वर्णन इस समय हम यही तक करेगे। यह हम मानते है कि विप्लव-कारियो के सब से अधिक महत्त्वपूर्ण कृत्यों का वर्णन अभी बाकी है फिर भी यह कहना पड़ता है कि इसी समय से ही अँगरेजो की ओर से प्रतिकार की आग भड़कनी शुरू हो गई। इसलिए उचित यही होगा कि पाठकगण यह भी जान ले कि अन्याय और अत्याचार के बल पर भारत मे राज्य स्थापित करने वाले अगरेजो ने किस निर्दयता के साथ विप्लवकारियो को दबाने का प्रयत्न किया। जिन अगरेजों को प्राणो की भिक्षा दी गई थी वही अँगरेज विप्लवकारियो के प्राणों के भूखे हो गये। कितने बड़े दुःख की बात है। लोगों का कहना है कि इलाहाबाद की सिख पलटन हमेशा ही अँगरेजों की सहायता करती रही और उसी के कारण विप्लवकारी सिपाहियों को वैसी सफलता न प्राप्त हुई जैसी कि प्राप्त होनी चाहिए थी। कुछ भी हो विप्लवकारी अपने विप्लव के कार्यों मे लगे हुए थे और अगरेज उनको दबाने के लिए उपाय सोचने मे लगे हुए थे। इसके बाद फिर क्या हुआ, इसे अब हम आगे चल कर बतलायेंगे। पाठकों को चाहिए कि

पिछली समस्त घटनाओं को ध्यान मे रखते हुए आगे कही जाने वाली घटनाओं पर विशेष रूप से मनन करें।

यदि ऐसा नहीं किया जायगा तो यह समझ सकना असम्भव हो जायगा कि किस प्रकार की नर-हत्याएँ करके अँगरेजों ने हमारी स्वाधीनता के भावों को दबा रखने का प्रयत्न किया था।

अँगरेजों का दमन-चक्र

यह हम पहले कह आये हैं कि मेरठ के विद्रोह और दिल्ली की स्वाधीनता का समाचार पाते ही उस समय का गवर्नर जनरल लार्ड कैनिंग मद्रास, रगून और बम्बई से गोरी सेना को बुलाकर बगाल मे इकट्ठा करने लगा था और जो सेना ईरान से चीन की ओर जा रही थी उसे भी भारत मे रोक लिया था। इतना ही नहीं विप्लवकारियों का दमन करने के लिए भी लार्ड कैनिंग एक विशाल सेना के साथ, जिसमे अधिकांश गोरे कुछ सिख और कुछ मद्रासी थे, जनरल नील को बनारस की ओर रवाना कर चुका था।

बनारस का नगर उस समय तक अगरेजों के ही अधिकार मे था। जनरल नील के बनारस पहुँचते ही सब से पहले नगर मे बड़ी-बड़ी गिरफ्तारियाँ हुईं। इसके बाद जनरल नील ने आस-पास के इलाके को फिर से अपने अधिकार मे कर लेने के लिए अँगरेजों और सिख सिपाहियों के कई अलग-अलग दस्ते बनाये। इस अवसर पर जनरल नील के आदेश से उसकी सेना ने भारतीय प्रजा के ऊपर जो भयकर और अमानुषिक अत्याचार किये उन्हे हम अँगरेज इतिहास-लेखकों की ही पुस्तकों से लेकर पाठकों के सामने उपस्थित करने का प्रयत्न कर रहे है।

जनरल नील इतना अत्याचारी था कि उसके सम्बन्ध मे बस यही कह देना पर्याप्त है कि वह अपने गोरे तन मे भयानक

अत्याचार करने वाले दानव का काला मन रखता था। उसी जनरल नील रूपी दानव के सिपाही जिस समय किसी गाँव में प्रवेश करते थे उस समय उस गाँव में हाहाकार मच जाता था। जितने मनुष्य उन्हें मार्ग में मिलते थे, उन्हें वे बिना किसी भेद-भाव अथवा सोच-विचार के तलवार के घाट उतार देते थे, या गोली से उड़ा देते थे अथवा आनन्द लूटने के लिए फाँसी पर लटका देते थे।

निरपराध जनता को फाँसी पर लटकाने के लिए स्थान-स्थान पर फाँसी के तख्ते खड़े किये गये थे और उन फाँसी के तख्तों पर चौबीस-चौबीस घण्टे बराबर काम होता रहता था। जब इनसे भी काम न चला तब अँगरेज अफसरों ने बड़े-बड़े पेड़ों की डालों से फाँसी के तख्ते का काम लेना शुरू किया। जिस मनुष्य को फाँसी पर चढ़ाना होता था उसे प्रायः सब से पहले हाथी पर बैठा कर घुमाया जाता था। फिर हाथी को किसी ऊँची डाल के पास ले जाकर खड़ा किया जाता था। इसके बाद उस मनुष्य की गर्दन रस्सी से डाल के साथ बाँध दी जाती थी। फिर हाथी को हटा लिया जाता था और उस भाग्यहीन मनुष्य की लटकती हुई लाश को उसी जगह छोड़ दिया जाता था।

के और मालेसन ने अपने विप्लव के इतिहास में लिखा है कि जो लोग फाँसी पर लटकाये जाते थे, उनके हाथों और पैरों को मन बहलाने की इच्छा से अँगरेज सैनिकों द्वारा अँगरेजी के अंकों आठ और नौ की शक्ल में बाँध दिया जाता था। इसे यों समझ लेना चाहिए कि जिन मनुष्यों को फाँसी पर लटकाया जाता था उनके सभी अंगों को तोड़-मरोड़ दिया जाता था तभी तो अँगरेजी के अंक आठ और नौ (8 और 9) बन सकते थे।

जब इन सब अत्याचार-पूर्ण उपायों से भी पूर्ण रूप से सन्तोष लाभ न हुआ तब अँगरेज अफसरों ने गॉव के गॉव जलाने आरम्भ कर दिये। गॉव के बाहर तोपे लगा दी जाती थीं और समस्त पुरुषों, स्त्रियों, बच्चों और पशुओ समेत गॉव मे आग लगा दी जाती थी। अनेक अँगरेज अफसरों ने बड़े अभिमान के साथ इन हृदय-बिदारक दृश्यों का वर्णन अपने पत्रों मे किया है। आग इतनी होशियारी से लगाई जाती थी कि उससे एक भी गॉव का रहने वाला न बच सके। इतिहास लेखक चार्ल्स बाल लिखता है कि—"माताएँ अपने दुधमुँहे बच्चों के साथ और असख्य बूढ़े आदमी और औरते जो अपनी जगह से हिलने-डोलने मे असमर्थ थे, उन सबो को बिछौनों के अन्दर जलाकर राख के ढेर बना दिये गये।"

एक अँगरेज अपने एक पत्र मे लिखता है—"हमने एक बड़े गॉव मे आग लगाई। उस गॉव मे लोग भरे थे। हमने उन्हे घेर लिया और जब वे आग की लपटों मे से निकल कर भागने लगे तब हमने उन्हे गोलियो से उड़ा दिया।"

अनेक स्थानों पर विप्लवकारियों ने अँगरेज मर्द, और बच्चों को प्राणों की भिक्षा दी थी और असंख्य ग्रामों मे ग्राम-निवासियों ने भागे हुए अँगरेजो को अपने घरो मे आश्रय दिया था किन्तु कम्पनी के पूरे इतिहास मे अँगरेज जाति के अन्दर वीरोचित गुणो का सदा अभाव ही मिला है। जनरल नील की दानवी सेना ने भी दोषी, निर्दोषी, बालक, वृद्ध अथवा स्त्री-पुरुष का कभी भी कही पर कोई विचार नही किया।

जनरल नील के अत्याचारों के विषय मे एक अँगरेज इतिहास

लेखक लज्जित होकर लिखता है—"अच्छा यह है कि जनरल नील के प्रतिकार के विषय मे कुछ लिखा ही न जाय।"

इतिहास लेखक सर जान के लिखता है "फौजी और सिविल दोनों तरह के अगरेज अफसर अपनी-अपनी खूनी अदालत लगा रहे थे, अथवा बिना किसी तरह के मुकदमे का ढोंग रचे और बिना मर्द औरत या छोटे-बड़े का विचार किये, भारतवासियों का सहार कर रहे थे।" इसके बाद खून की प्यास और भी अधिक भड़की। भारत के गवर्नर जनरल ने जो पत्र इंग्लैण्ड भेजे, उसमे हमारी ब्रिटिश पार्लिमेण्ट के कागजों मे यह बात दर्ज है कि 'बूढ़ी औरतों और बच्चों का उसी तरह बध किया गया है जिस प्रकार उन लोगों का जो विप्लव के अपराधी थे। इन लोगों को सोच समझ कर फाँसी नही दी गई, बल्कि उन्हे उनके गाँव के अन्दर जला कर मार डाला गया, शायद कहीं-कही उन्हे मौके-बेमौके गोली से भी उड़ा दिया गया। अँगरेजों को अभिमान के साथ यह कहते हुए अथवा पत्रों मे लिखते हुए भी सङ्कोच न हुआ कि हमने एक भी हिन्दुस्तानी को नही छोड़ा और काले हिन्दुस्तानियों को गोली से उड़ाने मे हमे बड़ा विनोद और आश्चर्यजनक आनन्द प्राप्त होता था। एक पुस्तक मे जिसका बड़े-बड़े अँगरेज अफसरों ने समर्थन किया है, लिखा है कि—"सड़कों, चौराहों पर और बाजारों मे जो लाशे टँगी हुई थीं, उनको उतारने मे सूर्योदय से लेकर सूर्यास्त तक मुर्दे ढोने वाली आठ-आठ गाड़ियाँ बराबर तीन-तीन महीने तक लगी रहीं और इस प्रकार एक स्थान पर ६ हजार मनुष्यों को झटपट खतम कर परलोक भेज दिया गया। × × × जब कोई अँगरेज यह

पढ़ता है कि किसी काले रंग के बदमाश ने किसी मिस्टर चैम्बर्स या किसो मिस जे निगस को काट डाला तो क्रोध के मारे उसका दम घुटने लगता है, किन्तु भारतवासियों के इतिहास मे अथवा यदि इतिहास न हुए तो उनके परम्परागत वृत्तान्तों मे हमारी जाति के विरुद्ध यह स्मरण रहेगा कि भारत की माताएँ, पत्नियाँ और बच्चे, जिनके नामो से हम इतना अच्छी तरह परिचित नही है, अगरेजों के प्रतिकार की पहली बाढ़ के निर्दयता के साथ शिकार हुय।"

यह दशा कुछ थोड़े-से ग्रामो की ही नही की गई। हम यह कह चुके है कि जनरल नील ने अपनी फौज को अनेक भागो मे बाँट दिया था। एक एक भाग मे कई कई अफसर होते थे। इनमे से एक अफसर अपने केवल एक दिन के कृत्य को अभिमान के साथ वर्णन करते हुए अपने किसी अगरेज मित्र को लिखता है—"किन्तु आप यह जान कर संतुष्ट होगे कि मैने बीस ग्रामो को जमीन से मिला कर बराबर कर दिया।"

बनारस से जनरल नील अपनी विजयी सेना के साथ इलाहाबाद की ओर बढ़ा। रास्ते मे उसने बनारस से इलाहाबाद तक असख्य ग्रामों को ग्राम निवासियो के साथ जला कर राख के ढर बना दिया। ११ जून को जनरल नील इलाहाबाद पहुँचा। यदि इससे पूर्व किले के अन्दर सिख सिपाही विप्लवकारियों से मिल गये होते और किले के अन्दर असंख्य बन्दूकें और युद्ध की अन्य सामग्री विप्लवकारियों के अधिकार मे आ गई होती, तो जनरल नील के लिये इलाहाबाद फिर से विजय कर सकना शायद असम्भव होता।

जनरल नील जब इलाहाबाद पहुँचा तब दूर से यह देख कर

चकित रह गया कि इलाहाबाद के किले पर अभी तक अँगरेजी झण्डा फहरा रहा है। इस पर भी वह इलाहाबाद जैसे किले के लिए किसी भारतवासी का विश्वास करने को तैयार न था। जैसे ही उसने किले के अन्दर पैर रखा वैसे ही किले के भीतर के समस्त सिख सिपाहियों को समीप के गाँव जलाने के लिये बाहर भेज दिया, और किला गोरे सिपाहियों के सुपुर्द कर दिया। सिखों ने सहर्ष जनरल नील के अत्याचारी आदेश का पालन किया। किला और किले के सामान की सहायता से अँगरेजो ने १७ जून को खुसरोबाग पर हमला किया। दिन भर खूब घमासान संग्राम हुआ। विप्लवकारियो ने बड़ी वीरता के साथ सामना किया किन्तु अन्त मे मौलवी लियाकतअली ने देख लिया कि नील की विशाल सेना के सामने उनका ठहर सकना असम्भव था। इसके अतिरिक्त लियाकतअली के पास उस समय तीस लाख का बड़ा खजाना था, जिसे वह शत्रु के हाथ मे पड़ने देना नही चाहता था।

इसलिए लियाकतअली अपने साथियों और खजाने सहित १७ जून की रात को कानपुर की ओर निकल गया। कानपुर के समर्पण के बाद लियाकतअली दक्खिन की ओर गया। वहीं से गिरफ्तार करके उसे अण्डमन भेज दिया गया। वहाँ कई वर्ष तक निवासन का दण्ड भुगतने के बाद मौलवी लियाकतअली की मृत्यु हुई। इस समय इलाहाबाद से १५ मील पश्चिम मह-गाँव मे जहाँ कि लियाकतअली का जन्म-स्थान था, उसकी एक कन्या अब तक जीवित है।

मौलवी लियाकतअली के कानपुर चले जाने के बाद १८ जून की रात को अगरेजों ने सिखों की मदद से इलाहाबाद के

नगर मे प्रवेश किया। नगर मे प्रवेश करते ही सिखों ने अँगरेजो का जैसा साथ दिया उसका वर्णन न करना ही अच्छा है। केवल इतना ही समझ लेना चाहिए कि इस अवसर पर इलाहाबाद के नगर-निवासियो से जनरल नील और उसके सैनिक, चाहे अँगरेज रहे हो या सिख सबों ने बड़े ही भयानक रूप से बदला चुकाया। उन सबो ने जिस भयानक रूप से बदला चुकाया उसका कुछ अनुमान इस एक घटना से लगाया जा सकता है कि अनेक छोटे छोटे लड़कों को केवल इस अपराध मे फाँसी पर लटका दिया गया कि वे हरे झण्डे हाथ मे लेकर ढोल बजाते हुए जुलूस के रूप मे शहर की गलियों मे घूम रहे थे।

लन्दन 'टाइम्स' के सम्बाददाता सर विलियम रसल से कमाण्डर-इन-चीफ कालिन कैम्पवेल ने कहा था कि उन दिनों इलाहाबाद का एक अँगरेज सौदागर विद्रोहियों का पता लगाने के लिये स्पेशल कमिश्नर नियुक्ति किया गया था। वह अनेक हिन्दुस्तानी व्यापारियो का कर्जदार था। सब से पहला काम उसने यह किया कि अपने समस्त ऋणदाताओं को पकड़ कर फाँसी दे दी।

इलाहाबाद के चौक के अन्दर उन सात नीम के वृक्षों मे से कुछ अभी तक मौजूद है, जिनकी डालो पर थोड़े दिनों के अन्दर ही, कहा जाता है कि लगभग आठ सौ निर्दोष नगर-निवासियों को फाँसी दे दी गई थी। इस फाँसी के ढग का वर्णन करते हुए हिन्दी के सुप्रसिद्ध विद्वान पडित बालकृष्ण भट्ट, जिनकी आयु सन् १८५७ मे लगभग १५ वर्ष की थी, कहा करते थे कि अहियापुर मुहल्ले का रहने वाला एक मनुष्य समाचार सुन कर फाँसियाँ देखने के लिये चौक मे पहुँचा। जो अँगरेज फाँसी दिलवा रहा था उसने पूछा—'तुम क्यो खड़े हो?' उसने

उत्तर दिया—"सुना था कि यहाँ फाँसियाँ लग रही हैं, इसलिये केवल देखने आया था" साहब ने आज्ञा दी, इसे भी फाँसी दे दो। तुरन्त वह निर्दोष और चकित दर्शक एक नीम पर लटका दिया गया। जो काम सात नीम के वृक्षों पर चौक मे हो रहा था वही काम उस समय सैकड़ों अन्य वृक्षों पर इलाहाबाद और उसके आस-पास के इलाके में बड़ी निर्दयता के साथ किया जा रहा था।

नगर के कुछ लोगों ने बचने के लिये नावों मे बैठकर नगर से भाग जाना चाहा किन्तु किले के नीचे तोपे लगी हुई थी और अँगरेजी सेना किनारे मौजूद थी। नावो मे भागते हुए लोगों पर किनारे से गोलियों और गोलों की बौछार की गई और उन्हे वही समाप्त कर दिया गया। इलाहाबाद के अपने एक दिन के कृत्यों का वर्णन करते हुए एक अँगरेज अफसर लिखता है—

"एक यात्रा मे मुझे अद्भुत आनन्द प्राप्त हुआ। हम लोग एक तोप लेकर एक स्टीमर पर चढ़ गये। सिख और गोरे सिपाही शहर की तरफ बढ़े। हमारी नाव ऊपर को चलती जाती थी और हमने अपनी बन्दूको से गोलियाँ बरसानी शुरू की। मेरी पुरानी दो नली बन्दूक ने कई काले आदमियो को गिरा दिया। मै बदला लेने का इतना प्यासा था कि मैंने दाएँ और बाएँ ग्रामों मे आग लगानी शुरू की। लपटे आसमान तक पहुँचीं और चारो ओर फैल गईं। हवा ने उन्हे फैलाने मे सहायता दी, जिससे विदित होता था कि दगाबाज बदमाशों से बदला लेने का दिन आ गया है। प्रतिदिन हम लोग विद्रोही ग्रामो को जलाने और मिटा देने के लिये निकलते थे और हमने बदला ले लिया है। ××× लोगों का जीवन हमारे हाथो मे है और मैं तुम्हे

विश्वास दिलाता हूँ कि हम किसी को नही छोड़ते। ××× अपराधी को एक गाड़ी के ऊपर बैठाकर किसी पेड़ के नीचे ले जाया जाता है। उसकी गर्दन मे रस्सी का फन्दा डाल दिया जाता है। फिर गाड़ी हटा ली जाती है और वह लटका रह जाता है।"

इलाहाबाद के इस सर्वव्यापी सहार से माताएँ या बच्चे, बूढ़े या अपाहज, कोई न बच सके। इतिहास लेखक होम्स बड़े दुःख के साथ लिखा है—"बूढ़े आदमियों ने हमे कोई नुकसान न पहुँचाया था, असहाय स्त्रियों से, जिनकी गोद मे दूध-पीते बच्चे थे, हमने उसी तरह बदला लिया, जिस तरह बुरे से बुरे अपराधियों से।"

जिस स्थान का वर्णन चार्ल्स बाल के पूर्वोक्त उद्धरण मे किया गया है केवल उस एक स्थान के विषय मे इतिहास लेखक के स्वीकार करता है कि वहाँ पर छः हजार भारतवासियों का सहार किया गया। निःस्सन्देह अकेले इलाहाबाद के इलाके मे नील ने इतने भारतवासियो का संहार किया जितने ऑगरेज पुरुष, स्त्रियों और बच्चों का समस्त भारत के अन्दर भी सन १८५७-५८ भर मे विप्लवकारियो ने नही किया।

सर जान कैम्पबेल लिखता है—"और मै जानता हूँ कि इलाहाबाद मे बिल्कुल बिना किसी तमीज के कत्लेआम किया गया था। ×××और इसके बाद नील ने वे काम किये जो कत्लेआम से भी अधिक मालूम होते थे, उसने लोगों को जान बूझ कर इस प्रकार की यातनाएँ दे देकर मारा जिस प्रकार की यातनाएँ जहाँ तक हमे प्रमाण मिले है, भारतवासियों ने कभी किसी को नहीं दी।"

बनारस के समान इलाहाबाद के नगर पर भी अँगरेजों का फिर से अधिकार हो गया यद्यपि जनरल नील और उसके साथियों ने इलाहाबाद निवासियों से बदला चुकाने मे कोई कसर नहीं की, फिर भी चार्ल्स बाल लिखता है कि शहर और आस-पास के गॉव के लोगों ने ॲगरेजों का इतना बहिष्कार कर रखा था कि अपने मुर्दे और घायलो को ढोने के लिये उन्हे डोलियॉ अथवा मजदूर तक नही मिल रहे थे। कोई गॉव वाला उन्हे रसद देने के लिये तैयार न होता था! चार्ल्स बाल लिखता है कि जो कोई ॲगरेज का काम करता था देहाती उसके हाथ और नाक काट डालते थे। इसके ऊपर जून की गर्मी, नतीजा यह हुआ कि ॲगरेजी कैम्प मे हैजे की बीमारी शुरू हो गई।

कानपुर और नाना साहब

अब हम इलाहाबाद से हटकर सन् १८५७ की राष्ट्रीय योजना के उद्भव स्थान कानपुर की ओर आते हैं। घटनाओ का क्रम इस समय तक जैसा कहा गया है उसी के अनुसार कानपुर को घटनाओं की ओर पाठको को ले जाना हम इस समय उचित समझ रहे है।

नाना साहब, उसके दो भाई बाला साहब और बाबा साहब, नाना साहब का भतीजा राव साहब और चतुर अजीमुल्ला खॉ कानपुर मे विप्लव के प्रधान नेता थे। इसके अतिरिक्त प्रसिद्ध मराठा सेनापति तात्या टोपे भी जिसके अद्भुत पराक्रम का वर्णन कुछ और आगे बढ़कर किया जायगा, उस समय बिठूर मे नाना साहब के दरबार मे मौजूद था।

सर ह्यू व्हीलर कानपुर का अँगरेजी सेना का सेनापति था। व्हीलर के अधीन तीन हजार देशी सिपाही और लगभग एक सौ अँगरेज सिपाही थे। दिल्ली की स्वाधीनता का समाचार नाना साहब को १५ मई को मिला और सर ह्यू व्हीलर को १८ मई को। इस पर एक अँगरेज लेखक लिखता है—

"निस्सन्देह विप्लव के अत्यन्त आश्चर्यजनक पहलुओं मे से एक यह रहा कि भारतवासियों को दूर-दूर के स्थानों की समस्त महत्वपूर्ण घटनाओं की सूचना अत्यन्त शीघ्र और असन्दिग्ध रूप मे मिलती रहती है। खबर ले जाने वाले

मुख्यकर हरकारे होते हैं जो असाधारण वेग के साथ एक स्थान से दूसरे स्थान को सन्देश ले जाते है।"

दिल्ली के स्वाधीन हो जाने का समाचार जैसे ही कानपुर के निवासियों के कानों मे पहुँचा वैसे हो पूर्ण उत्साह के साथ हिन्दू और मुसलमान सभी बड़े-बड़े जलसे करने लगे। ऐसा कोई भी स्थान न रह गया था जहाँ किसी प्रकार का उत्सव न मनाया गया हो। ठीक ऐसे ही अवसर पर कानपुर की छावनी मे सिपाहियों की गुप्त सभाएँ होने लगी। स्कूलों, बाजारों और सार्वजनिक स्थानों मे आगामी स्वाधीनता के संग्राम की चर्चा होने लगी। फिर भी नाना साहब ने ३१ मई तक तक चुप रहने का निश्चय किया और सर ह्यू व्हीलर ने गङ्गा के दक्षिण मे एक नया स्थान घेर कर किलेबन्दी शुरू की, ताकि आवश्यकता के समय कानपुर के अँगरेज उसमे आश्रय ले सकें।

जिस समय व्हीलर अपने और सैनिकों के लिए आश्रय का स्थान बनाने का प्रयत्न कर रहा था उसी समय उसकी सहायता के लिए लखनऊ से कुछ और सेना कानपुर पहुँच गई। आश्चर्य की बात है कि उस समय तक भी अँगरेजो को नाना साहब पर पूर्ण विश्वास था। जब कि ३१ मई को कानपुर मे विप्लव करने की तैयारी मे नाना साहब और उनके सहायक लगे हुए थे तब उसके पहले ही व्हीलर ने नाना साहब को सन्देशा भेजा कि आप आकर कानपुर की रक्षा करने मे अँगरेजों का हाथ बटाइए। उस समय भी अर्थात २२ मई सन् १८५७ को नाना साहब ने कुछ सेना और दो तोपों के साथ बिठूर से निकल कर कानपुर नगर मे प्रवेश किया। व्हीलर ने कम्पनी का खजाना नाना साहब को सौंप दिया। नाना साहब ने अपने

दो सौ सिपाही खजाने पर पहरा देने के लिए नियुक्त कर दिये।

कम्पनी की देशी सेना के मुख्य नेता थे सूबेदार टीकासिंह और सूबेदार शम्सुद्दीन खॉ। नाना साहब के दो मुख्य विश्वस्त सहायक ज्वालाप्रसाद और मुहम्मदअली थे। इन चारो और नानासाहब तथा अजीमुल्ला खॉ मे प्रायः नावों मे बैठकर गङ्गा के ऊपर दो-दो घण्टे गुप्त मन्त्रणाए हुआ करती थी। सर ह्यू व्हीलर ने कम्पनी का मैगजीन भी नाना साहब की रत्ता मे छोड़ दिया था। कानपुर के अन्दर उस समय अँगरेज इतना डरे हुए थे कि २४ मई को रमजान के बाद की ईद थी, उसी दिन रानी विक्टोरिया की सालगिरह के उपलक्ष मे हमेशा तोपो की सलामी दी जाती थी। किन्तु २४ मई सन् १८५७ को कानपुर मे इसलिये कोई तोप नहीं छोड़ी गई कि कही उससे हिन्दुस्तानी सिपाही न भड़क उठें। एक अँगरेज अफसर लिखता हैं—"कि उस समय विप्लव की कोई झूठी अफवाह भी नगर मे उड़ जाती थी तो तुरन्त शहर के सब अँगरेज भागकर अपने बाल-बच्चो के साथ जनरल व्हीलर के नये किले मं जाकर जमा हो जाते थे।

४ जून की आधी रात को अचानक कानपुर की छावनी मे तीन फायर हुए। सिपाहियों को विप्लव के कार्य आरम्भ करने के लिये यही पूर्व निश्चित सूचना थी। सबसे आगे सूबेदार टीकासिंह घोड़े पर लपका। उसके पीछे सैकड़ों सवार और हजारों पैदल मैदान मे निकल आये। पूर्व निश्चय के अनुसार कुछ ने अँगरेजी इमारतों मे आग लगा दी, कुछ दूसरों को सूचना देने के लिए गये और कुछ ने जगह जगह से अगरेजी झण्डों

को गिराकर उनकी जगह हरे झण्डे फहरा दिये। नवाबगञ्ज मे नाना साहब का पड़ाव था। नाना साहब के सिपाही विप्लवकारियों के साथ मिल गये। ५ जून को सबेरे तक अँगरेजी खजाना और मैगजीन दोनों विप्लवकारियो के हाथों मे आ गये। भारतीय सेना और नगर-निवासियों ने मिलकर दिल्ली-सम्राट के अधीन नाना साहब को अपना राजा चुना। फौज के लिये अफसर और नगर के लिए शासक उसी समय चुने गये। ५ जून को ही हाथी के ऊपर दिल्ली सम्राट के झण्डे का जुलूस बड़े समारोह के साथ शहर तथा छावनी मे निलाका गया। इसके बाद नगर-निवासियों ने बड़े हर्ष के साथ नाना साहब की समस्त आज्ञाओं का पालन किया।

दिल्ली सम्राट के अधीन राजा चुने जाने के दूसरे दिन अर्थात् ६ जून को सबेरे नाना साहब ने जनरल व्हीलर को चेतावनी दी कि आज आप किला हमारे सुपुर्द कर दीजिये, नहीं तो सन्ध्या समय किले पर आक्रमण किया जायगा। उसी दिन सन्ध्या समय विप्लवकारी सेना ने अँगरेजी किले को घेरना आरम्भ कर दिया। कानपुर के प्रायः समस्त अँगरेज स्त्री, पुरुप और बच्चे उस समय इस किले के अन्दर मौजूद थे। चेतावनी देने के बाद जो अँगरेज किसी कारणवश किले से बाहर रह गये या कानपुर शहर में मौजूद थे, उन्हे मार डाला गया। नाना साहब के साथ तोपों की कमी न थी। नाना साहब की तोपों ने कानपुर के किले के अन्दर गोले बरसाने आरम्भ कर दिये। किले के अन्दर अँगरेज इतनी तेजी के साथ मरने लगे कि उस समय की इतिहास की पुस्तकों मे लिखा है कि उन्हे दफन करना तक कठिन हो गया।

किले के अन्दर केवल एक कुआँ था। नाना साहब की विप्लवकारी सेना ने उस कुएँ को निशाना बनाकर इस ढङ्ग से गोले बरसाये कि किले के अन्दर रहने वाले अनेक अगरेज-पुरुष और स्त्री पानी न मिलने के कारण प्यास से तपड़ने लगे। २१ दिन तक यह गोलाबारी रही। कुछ ऐसे भी लोग थे जो विप्लवकारियों के गोले से बच गये थे किन्तु पेचिस, बुखार और हैजे के चगुल मे पड़कर वे भी परलोक को सिधार गये। किले की दीवारों पर से कम्पनी की तोपे भी बड़े साहस और धैर्य के साथ अपना कार्य करती रही। विप्लवकारियों के कठिन पहरे के कारण अँगरेजों के लिए किसी भी प्रकार का सन्देशा बाहर भेज सकना अत्यन्त कठिन हो गया। फिर भी कम्पनी का एक वफादार हिन्दुस्तानी नौकर जनरल व्हीलर का सन्देशा लेकर लखनऊ पहुँचा। यह सन्देशा एक पत्ती के परों के नीचे बँधा हुआ था। कुछ अँगरेजी, कुछ लातीनी और कुछ फ्रान्सीसी भाषा मिली हुई थी। पत्र का शब्दार्थ केवल इतना ही था, "मदद ! मदद !!! हमे मदद भेजो, नही तो हम मर रहे है। हमे मदद मिल जाय तो हम आकर लखनऊ को बचा लेगे।"

इन्हीं सब बातो से पता चलता है कि उस समय कानपुर के किले मे रहने वाले अँगरेजों की वास्तविक स्थिति कैसी थी। और उस समय कितनी होशियारी के साथ नाना साहब के गुप्तचर काम करते थे और कितनी सुन्दरता के साथ वे अगरेजी किले के अन्दर के समाचार ला-लाकर नाना साहब के पास पहुँचाते थे।

जब कि अँगरेजी कैम्प की ऐसी बुरी हालत थी, तब नाना

साहब के पास चारों ओर के जमींदारों की ओर से धन और जन दोनों की सहायता धड़ाधड़ चली आ रही थी। नाना साहब और उसके समस्त साथियों तथा सहायकों का उत्साह बढ़ा हुआ था। नाना साहब के अधीन उस समय लगभग चार हजार सेना थी। कानपुर की हिन्दू और मुसलमान स्त्रियाँ उस समय अपने घरों से निकल-निकल कर गोला-बारूद इधर-उधर ले जाने, सैनिकों को भोजन पहुँचाने और ठीक अँगरेजी किले की दीवार के नीचे तोपचियों को मदद देने का काम कर रही थीं।

इन सब स्त्रियों मे उस समय कानपुर की एक वेश्या अजीजन का नाम अत्यन्त प्रसिद्ध है। एक इतिहास लेखक लिखता है कि—यह अजीजन हथियार बाँधे हुए घोड़े पर चढ़ी हुई बिजली के समान शहर की गलियों और छावनी मे दौड़ती फिरती थी। कभी वह गलियों के अन्दर थके हुए और घायल सिपाहियों को दूध और मिठाई बाँटती थी और कभी अँगरेजी किले के ठीक दीवार के नीचे लड़ने वालों के उत्साह को बढ़ाती थी।

ठीक उस समय जब कि अँगरेजी किले को घेर लेने का काम हो रहा था, नाना साहब ने शहर के शासन का पूरा प्रबन्ध किया। शहर के प्रमुख लोगों को जमा करके उनके बहुमत से हुलाससिंह नामक एक मनुष्य को मुख्य न्यायाधीश नियुक्त किया गया। फौज को रसद पहुँचाने का काम मुल्ला नामक एक मनुष्य के सुपुर्द कर दिया गया। दीवानी के मुकदमों के लिये ज्वालाप्रसाद, अजीमुल्ला खाँ और बाबा साहब की एक अदालत तुरन्त बना दी गई। इतिहास लेखक टामसन लिखता है कि—"अपराधियों को कड़े दण्ड दिये जाते थे और

नगर मे पूर्ण रूप से सुव्यवस्था और शान्ति दिखाई पड़ती थी।"

१८ जून और २३ जून को दो गहरे संग्राम हुए। अन्त मे कोई दूसरा उपाय न देखकर २५ जून सन् १८५७ को जनरल व्हीलर ने अपने किले के ऊपर सुलह का सुफेद झण्डा गाड़ दिया। नाना साहब ने तुरन्त लड़ाई बन्द कर दी। इसके साथ ही नाना साहब ने एक पत्र जनरल व्हीलर के पास भेजा जिसमे लिखा था—"रानी विक्टोरिया की प्रजा के नाम——जिन लोगों का डलहौजी की नीति के साथ कोई सम्बन्ध नहीं रहा है, और जो हथियार रख देने और आत्म-समर्पण कर देने के लिए तैयार है, उन्हे सुरक्षित इलाहाबाद पहुँचा दिया जायगा।"

२६ तारीख को दोनो ओर के प्रतिनिधियों मे बातचीत हुई इस बातचीत के सम्बन्ध मे यह एक बात ध्यान देने योग्य है कि यद्यपि अजीमुल्ला खॉ अंगरेजी भाषा का विद्वान था, फिर भी ज्यों ही अँगरेज प्रतिनिधि ने अँगरेजी मे बातचीत प्रारम्भ की, अजीमुल्ला ने उसका घोर विरोध किया। उसने अपने तर्क से अँगरेज प्रतिनिधियों का मस्तक ऐसा झुका दिया वे कुछ भी उत्तर न दे सके। अपनी प्रतिभा के कारण, अजीमुल्ला खॉ ने अँगरेज प्रतिनिधियों को विवश किया कि सारी बातचीत हिन्दुस्तानी मे की जाय। परिणाम यह हुआ कि सारी बातचीत हिन्दुस्तानी मे ही हुई।

अन्त मे किले के अन्दर के सब अँगरेजों ने अपने आपको नाना साहब के सुपुर्द कर दिया। किला, तोपखाना और भीतर के तमाम अस्त्र-शस्त्र तथा खजाना नाना साहब के हाथों मे दे दिया गया। नाना साहब की तरफ से वचन दिया गया कि

आत्म-समर्पण करने वाले समस्त अँगरेजों को नावों मे बैठा कर और मार्ग के लिये भोजन आदि का आवश्यक सामान देकर इलाहाबाद भेज दिया जायगा।

कहने की आवश्यकता नहीं कि उसी रात को चालीस बड़ी-बड़ी नावों का इन्तजाम कर दिया गया। रसद का पर्याप्त सामान भी रख दिया गया। २७ जून को सबेरे अँगरेजी झण्डा किले पर से उतार दिया गया और सम्राट बहादुरशाह का झण्डा बड़े सजधज के साथ उसी स्थान पर फहरा दिया गया। इसके बाद समस्त अँगरेजों को हाथियो और पालकियों मे बैठाकर किले से डेढ़ मील दूर सतीचौरा घाट पर पहुँचा दिया गया।

किन्तु इतने ही दिनों के अन्दर इलाहाबाद और उसके आस-पास के इलाके से असंख्य मनुष्य जिनके घर-द्वार, सगे-सम्बधियों और बाल-बच्चों को जनरल नील और उसके निर्दय सिपाहियों ने जलाकर राख के ढेर बना दिए थे, वे सब शरणार्थी के रूप मे कानपुर नगर मे आ-आकर एकत्रित हो रहे थे और अपने अपने दुःख भरे कथानक को आँसुओं को बहाते हुए लोगों से कहने लगे थे। इन लोगों के बयानों और इलाहाबाद मे कम्पनी के अँगरेज अफसर और उनकी दानवी सेना के क्रूर अत्याचारों को सुन-सुन कर कानपुर की सहृदय जनता और वहाँ की देशी सेना के सिपाहियों का क्रोध भड़कने लगा। इसका परिमाण कितना भयानक हुआ इसे हम अपने पाठकों को बता देना उचित समझते है।

२७ जून को सबेरे दस बजे नावे सतीचौरा घाट से अँगरेजों को लेकर चलने वाली थी। उस समय नाना साहब अपने महल मे था। घाट पर सिपाहियों और जनता की भीड़ थी।

कहा जाता है कि क्रोध से उन्मत्त सिपाहियों में से किसी एक ने पहले कर्नल ईवर्ट पर हमला किया। तुरन्त मार-काट शुरू हो गई। करीब-करीब समस्त अँगरेज इतिहास लेखक स्वीकार करते हैं कि ज्यों ही नाना साहब को इस दुर्घटना का समाचार मिला, उसने तुरन्त आज्ञा भेजी कि, "अँगरेज पुरुषों को मारो किन्तु बच्चों और स्त्रियों को कोई हानि न पहुँचाओ।" नाना साहब की आज्ञा के पहुँचते ही १२५ अँगरेज स्त्रियाँ और बच्चे कैद करके सौदाकोठी पहुँचा दिय गए। अँगरेज पुरुषों को लाइन बाँध कर सतीचौरा घाट पर खड़ा किया। उनमें से एक ने जो शायद पादरी था, प्रार्थना की कि मरने से पहले मुझे इजाजत दी जाय कि मैं अपने भाइयों को इञ्जील में से कुछ ईश्वर प्रार्थना पढ़ कर सुना दूँ। उसकी प्रार्थना स्वीकार कर ली गई।

जब वह प्रार्थना कर चुका तब हिन्दुस्तानी सिपाहियों ने समस्त अँगरेजों के सिर तलवार से कत्ल कर दिये। अँगरेज पुरुषों में से केवल चार एक नाव में बैठकर भाग निकले। इस प्रकार ७ जून को कानपुर के अन्दर जो लगभग एक हजार अँगरेज थे उनमें से २७ जून की शाम को केवल चार आदमी अपनी फुर्ती से और १२५ स्त्रियाँ और बच्चे नाना साहब की उदारता से जीवित रहे।

यह सभी को स्वीकार करना पड़ेगा कि निस्सन्देह सतीचौरा का हत्याकाण्ड किसी भी दृष्टिकोण से वीरोचित कार्यों के लिए प्रशंसा के योग्य नहीं था। निःशस्त्र मनुष्यों पर हथियार उठाना युद्ध के सदाचार में भी क्षमा के योग्य नहीं कहा गया है। इसके अतिरिक्त नाना साहब ने इन लोगों से प्राणदान का वादा भी

कर लिया था। दूसरी ओर हमे यह स्मरण रखना होगा कि सतीचौरा घाट के अमानुषिक अत्याचार की जिम्मेदारी एक दर्जे तक दानवी कृत्य करने वाले जनरल नील और उसके साथियों के उन सर्वापेक्षा अधिक वीभत्स अत्याचारों पर है जिन्होंने कानपुर के हिन्दुस्तानी सिपाहियों के मानवोचित आतरिक भावों को उचित ढङ्ग से काम मे लाने के लिए ठीक ठिकाने तक भी नही रहने दिया था। साधारण बुद्धि का ऐसा ही कोई मनुष्य होगा जिसमे प्रतिशोध की भावना न उत्पन्न होती हो। जब आज से ९० वर्ष पहले का यह कथानक पढ़ लेने पर हममे उत्तेजना उत्पन्न होने लगती है तब फिर भला उस समय के लोगों मे क्यों न उत्तेजना उत्पन्न हो और फिर उन लोगो मे जिनके परिवारों तथा सम्बन्धियों के साथ क्रूरता और निर्दयतापूर्ण दानवी अत्याचार किये गये हों।

नाना साहब ने कैदी अँगरेज स्त्रियों और बच्चों के साथ जिस प्रकार का व्यवहार किया उसके विषय मे अनेक झूठी अफवाहे उन दिनो भारत और इंगलैण्ड मे उड़ाई गई। उन सब झूठी अफवाहों को इस समय दुहराना हम उचित नहीं समझते। इस सम्बन्ध मे इतना कह देना ही पर्याप्त है कि बाद मे अँगरेजों का ही एक कमीशन इन इलजामों की जाँच करने के लिए नियुक्त हुआ। पूरी जाँच करने के बाद इस कमीशन ने फैसला दिया कि पूर्वोक्त तमाम अफवाहे बिल्कुल झूठी थी। इन अफवाहों के विषय मे जस्टिस मैक्कार्थी एक स्थान पर लिखता है—

"लोगों की क्रोधाग्नि को इस तरह की अफवाहें उड़ा-उड़ा कर भड़काया गया कि आम तौर पर स्त्रियों की बेइज्जती की गई और निर्दयता के साथ उनके अङ्ग-भङ्ग किये गये! सौभाग्य-

वश ये अफवाहें झूठी थी।XXXसच यह है कि सिवाय उनसे नाज पिसवाने के और किसी प्रकार का भी अपमान अँगरेज स्त्रियो का नहीं किया गया।XXXसाधारण अर्थों मे किसी स्त्री पर अत्याचार नहीं किया गया। न किसी अँगरेज स्त्री के कपड़े उतारे गये। न किसी की बेइज़्ज़ती की गई और न जान-बूझ कर किसी का अंग भंग किया गया।"

इतना ही नहीं, सतीचौरा घाट के हत्याकाण्ड के आरम्भ की गड़बड़ी में कुछ हिन्दुस्तानी सिपाही चार अँगरेज स्त्रियों को पकड़ कर ले गये थे। यह समाचार पाते ही नाना साहब ने तुरन्त उन सिपाहियों को कड़ा दड दिया और चारों अँगरेज स्त्रियों को उनसे वापस ले लिया। कैदी स्त्रियों और बच्चों के साथ नाना साहब का व्यवहार अत्यन्त उदार था। उन्हे खाने के लिये चपाती और गोश्त दिया जाता था। कोई कड़ी मेहनत उनसे नही ली जाती थी। बच्चो को दूध मिलता था और दिन मे तीन-तीन बार उन्हे हवा खाने के लिए बाहर आने की इजाजत थी। स्वय जनरल नील अपनी रिपोर्ट मे लिखता है—

"आरम्भ मे उन्हे खराब खाना दिया गया, किन्तु बाद मे उन्हे अच्छा खाना दिया जाने लगा। साफ कपड़े मिलने लगे और खिदमत के लिए नौकर दे दिये गये। इनमे से केवल कुछ स्त्रियों को अपने खाने भर के लिए थोड़ा सा आटा पीसना पड़ता था।" अब हम इन अँगरेज कैदियों से हटकर कानपुर के शेष वृत्तान्त की ओर आते है।

२८ जून सन् १८५७ को कानपुर नगर छावनी और आस-पास के इलाके पर से अँगरेजी राज्य के समस्त चिन्ह मिटाने के

पश्चात् नाना साहब ने एक बड़ा दरबार किया। छः पलटन पैदल दो पलटन सवार, अनेक जमीदार और असंख्य जनता इस दरबार मे उपस्थित थी। सब से पहले सम्राट बहादुरशाह के नाम पर १०१ तोपों की सलामी हुई। इसके बाद २१ तोपों की सलामी नाना साहब की हुई। नाना साहब ने सिपाहियों और जनता को धन्यवाद दिया। एक लाख रुपये बतौर इनाम के फौज मे बाँटे गये। दरबार के बाद नाना साहब कानपुर से बिठूर गये। बिठूर मे पहली जुलाई सन् १८५७ को नाना साहब धुन्धपत विधिवत् पेशवा की गद्दी पर बैठा। इस प्रकार सन् १८५७ के महान विप्लव मे क्षण भर के लिए पेशवा की मृतप्राय सत्ता फिर से जीवन लाभ करती हुई दिखाई देने लगी।

कहने की आवश्यकता नही कि जिस समय नाना साहब पेशवा की गद्दी पर बैठा था उस समय जनता यही कहने लगी थी कि परमात्मा की असीम दया से फिर से धर्म-राज्य स्थापित हो गया। अंगरेजों के कारण जो जनता सभी प्रकार के कष्टों का अनुभव कर रही थी उसने विश्वास कर लिया कि अब उसके कष्टों का अन्त हो गया। जिधर दृष्टि जाती थी उधर ही जनता के अन्दर एक नया उत्साह दिखाई पड़ता था।

झाँसीकी रानी और लखनऊकी बेग़म

कानपुर के वृत्तान्त के बाद अब हम अपने पाठकों को झाँसी की ओर ले जाना चाहते है। यह हम पहले ही बतला चुके है कि किस प्रकार लार्ड डलहौजी ने राजा गगाधरराव के दत्तक पुत्र बालक दामोदरराव के उत्तराधिकार को नाजायज कह कर झाँसी की रियासत को जबर्दस्ती कम्पनी के राज्य मे मिला लिया था।

गगाधरराव की मृत्यु के बाद १३ मार्च सन् १८५४ को झाँसी की रियासत के कम्पनी के राज्य मे मिलाये जाने की घोषणा प्रकाशित हुई। समस्त प्रजा मे इस घोषणा से घोर असन्तोष उत्पन्न हो गया। विधवा रानी लक्ष्मीबाई ने, जिसकी आयु उस समय १८ वर्ष की थी और जिसने अपने बालक पुत्र की ओर से असाधारण योग्यता के साथ राज्य का समस्त कार्य सम्भाल लिया था, इस घोषणा का विरोध किया। किन्तु उसके विरोध की कुछ भी सुनवाई न हुई और न भविष्य के लिए कोई आशा ही रही। इतना ही नहीं, राजा गगाधरराव मरते समय जो लगभग साढ़े चार लाख रुपये के जवाहरात, और ढाई लाख रुपये नकद छोड़ गया था, लार्ड डलहौजी ने इस समस्त सम्पत्ति को जबर्दस्ती छीन कर कम्पनी के खजाने मे जमा कर लिया और कहा कि जब दामोदरराव बालिक होगा तब यह सब धन उसे तुरन्त दे दिया जायगा। डलहौजी ने स्पष्ट लिखा कि दत्तक पुत्र को बालिग होने पर

पिता की इस निजी सम्पत्ति को प्राप्त करने का अधिकार होगा, किन्तु गद्दी का कभी नही।

रानी लक्ष्मीबाई को इस समस्त सम्पत्ति और राज्य के बदले मे पॉच हजार रुपये मासिक पेनशन देने का वादा किया गया। वादे को रानी ने तिरस्कार के साथ अस्वीकार किया। विधवा रानी के साथ इससे भी कहीं अधिक अन्याय किया गया। इतिहास लेखक सर जान के लिखता है—

“उस पर दोषारोपण किये गये, क्योंकि हम लोगों मे यह प्रथा है कि X पहले किसी देशी नरेश का राज्य ले लेते हैं और फिर पद-च्युत नरेश या उसके उत्तराधिकारी की झूठी बुराइयॉ करने लगते है। कहा गया कि रानी लक्ष्मीबाई केवल बच्ची है और दूसरों के प्रभाव मे रहती है। यह भी कहा गया कि रानी को नशा का व्यसन है। यह बात कि रानी केवल बच्ची नही है, उसकी बातचीत से पूरी तरह साबित है, और उसके नशा करने की बात बिल्कुल झूठी कल्पना मालूम होती है।”

निःसन्देह किसी भी मनुष्य के साथ और विशेषकर किसी स्त्री के साथ इससे बढ़कर अन्याय नही किया जा सकता। रानी लक्ष्मीबाई के व्यक्तिगत चरित्र के विषय मे हम केवल एक विद्वान् अँगरेज की राय इस स्थल पर और उद्धृत करते हैं, जो उस समय लक्ष्मीबाई के रहन-सहन इत्यादि से भली भॉति परिचित था। मेजर मैलकम ने १६ मार्च सन् १८५५ को गवर्नर जनरल के नाम पर एक सरकारी पत्र मे लिखा था—“रानी का चरित्र अत्यन्त उच्च है और झॉसी मे हर मनुष्य उसे अत्यन्त आदर की दृष्टि से देखता है।”

उस समय के समस्त इतिहास से यह साबित है कि लक्ष्मीबाई वास्तव मे अत्यन्त सुचरित्र, योग्य वीर और असाधारण बुद्धि की स्त्री थी। युद्ध-विद्या मे वह अत्यन्त निपुण थी उसके माता-पिता बिठूर मे पेशवा के दरबार मे रहा करते थे। लिखा है कि बिठूर के दरबार मे कुमारी लक्ष्मीबाई अत्यन्त सर्वप्रिय थी। छोटी आयु मे ही निशानेबाजी और शस्त्रों के उपयोग मे अत्यन्त निपुण हो गई थी। सात वर्ष की अल्पावस्था मे वह घोड़े की बड़ी दक्ष सवार थी और प्रायः नाना साहब और उनके भाइयों के साथ शिकार के लिये जाया करती थी।

वीर लक्ष्मीबाई झाँसी की गद्दी के इस अपमान और झाँसी की प्रजा के साथ इस अन्याय को सहन न कर सकी। सन् १८५७ के स्वाधीनता-सग्राम की एक मुख्यतम नेत्री थी। पूर्व निश्चय के अनुसार ४ जून सन् १८५७ को झाँसी मे विप्लव आरम्भ हुआ। कम्पनी की सेना सन् १८५४ की घोषणा के बाद ही झाँसी पहुँच चुकी थी और कम्पनी का राज्य स्थापित हो चुका था। ४ जून को सब से पहले १२ नम्बर देशी पलटन के हवलदार गुरुबख्शसिह ने किले के मेगजीन और खजाने पर अधिकार कर लिया। उसके बाद रानी लक्ष्मीबाई ने महल से निकल कर और शस्त्र धारण कर स्वय विप्लवकारी सेना का सेनापतित्व ग्रहण किया। उस समय लक्ष्मीबाई की आयु केवल २१ वर्ष की थी। ७ जून को रिसालदार कालेखॉ और तहसीलदार मुहम्मद हुसेन ने रानी की ओर से किले पर आक्रमण किया। किले के अन्दर की हिन्दुस्तानी सेना ने भी साथ दिया। ८ जून को कहा जाता है कि रिसालदार कालेखॉ की आज्ञा से किले के अन्दर के ६७ अँगरेज, जिनमे पुरुष, स्त्रियॉ और बच्चे शामिल थे,

कत्ल कर दिये गये। इतिहास लेखक सर जान के लिखता है कि इस हत्याकाण्ड से रानी लक्ष्मीबाई का कोई सम्बन्ध न था। न उसका कोई आदमी मौके पर मौजूद था और न उसने उसकी इजाजत दी थी। अन्त मे उसी दिन झाँसी पर से कम्पनी का राज्य हटा दिया गया। बालक दामोदर के वली की हैसियत से रानी लक्ष्मीबाई फिर से झाँसी की गद्दी पर बैठी। कम्पनी के झण्डे की जगह दिल्ली सम्राट की पताका झाँसी के किले पर फहराने लगी। सारी रियासत मे ढिंढोरा पिटवा दिया गया— "खल्क खुदा का, मुल्क बादशाह (अर्थात् दिल्ली के सम्राट) का हुकुम रानी लक्ष्मीबाई का।"

सन् १८५७-५८ के सब से अधिक भयङ्कर संग्राम अवध की धरती पर लड़े गये। अवध की सल्तनत के अँगरेजी राज्य मे मिलाये जाने और अवध निवासियों के दुःखों और शिकायतो का वर्णन हम पहले ही कर चुके है जो पाठकों को स्मरण होगा। अब हमे इतना ही कहना है कि अवध के जमीदारों, वहाँ की पुलिस, वहाँ की फौज और करीब-करीब समस्त जनता ने स्वाधीनता के उस महायुद्ध की सफलता पर अपना सर्वस्व लगा दिया था। वास्तव मे विप्लव की तैयारी कही भी इतनी अच्छी न थी जितनी कि अवध मे थी। हजारों मौलवी और हजारों पण्डित एक-एक बारिग और एक-एक गाँव मे आगामी युद्ध के लिए लोगों को तैयार करते फिरते थे।

सर हेनरी लारेन्स अवध का चीफ कमिश्नर था। लखनऊ छावनी के कुछ सिपाही मगल पाडे की फाँसी के बाद अपने आपको रोक न सके। मई के प्रारम्भ मे वहाँ पर अँगरेजों के कुछ

मकान जला दिये गये। चार्ल्स बाल लिखता है कि—"३ मई को सात नम्बर पलटन के सात उच्छृङ्खल सिपाही लेफ्टिनेण्ट मीकम के खेमे में पहुँचे और कहने लगे—"हमे आपसे कोई निजी झगड़ा नही है किन्तु आप फिरंगी है, इसलिए हम आपको मार डालेगे।" भयभीत किन्तु चतुर लेफ्टिनेण्ट ने उनसे दया की प्रार्थना की और कहा—"मुझ एक गरीब आदमी को मारने से आपको क्या लाभ होगा, आपकी शत्रुता तो इस राज्य से है।" दया मे आकर सिपाहियों ने उसे छोड़ दिया किन्तु यह समाचार तुरन्त सर हेनरी लारेन्स तक पहुँचा। उसने एक गोल से सात नम्बर पलटन के हथियार रखा लिया।"

१२ मई को सर हेनरी लारेन्स ने एक बहुत बड़ा दरबार किया, जिसमे उसने हिन्दुस्तानी भाषा मे एक जोरदार भाषण किया। इस जोरदार भाषण मे उसने हिन्दू और मुसलमान सिपाहियों को कम्पनी सरकार की वफादारी का महत्व दर्शाया। उसने मुसलमान सिपाहियो से कहा कि पञ्जाब मे महाराजा रणजीतसिंह ने इस्लाम धर्म की कितनो तौहीन की थी और हिन्दुओ को यह याद दिलाया कि सम्राट औरंगजेब ने हिन्दू धर्म पर किस तरह कुठार चलाया था, और दोनों को बतलाया कि केवल अँगरेज ही एक दूसरे से तुम्हारी रक्षा कर सकते है। इसके बाद उसने खैरखाह सिपाहियों को दुशाले, तलवारे और और पगड़ियाँ इनाम मे दी, किन्तु इन सब बातो का परिणाम और अधिक बुरा हुआ। हिन्दू और मुसलमान सिपाहियों को और पूरी तरह दिखाई दिया कि अँगरेज किस प्रकार हमे पुराने झगड़ो की याद दिला कर और एक दूसरे से लड़ाकर दोनों को पराधीन बनाये रखना चाहते है।

१३ मई को मेरठ के विप्लव का समाचार लखनऊ पहुँचा। १४ मई को दिल्ली की स्वाधीनता का समाचार आया। सर हेनरी लारेन्स ने अब लखनऊ शहर के निकट दो स्थानों मे खास तौर पर किलेबन्दी शुरू कर दी, ताकि आवश्यकता के समय लखनऊ के अॅगरेज इनमे आश्रय ले सके—एक मच्छी भवन और दूसरे रेजिडेन्सी। लखनऊ की समस्त अॅगरेज स्त्रियाँ और बच्चे इन स्थानों मे पहुँचा दिये गये और समस्त अंगरेज पुरुषों को फौजी कवायद सीखने का हुकुम हो गया।

अवध की सरहद नैपाल से मिली हुई है। सर हेनरी लारेन्स ने विशेष दूत भेज कर नैपाल दरबार के प्रधान मन्त्री सेनापति जगबहादुर से प्रार्थना की कि आप इस सङ्कट मे अपनी सेना से अॅगरेजो की सहायता कीजिए।

ठीक ३० मई की रात को ९ बजे छावनी की तोप छुटी। विप्लव के आरम्भ होने का यही चिन्ह नियत था। सबसे पहले ७१ नम्बर पलटन की बन्दूकों की आवाज सुनाई दी। अॅगरेज के बगले जला दिये गये। जो अॅगरेज मिला, उसे मार डाला गया। ३१ मई को सवेरे हेनरी लारेन्स ने कुछ गोरी सेना और ७ नम्बर देशी सवार पलटन को साथ लेकर विप्लवकारियों पर आक्रमण किया। उस समय तक ७ नम्बर पलटन अॅगरेजों की ओर थी, किन्तु मार्ग मे ही इस पलटन ने भी कम्पनी का झण्डा फेंक कर हरा झण्डा हाथ मे ले लिया। उन सबों को वही छोड़ कर अपने थोड़े से अॅगरेज सिपाहियों के साथ लारेन्स को रेजिडेन्सी मे आकर शरण लेनी पड़ी। ३१ मई के सन्ध्या समय तक ४८ और ७१ नम्बर पैदल और ७ नम्बर सवार और अन्य देशी पलटनों मे भी स्वाधीनता का हरा झण्डा फहराने लगा।

लखनऊ से लगभग ५० मील उत्तर-पश्चिम मे सीतापुर है। वहाँ पर कम्पनी की तीन देशी पलटनें थी। ३ जून को इन पलटनों ने कम्पनी का झण्डा फेंककर हरा झण्डा हाथ मे ले लिया। उन्होंने खजाने पर अधिकार कर लिया और जो अँगरेज मिला उसे मार डाला। कहा जाता है कि २४ अँगरेज सीतापुर मे मारे गये और कुछ ने आस-पास के जमीदारों के यहाँ जाकर आश्रय ग्रहण किया।

सीतापुर को स्वाधीन करने के बाद वहाँ के सिपाही फर्रुखाबाद पहुँचे। कम्पनी ने फर्रुखाबाद के नवाब तफज्जलहुसेन खाँ को गद्दी से उतार दिया था। फर्रुखाबाद के किले मे बहुत से अँगरेजो ने शरण ले ली थी। एक प्रकार के भयानक सग्राम करने के बाद विप्लवकारियों ने फर्रुखाबाद के किले पर अधिकार कर लिया, वहाँ के समस्त अँगरेजो को मार डाला और पदच्युत नवाब को फिर से वहाँ की गद्दी पर बैठा दिया। पहली जुलाई तक फर्रुखाबाद की रियासत मे एक भी अँगरेज शेष न था।

मुहम्मदी, मालन, बहरायच, गोंडा, सिकरोरा, मेलापुर इत्यादि आस-पास के समस्त इलाके १० जून सन् १८५७ तक पूर्ण रूप से स्वतन्त्र हो गये। स्थान-स्थान पर अनेक अँगरेज मारे गये, अनेक भाग निकले और कुछ को आस-पास के जमीदारों ने अपने कहाँ शरण दी।

यहाँ पर यह बात विशेष रूप से ध्यान देने योग्य है कि अवध के जिन जमीदारों और ताल्लुदारों ने इस अवसर पर स्वाधीनता के संग्राम मे खुले तौर से भाग लिया, उनमे से अनेक ने अपने महलों के अन्दर अँगरेज अफसरों और बच्चों को शरण देने मे

बड़ी उदारता दिखलाई। उस समय के बचे हुए अनेक अँगरेजों के पत्रों और रिपोर्टों मे इसका उल्लेख पाया जाता है।

अवध के पूर्वी भाग मे फैजाबाद का नगर सब से प्रधान था। सर हेनरी लारेन्स ने स्वीकार किया है कि फैजाबाद जिले के ताल्लुकेदारों के साथ अँगरेजों ने घोर अन्याय किया। उनमे से कुछ की पूरी जागीरे छीन ली गई थी और कुछ के आधे गॉव बिना किसी कारण के ले लिए गये थे। मौलवी अहमदशाह, जिसका थोड़ा सा परिचय हम पहले ही दे आये हैं, इन्ही पदच्युत ताल्लुकेदारों मे से था। अवध की सल्तनत के छिनने के समय से मौलवी अहमदशाह ने अपने जीवन का समस्त समय इस स्वाधीनता के महायुद्ध की तैयारी मे लगा रखा था। फैजाबाद से लखनऊ और आगरे तक वह बराबर दौरे करता रहता था। विप्लव की आवश्यकता पर उसने अनेक स्थानों मे उत्तेजक भाषण दिए और अनेक पत्रिकाएँ लिखी। अँगरेजों को जिस समय इसका पता चला उस समय उन्होने मौलवी अहमदशाह की गिरफ्तारी की आज्ञा दी। अवध की पुलिस ने उसे गिरफ्तार करने से इकार किया। इसलिए फौज भेजनी पड़ी। अहमदशाह पर बगावत का मुकदमा तुरन्त चलाया गया। उसे फॉसी का हुकुम सुना दिया गया और फॉसी की तारीख तक के लिए उसे फैजाबाद के जेलखाने मे बन्द कर दिया गया।

मौलवी अहमदशाह की गिरफ्तारी ने फैजाबाद के इलाके भर मे आग लगा दी। फैजाबाद के शहर मे उस समय दो पैदल पलटन, कुछ सवार और थोड़ा-सा तोपखाना था। तुरन्त फैजाबाद के सिपाहियो और जनता ने मिल कर स्वतन्त्रता का झण्डा खड़ा कर दिया। परेड के ऊपर देशी सिपाहियों ने अपने

अँगरेज अफसरों से साफ कह दिया कि इस समय के बाद हम केवल अपने हिन्दुस्तानी अफसरों की आज्ञा का पालन करेंगे। सूबेदार दलीपसिंह ने तुरन्त आगे बढ़कर समस्त अँगरेज अफसरों को कैद कर लिया। जेलखाने की दिवारें तोड़ दी गई। मौलवी अहमदशाह की बेड़ियाँ काट डाली गईं। फैजाबाद के समस्त सिपाहियों और जनता ने मौलवी अहमदशाह को अपना नेता चुना। मौलवी अहमदशाह ने फैजाबाद के समस्त अँगरेज को लिख भेजा कि आप सब लोग तुरन्त फैजाबाद छोड़ दीजिए। उसने सब अँगरेजों को नावों मे बैठाकर फैजाबाद से रवाना कर दिया। उन्हें मार्ग के लिए खाने-पीने का सामान और कुछ मार्ग का व्यय तक भी दे दिया गया। फैजाबाद शहर मे शान्ति और व्यवस्था का प्रबन्ध तुरन्त कर दिया गया। ९ जून को प्रातःकाल शहर और आस-पास के इलाके मे घोषणा कर दी गई कि अब से कम्पनी की हुकूमत का अन्त हो गया है और वाजिद अली शाह की हुकूमत फिर से कायम हो गई।

शाहगज के ताल्लुकेदार राजा मानसिंह को इससे पूर्व मालगुजारी के कुछ झगड़े मे अँगरेज कैद कर चुके थे। मानसिंह इस समय विप्लव के नेताओं मे से था, फिर भी उसने विप्लव के अन्य नेताओं की इजाजत से २९ अँगरेज स्त्रियों और बच्चों को अपने किले के अन्दर तक सुरक्षित रखा। मौलवी अहमद शाह की आज्ञा के अनुसार खास फैजाबाद के शहर मे एक भी अँगरेज नहीं मारा गया।

फैजाबाद के बाद ९ जून को सुलतानपुर और दस जून को सालोनी मे स्वाधीनता का हरा झण्डा फहराने लगा। सालोनी

के जमींदार सरदार रुस्तमशाह और काला के राजा हनुमन्तसिंह दोनों ने प्रतिज्ञा कर ली थी कि बिना अँगरेजी-राज्य को हिन्दुस्तान से मिटाये, विश्राम न लेंगे। फिर भी इन दोनों भारतीय नरेशों ने अपने आश्रित अँगरेजों और उनके बाल-बच्चों के साथ साधारण उदारता का व्यवहार किया। राजा हनुमन्तसिंह के विषय मे इतिहास लेखक मालेसन लिखता है—"इस उदार राजपूत की अधिकांश जागीर अँजरेजों की नई लगान पद्धति के कारण छीनी जा चुकी थी। वह इस अन्याय और अपमान को बहुत महसूस करता था। फिर भी वह स्वभाव से इतना उदार था कि जिस कौम ने उसको करीब-करीब बर्बाद कर दिया था, उस कौम के भागे हुए अफसरों के साथ वह वैसा ही व्यवहार करता था, जैसा किसी भी दुःखित मनुष्य के साथ। उसने मुसीबत मे उनकी सहायता की, उसने उन्हे उनके स्थानों पर सुरक्षित पहुँचा दिया। किन्तु जब बिदा होते समय कप्तान बैरो ने राजा हनुमन्तसिंह से कहा कि—"मुझे आशा है, आप इस विप्लव के शान्त करने मे अँगरेजों की सहायता करेंगे।" तब तो राजा हनुमन्तसिंह सीधा खड़ा हो गया और बोला—"साहब! तुम्हारे मुल्क के लोग हमारे मुल्क मे घुस आये और उन्होंने हमारे बादशाह (वाजिद अलीशाह) को निकाल दिया। तुमने अपने अफसरों को जिलों मे भेजा ताकि वे पुराने रईसो और जमीदारों के पट्टों की जॉच करे। एक बार ही मे तुमने मुझसे वे सब जमीने छीन लीं जो चिरकाल से मेरे कुटुम्ब मे चली आती थीं। मैने सब सहन कर लिया। अचानक तुम सब पर यह आफत आई, तुमने मुझे बर्बाद किया था और तुम मेरे ही पास आये मैने तुम्हे बचा दिया। किन्तु अब—अब मै अपनी

समस्त सेना इकट्ठी करके लखनऊ जा रहा हूँ और तुम्हे मुल्क से बाहर निकालने की कोशिश करूँगा।"

इतिहास से पता चलता है कि उस समय अवध के अन्दर अनेक हिन्दू और मुसलमानों के विचार हनुमन्तसिंह के विचारों के ही समान अँगरेजों के विरुद्ध उग्र हो रहे थे किन्तु इतना सब होने पर भी वे सब हिन्दू और मुसलमान समान रूप से हनुमन्तसिंह के ही आदर्श के थे अर्थात् उन सबों मे जितना प्रबल स्वाधीनता का प्रेम था उतनी ही आदर्शमयी वीरोचित उदारता भी थी। सारांश यह कि ३१ मई और १० जून के बीच केवल लखनऊ शहर के एक भाग को छोड़ कर समस्त अवध अँगरेजी राज्य के चगुल से निकल गया। इतिहास का प्रसिद्ध विद्वान फारेस्ट लिखता है—

"इस प्रकार दस दिन के भीतर अवध से अँगरेजी राज्य स्वप्न की तरह मिट गया। उनका कोई अवशेष तक बाकी न रहा। फौज ने हमारे विरुद्ध विद्रोह किया। जनता ने पराधीनता की बेड़ियाँ तोड़ कर फेक दी किन्तु उनमे से किसी ने बदला नहीं लिया, किसी ने अन्याय नही किया। एक दो अपवादो को छोड़ कर शेष समस्त वीर और विद्रोही जनता ने भागते हुए अँगरेजों के साथ स्पष्ट दयालुता का व्यवहार किया। अवध-निवासियो के जिन शासकों (अर्थात् अँगरेज अफसरों) ने अपनी सत्ता के दिनों मे अत्यन्त अच्छी (?) नीयत से अनेक लोगों के साथ घोर अन्याय किया था, उन शासकों का जब पतन हो गया तब अवध-निवासियों ने उनके साथ अपने व्यवहार मे उच्च श्रेणी की उदारता और दयालुता का व्यवहार किया। अवध-निवासियो के ये गुण साफ चमकते हुए दिखाई दे रहे थे।"

लार्ड डलहौजी का बयान है कि वाजिदअली शाह के अत्याचारों से अवध की प्रजा दुःखी थी! किन्तु जिस प्रकार सन् १८५७ मे समस्त अवध के जमीदारों जागीरदारों, राजाओ, सिपाहियों, किसानो, सौदागरों, सारांश यह कि समस्त हिन्दू और मुसलमानों ने वाजिदअली शाह को फिर से अवध के सिंहासन पर बैठाने के लिए दस दिन के भीतर अवध से अँगरेजी राज्य को उखाड़ कर फेंक दिया, उससे वाजिदअली शाह के शासन की सर्वप्रियता और कम्पनी के शासन की अप्रियता दोनों का साफ पना चल जाता है। अवध के अन्दर उस समय एक गाँव भी ऐसा न बचा होगा जिसने कम्पनी के झण्डे को फाड़ कर न फेंक दिया हो।

अवध के भिन्न-भिन्न भागो से जमींदारों के सिपाही और स्वयसेवक सहस्रों की सख्या मे अब लखनऊ मे बेगम हजरत महल के झण्डे के नीचे आकर इकट्ठ होने लगे। अवध निवासियों की इस स्वाधीनता की लड़ाई मे बेगम हजरत महल के अधीन अवध की अनेक स्त्रियाँ तक मर्दाना भेप पहन कर और हथियार बाँध कर अपने अलग दल बना कर लड़ रही थीं। लखनऊ शहर का एक भाग अभी तक अँगरेजों के अधिकार मे था। दो पलटन सिखों की, एक पलटन गोरों की और कुछ तोपखाना इस समय लारेन्स के पास था। कानपुर के अँगरेजी किले को विप्लवकारियों का समूह अभी तक घेरे हुए था। कानपुर मे अँगरेजो के पराजित होने का समाचार २८ जून को लखनऊ पहुँचा। लखनऊ के विप्लवकारियों ने अँगरेजों पर आक्रमण करने के लिए चिनहट नामक स्थान पर धावा बोल दिया।

कानपुर की पराजय का समाचार सुन कर सर हेनरी लारेन्स

का साहस उसका साथ छोड़ चुका था। २९ जून को लोहे के पुल के पास कम्पनी की सेना जमा हुई। एक अत्यन्त घमासान संग्राम हुआ। अन्त मे हार कर सर हेनरी लारेन्स को पीछे हटना पड़ा। अँगरेजों की तोपे मैदान मे रह गईं। सर हेनरी लारेन्स को लौट कर रेजीडेन्सी मे आश्रय लेना पड़ा। इसके बाद विप्लवकारियों ने मच्छी भवन और रेजीडेन्सी दोनो को घेर लिया। अँगरेजों ने मच्छी भवन के मैगजीन मे आग लगा दी। मच्छी भवन भी विप्लवकारियों के अधिकार मे आ गया।

लखनऊ के अन्दर समस्त अँगरेजी सत्ता अब रेजीडेन्सी के मकान मे कैद हो गई। उसमे लगभग एक हजार और आठ सौ हिन्दुस्तानी थे। अस्त्र-शस्त्र और खाने-पीने का सामान प्रर्याप्त था। विप्लवकारियो ने चारो ओर से रेजीडेन्सी को घेरे रखा। लखनऊ के शेष नगर और समस्त अवध पर वाजिदअली शाह के पुत्र शाहजादे बिरजिस कद्र की ओर से बेगम हजरत महल का शासन कायम हो गया।

इतिहास लेखक मालेसन लिखता है—"समस्त अवध ने हमारे विरुद्ध हथियार उठा लिये थे। न केवल बाजाब्ता फौज ही बल्कि पदच्युत नवाब की फौज के साठ हजार आदमी, जमींदार उनके सिपाही, ढाई सौ किले—जिनमे बहुतो पर भारी तोपे लगी हुई थी सब के सब हमारे विरुद्ध खड़े हो गये। इन लोगों ने कम्पनी के शासन को अपने नवाबों के शासन के साथ तोल कर देख लिया था और एक मत से यह फैसला कर लिया था कि उनके अपने नवाबों का शासन कम्पनी के शासन से बेहतर था।"

— —

सन् ५७ के पंजाबी और सिख

अभी तक हमने जो कुछ वर्णन किया है उससे पाठक यह भली भाँति समझ गये होगे कि १८५७ के विप्लव को दबाने के लिए उस समय के गवर्नर जनरल लार्ड कैनिंग ने किन-किन उपायो को काम मे लाने का प्रयत्न किया था और किस प्रकार उनके आदेश का पालन करते हुए जनरल नील ने बनारस और इलाहाबाद मे क्रूरता के साथ नर-सहार के कार्य आरम्भ कर दिये थे किन्तु वे सब क्रूरता के कार्य ही भारत मे अँगरेजी-सत्ता स्थापित करने वाले अँगरेजों के लिए घातक प्रमाणित हुए। इतना ही नही, परिणाम यह हुआ कि कानपुर, झाँसी, सीतापुर, फर्रुखाबाद, फैजाबाद, सुलतानपुर और लखनऊ आदि सभी स्थानो मे उस समय की स्वाधीनता का हरा झण्डा फहराने लगा और कम्पनी का जो झण्डा था वह विप्लवकारियों द्वारा फाड़ कर फेक दिया गया।

अब हम उन सब घटनाओं का वर्णन करेंगे जिनका सम्बन्ध दिल्ली, पञ्जाब और उत्तर-पश्चिमी इलाके से है। पाठकों को यह बात नही भूलनी चाहिये कि सन् १८५७ के महान् विप्लव की योजना करने वालों के दृष्टिकोण से उस स्वाधीनता के समस्त महायुद्ध का केन्द्रस्थल उस समय दिल्ली ही था। सम्राट बहादुरशाह के नाम पर विप्लव का श्रीगणेश किया गया था। उस समय की जनता के हृदय पर आसन ग्रहण करने वाला सम्राट बहादुरशाह ही समस्त विप्लवकारियों

की सुनहली आशाओं का मुख्य केन्द्र-बिन्दु था और बहुत अंशों मे यह सत्य भी था कि दिल्ली की सफलता पर भारत की स्वाधीनता का निर्भर होना स्वभावतः स्वयसिद्ध था।

इसीलिए समस्त भारत के अँगरेजों और विप्लवकारियों, दोनों की ही दृष्टि दिल्ली पर ही लगी हुई थी। समस्त भारत से सेनाएँ आ-आकर दिल्ली मे इकट्ठी हो रही थी और भारत के भिन्न-भिन्न भागों से उस समय की अँगरेजी कम्पनी के खजाने ला-लाकर सम्राट बहादुरशाह के चरणों पर अर्पण कर देती थी। इसी प्रकार अँगरेजों ने भी दिल्ली को फिर से जीत लेने के लिए अपनी पूरी शक्ति लगा देना उचित समझ लिया था। हम यह समझ रहे है कि पाठकों का हृदय दिल्ली की घटनाओ को जान लेने के लिए उत्सुक हो रहा होगा किन्तु विषय की गम्भीरता को पूर्ण रूप से समझने के लिए हम पाठकों से यही निवेदन करेगे कि वे अधिक अधोर न हों। इसका कारण यही है कि दिल्ली के महत्वपूर्ण स्वाधीनता के महायुद्धों का वर्णन करने से पहले हमे उत्तर-पश्चिमी भारत और पञ्जाब की ओर एक दृष्टि अवश्य डालनी होगी। क्योंकि वह मानी हुई बात है कि स्वाधीनता-सग्राम मे भारतीयों को असफल बनाने के लिए उसी ओर से ही अँगरेजों ने सम्राट बहादुरशाह, समस्त विप्लवकारी समुदाय और दिल्ली पर आक्रमण करने का आयोजन किया था।

जिस समय गवर्नर जनरल लार्ड कैनिंग ने मेरठ और दिल्ली के स्वाधीन हो जाने के समाचार को सुना, उस समय वह अपने कर्तव्य को निश्चय कर सकने मे समर्थ न हुआ। कुछ भी हो, विशेष रूप से विचार कर लेने के बाद उसने

एक ओर मद्रास, कलकत्ता, रंगून आदि स्थानों से फौज जमा करके जनरल नील के अधीन बनारस और इलाहाबाद की ओर रवाना कर दिया और दूसरी ओर कमाण्डर-इन-चीफ (प्रधान सेनापति) ऐनसन को, जो उस समय शिमले में था, पञ्जाब से सेना इकट्ठी कर लेने के बाद तुरन्त दिल्ली पर चढ़ाई करने और फिर से दिल्ली और दिल्ली सम्राट बहादुरशाह को जीत लेने के लिए आदेश कर दिया।

ठीक ऐसे ही अवसर पर गवर्नर जनरल लार्ड कैनिंग ने भारतीय सिपाहियों के मनोमालिन्य को दूर कर सान्त्वना देने के लिए समस्त भारत में अपनी एक घोषणा प्रकाशित करा दी। उस घोषणा का तात्पर्य यह था कि—"कम्पनी की सरकार का कोई विचार न कभी किसी के धर्म में हस्तक्षेप करने का था और न है। यदि सिपाही चाहे तो अपने कारतूस स्वयं बना सकते हैं और जिन लोगों ने आज तक कम्पनी की सरकार का नमक खाया है उनके लिए विप्लव में भाग लेना घोर पाप है।" किन्तु जब विप्लव की प्रचण्ड अग्नि जल चुकी थी तब फिर भला इन सब घोषणाओं का क्या प्रभाव पड़ सकता था।

विप्लव करने वाली जनता और सिपाहियों ने उस घोषणा को पढ़ा पढ़ाया, सुना-सुनाया किन्तु कोई भी विप्लव से किनारा कसने को तैयार न हुआ। जनरल ऐनसन ने परिस्थिति को भली भाँति समझ लिया और यह भी समझ लिया कि फिर से दिल्ली विजय करने के लिए केवल पञ्जाब से ही सेना मिल सकती थी। राजनीति के क्षेत्र में जिन विद्वानों का नाम श्रद्धा के साथ लिया जाता है, उन सब का कहना है कि जिस प्रकार अवध, रुहेलखण्ड, कानपुर आदि स्थानों के लोगों ने भारत से

अँगरेजों को भगाने के लिये विप्लवकारियों का साथ तन, मन, धन से दिया था, यदि उस समय उन्हे स्वाधीनता-प्रेमी विप्लवकारियों का साथ पञ्जाब ने दिया होता तो दिल्ली या दिल्ली सम्राट बहादुरशाह अथवा भारत को फिर से विजय कर सकना अँगरेजों के लिए सर्वथा असम्भव होता। पञ्जाब का चीफ कमिश्नर सर जान लारेन्स पञ्जाब और पञ्जाब की जनता के स्वभाव और विचार से भली भाँति परिचित था और किस प्रकार वहाँ की जनता को अपने अनुकूल बना कर उससे विप्लव को दबाया जा सकेगा, इसको भी अच्छी तरह समझता था। इसीलिए पञ्जाब को और विशेषकर सिखों को उस महान सङ्कट के समय अँगरेज सरकार का भक्त बनाए रखने के लिए पञ्जाब के चीफ कमिश्नर सर जान लारेन्स ने जिन-जिन उपायों का अवलम्बन किया था, वे सभी उपाय अँगरेजों के दृष्टिकोण से अत्यन्त महत्वपूर्ण थे।

उस समय अँगरेजों द्वारा सिखों को भड़काने के लिए उन्हे यह समझाया गया कि औरगजेब जैसे मुसलमान बादशाहों ने तुम्हारे धर्म पर किस तरह हमले किये है और किस प्रकार निष्ठुर औरंगजेब ने दिल्ली के अन्दर तुम्हारे पूज्य गुरु तेग-बहादुर का सिर कलम करवा दिया था। शायद तुम सब इन सब अत्याचारों को न भूले होंगे और भूलना भी न चाहिये। इसके बाद सिखों को यह भी बताया गया कि अब तुम सब बहादुर सिखो को अँगरेजो की सहायता से अपने गुरु और धर्म के शत्रुओं से बदला लेने और दिल्ली जैसे शाही नगर को जमीन से मिला देने का सुन्दर अवसर मिल रहा है। इतना ही नही, बल्कि बूढ़े सम्राट बहादुरशाह के नाम से एक बनावटी घोषणा भी उन दिनो जगह-जगह दीवारो पर लगी हुई दिखाई पड़ी, जिसमे

लिखा था कि सम्राट बहादुरशाह का पहला फरमान यह है कि सिखों को मार डाला जाय। इतिहास का लेखक मेटकाफ लिखता है कि—"जिस समय यह बनावटी घोषणा प्रकाशित की गई, ठीक उसी समय दिल्ली का बूढ़ा सम्राट बहादुरशाह हाथी पर सवार होकर दिल्ली की सड़कों और गलियो मे अपने मुख से यह एलान करता फिर रहा था कि स्वाधीनता का यह समस्त युद्ध केवल फिरगियों के साथ है और किसी भी भारतवासी को किसी तरह की कोई हानि न पहुँचाई जाय।"

कहने की आवश्यकता नही कि सर जान लारेन्स की इन समस्त चालो का अत्यन्त अधिक प्रभाव पड़ा। सम्राट बहादुर शाह और विप्लव के अन्य प्रमुख नेताओं ने सिखों और सिख राजाओ को अपनी ओर कर लेने के लिए भरसक प्रयत्न किये किन्तु खेद के साथ कहना पड़ता है कि वे अपने उन प्रयत्नों मे सफल न हो सके। बहादुरशाह ने अपना विशेष दूत, जिसका नाम ताजुद्दीन था पटियाला, नाभा और झिन्द के राजाओं तथा अन्य प्रधान-प्रधान सिख सरदारो के पास भेजा। सिख राजाओं तथा सिख सरदारो से मिलने के बाद जो परिणाम निकला, उस सम्बन्ध मे ताजुद्दीन ने सम्राट बहादुरशाह को एक पत्र लिखा जिसके कुछ वाक्य इस प्रकार के थे :—

"पञ्जाब के सिख सरदार सब सुस्त और कायर है। बहुत कम आशा है कि वे विप्लवकारियो का साथ दे। ये लोग फिरगियों के हाथो के खिलौने बने हुए है। मै स्वयं इन लोगों से एकान्त मे मिला। मैने उनसे बातचीत की और उनके सामने अपना कलेजा पानी कर दिया। मैने उनसे कहा आप लोग फिरगियों का साथ क्यों दे रहे है और क्यो देश की आजादी के साथ

विश्वासघात कर रहे हैं ? क्या स्वाधीन भारत मे आप इससे अच्छी दशा मे न रहेगे ? इसलिए कम से कम अपने फायदे के लिए ही आपको दिल्ली के बादशाह का साथ देना चाहिए। इस पर उन सब सिख सरदारों ने जवाब दिया, "देखिए, हम सब मौके के इन्तजार मे है। ज्योंही हमे सम्राट का हुकुम मिलेगा त्योही हम एक दिन के अन्दर इन सब काफिरों को मार डालेगे। × × × लेकिन मेरा ख्याल है कि उन सब सिख सरदारों पर कभी भी भरोसा नही किया जा सकता।"

ताजुद्दीन के पत्र आने के कुछ दिनो बाद थोड़े से सवार सम्राट बहादुरशाह का सन्देश लेकर इन समस्त सिख राजाओं के पास पहुँचे किन्तु उन सब के पहुँचने से पहले ही लार्ड कैनिंग और सर जान लारेन्स के जहरीले तीर भी सिख राजाओं के दिलों और दिमागो पर चल चुके थे। उन तीरो का ऐसा गहरा प्रभाव पड़ा हुआ था कि अदूरदर्शी सिख राजाओ ने दिल्ली के बूढ़े सम्राट बहादुरशाह के सन्देशे का तिरस्कार कर दिया और पत्र लाने वाले सवारों को भी निर्दयता से मरवा डाला।

अपने कूटनीति से पूर्ण इन उपायों मे सफल होते ही पञ्जाब की जनता को अपनी ओर रखने तथा अबोध रूप से अनुकूल बनाने के लिए सर जान लारेन्स ने एक और साधारण सा उपाय यह किया कि उसने आरम्भ मे ही पञ्जाब की जनता से ६ प्रतिशत व्याज पर कम्पनी के नाम से कर्ज लेना आरम्भ कर दिया। इसके दो परिणाम हुए। पहिला परिणाम यह हुआ कि रकम बड़े ही संकट के समय कम्पनी के काम आई और दूसरे परिणाम मे यह समझ लेना चाहिए कि पञ्जाब के जिन असंख्य साहूकारों ने कम्पनी को कर्ज दिया, उन्हे कम्पनी के

शासन के अधीन बने रहने मे ही अपना हित दिखाई देने लगा।

जिस समय की घटनाओं का वर्णन हम कर रहे हैं उस समय लखनऊ के विप्लवकारी नेताओं का थोड़ा-सा पत्र व्यवहार काबुल के अमीर दोस्त मुहम्मद खाँ के साथ होना आरम्भ हुआ था। यह हम नही जानते कि अफगानिस्तान में उसके मुकाबले के लिए अँगरेजो ने किन-किन उपायो का सहारा लिया था किन्तु इतिहास की पुस्तकों से इतना पता अवश्य चलता है कि सरहद को मुसलमान कौमों को अपनी ओर बनाये रखने के लिए सर जान लारेन्स ने आवश्यकता से अधिक धन व्यय किया और उन्हे अपने अनुकूल बनाये रखने के उद्देश्य से उनमे प्रचार करने के लिए अनेक मुल्लाओं को नौकर रखा था।

विप्लव के दिनो मे पञ्जाब के अन्दर सिख और गोरी पलटनो के अतिरिक्त हिन्दू और मुसलमान सिपाहियों की भी अनेक पलटने थी। ये लोग राष्ट्रीय स्वाधीनता युद्ध को सफल बनाने के लिये विप्लब मे भाग लेने की कसमे खा चुके थे। इनके अतिरिक्त पञ्जाब के अनेक नगरों की साधारण हिन्दू और मुसलमान जनता भी विप्लव के साथ पूरी सहानुभूति रखती थी। इसीलिए हमे यह देखना होगा कि इन सब के वीरोचित प्रयत्नों को असफल करने के लिए अँगरेज अफसरों ने कौन-कौन से नये उपाय काम मे लाने की चेष्टाएँ की और उन सब चेष्टाओं मे उन्हे कहाँ तक सफलता प्राप्त हुई।

उन दिनों पञ्जाब की सब से बड़ी और महत्वपूर्ण छावनी लाहौर के समीप मियाँ मीर मे थी। मियाँ मीर की छावनी मे

गोरे सिपाहियों की तुलना मे हिन्दुस्तानी सिपाही ठीक चौगुने थे। पञ्जाब की हिन्दुस्तानी सेना के सिपाहियों ने यह तय कर रखा था कि सब से पहले मियाँ मीर के सिपाही लाहौर के किले पर चढ़ाई करेंगे और अँगरेजों को जीत कर किले पर अपना पूरा अधिकार कर लेगे और फिर पेशावर, अमृतसर, फिलौर और जालधर की पलटने एक साथ विप्लव करना आरम्भ कर देगी।

मियाँ मीर की पलटने राबर्ट माण्टगुमरी के अधीन थी। मेरठ का समाचार पाते ही माण्टगुमरी पूर्ण रूप से सावधान हो गया था। उसे अपने एक विशेष गुप्तचर द्वारा सूचना मिली कि मियाँ मीर की हिन्दुस्तानी सेना के सिपाही भी विप्लव के लिए तैयार हो चुके है। इस समाचार को पाते ही मान्टगुमरी ने १३ मई को तुरन्त लगभग एक हजार हिन्दुस्तानी सिपाहियों को परेड पर जमा किया और गोरे सवार तोपखाने सहित उन सब सिपाहियो के चारो ओर खड़े कर दिये। इसके बाद सिपाहियों से हथियार रखने के लिये कहा गया। ऐसी दशा मे जब सिपाहियो ने दूसरा कोई लाभकारी उपाय न देखा तब तुरन्त अपने अपने हथियार रख दिये। इसके बाद वे सब चुपचाप अपनी बारिगों मे चले गये।

इस घटना के बाद ही गोरों की एक पलटन लाहौर के किले मे भेजी गई। उसने भी वहाँ पहुँच कर वहाँ के तोपखाने की सहायता से किले के अन्दर रहने वाले देशी पलटनों के सिपा-हियों से हथियार रखा लिये। इसके बाद उन सबों को किले से बाहर बारिगों मे भेज दिया और लाहौर के किले पर स्वय अधिकार कर लिया। इसमे सन्देह नहीं कि दूरदर्शी मान्टगुमरी

के उचित समय के उचित साहस और उसके फुर्तीलेपन ने पञ्जाब को कम्पनी के हाथों से निकल जाने से बचा लिया और समस्त विप्लव की भावी प्रगति पर उसका गहरा प्रभाव पड़ा। सर जान लारेन्स एक स्थान पर लिखता है—“यदि पञ्जाब चला जाता तो हम अवश्य बर्बाद हो जाते। उत्तरी प्रान्तों तक सहायता पहुँच सकने से बहुत पहले ही समस्त अँगरेजो की हड्डियाँ धूप मे पड़ी सूखती होती। इतना ही नहीं, इंगलैण्ड भी कभी उस आपत्ति के कारण न तो पनप सकता था और न एशिया मे फिर से अपनी सत्ता को ही स्थापित कर सकता था।”

उस समय फिरोजपुर मे कम्पनी का एक बहुत बड़ा मैगजीन था। १३ मई को यह देखने के लिये कि वहाँ के हिन्दुस्तानी सिपाहियो के मानसिक विचार किस प्रकार के हैं अँगरेजों ने उन्हे परेड पर बुला कर इकट्ठा किया। सिपाहियों का व्यवहार इतना सुन्दर और प्रशसनीय रहा कि अँगरेज अफसरों का सन्देह उन पर से जाता रहा। किन्तु उसी दिन थोड़ा सा समय बीत जाने पर फिरोजपुर के हिन्दुस्तानी सिपाहियों ने विप्लव करना आरम्भ कर दिया। उन सिपाहियो के विप्लव करते ही अँगरेजो ने मैगजीन मे आग लगा दी। फिरोजपुर नगर के निवासियों ने विप्लवकारियो का पूरा साथ दिया। अँगरेजों के मकान जला डाले गये। जो अँगरेज जिस-जिस स्थान पर मिला उसे उसी स्थान पर मार डाला। इसके बाद वहाँ की हिन्दुस्तानी सेना के समस्त सिपाही दिल्ली की ओर रवाना हो गये। गोरी पलटन ने कुछ दूर तक उन सबों का पीछा किया किन्तु अन्त मे असफल होकर उसे फिरोजपुर लौट आना पड़ा।

पेशावर के विषय मे कहा जाता है कि वहाँ पर २४, २७

और ५१ नम्बर पैदल और सवार इन्हीं चार देशी पलटनों ने २२ मई सन् १८५७ को विप्लव करने का निश्चय कर रखा था। ये चारों पलटनें पेशावर के आस-पास अलग-अलग छावनियों में थीं। मियाँ मीर की छावनी का समाचार पाते ही पेशावर के अँगरेज अफसरो ने झेलम के आस-पास गोरी सेना को और अपने विश्वास-पात्र भारतीय सिपाहियों की पलटनों को जमा किया। २२ मई को प्रातःकाल कुछ गोरी सेना और कुछ तोपे चारो स्थानो पर भेज दी गईं और पहले कही गई चारों पलटनों को सन्देह पर घेर कर उनसे हथियार रखा लिये गये।

हथियार रखा लेने के बाद इन सब हिन्दुस्तानी सिपाहियों को अपनी बारिगो मे रहने की आज्ञा दी गई। लिखा हुआ मिलता है कि २२ तारीख की रात को उनमे से कुछ सिपाहियो ने नगर की ओर जाना चाहा। चूँकि अगरेज अफसरों को यह डर था कि कही नगर मे या आस-पास विप्लव न खड़ा हो जाय इसलिए उन सिपाहियों को नगर जाने से रोक दिया गया और तुरन्त उनमे से १३ या १४ को इसलिए फाँसी पर लटका दिया गया ताकि दूसरो को सबक मिले। इतना ही नहीं, बारिगों के बाहर तोपें भी लगा दी गईं। फिर इन सिपाहियों मे से किसी को भी बाहर निकलने का साहस न हो सका। फिर भी बाद मे इनमे से अनेक को फाँसी दी गई और अनेक को तोप के मुँह से बाँध कर उड़ा दिया गया।

पेशावर के समीप होती मर्दान मे ५५ नम्बर पैदल पलटन थी। इस पलटन के कर्नल स्पाटिश बुड को पूरा विश्वास था कि मेरी पलटन विद्रोह न करेगी। पञ्जाब के दूसरे अँगरेज अफसरों

ने आग्रह भी किया कि इस पलटन से भी हथियार रखा लिये जायँ। कर्नल ने इस आग्रह का घोर विरोध किया। पञ्जाब सरकार ने हथियार रखा लेने के पक्ष मे फैसला दिया। कहा जाता है कि इस फैसले पर कर्नल स्पाटिश वुड ने अपने कमरे मे जाकर आत्महत्या कर ली।

कर्नल स्पाटिश वुड के न रहने पर पेशावर से गोरी सेना और तोपे होती मर्दान में रहने वाली पलटन से हथियार रखा लेने के लिए भेजी गई। इस समाचार को पाते ही ५५ नम्बर के कुछ सिपाहियों ने होती मर्दान के किले से निकल कर भागना चाहा किन्तु कम्पनी की गोरी सेना ने, जो उनसे सख्या मे अधिक थी और जिसके पास भारी तोपें थीं, उन सबों को घेर लिया और १५० सिपाहियों को उसी स्थान पर मार डाला गया। फिर भी कुछ सिपाही भाग कर निकल ही गये। जो रह गये वे सब तुरन्त गिरफ्तार कर लिये गये। उस समय के इतिहास की पुस्तकों को देखने से पता चलता है कि ५५ नम्बर पलटन के कैदियों के साथ अधिक भयंकर व्यवहार किया गया, और इसलिए कि उससे दूसरे सिपाहियों को भी शिक्षा मिल सके और वे विद्रोह करने का साहस न करे। प्रसिद्ध है कि उन सब सिपाहियो का कोर्ट मार्शल हुआ, उन्हे दड दिया गया और उनमे से प्रति तीसरे सिपाही को तोप के मुँह से उड़ाने के लिये चुन लिया गया। एक अँगरेज अफसर, जो इन लोगों के तोप से उड़ाये जाने के समय उपस्थित था, उस दृश्य का वर्णन करते हुए लिखता है-—"उस दिन की परेड का दृश्य विचित्र था। परेड पर लगभग नौ हजार सिपाही थे। ××× एक चौरस मैदान के तीन ओर सेना खड़ी कर दी गई।

चौथी ओर दस तोपे थी। × × × पहले दस कैदी तोपों के मुँह से बाँध दिये गये। इसके बाद तोपखाने के अफसर ने अपनी तलवार हिलाई, तुरन्त तोपों की गर्जना सुनाई दी और धुएँ के ऊपर हाथ, पैर और सिर चारों ओर हवा मे उड़ते हुए दिखाई देने लगे। यह दृश्य चार बार दोहराया गया। हर बार समस्त सेना मे से एक जोर की गूँज सुनाई देती थी जो दृश्य की वीभत्सता के कारण लोगो के हृदयो से निकलती थी। उस समय से प्रति सप्ताह एक या दो बार उस तरह के प्राण-दंड की परेड होती रहती है और हमे उसकी इतनी आदत हो गई है कि अब हम पर उसका कोई असर नही होता। × × ×"

इतिहास लेखक के लिखता है कि—"५५ नम्बर पलटन के अधिकाश सिपाहियों की निर्दोषिता को कर्नल निकल्सन और सर जान लारेन्स दोनो ने अपने पत्रों मे स्वीकार किया है। फिर भी इस पलटन के छिपे और भागे सिपाही जून और जुलाई के महीनों में बराबर दूर-दूर से पकड़ कर लाये जाते थे और इसी प्रकार तोप के मुँह से उड़ाये जाते थे। कभी-कभी और भी अधिक वीभत्स तरीकों से उनके प्राण लिये जाते ।"

उन दिनों विप्लव के सन्देह पर लोगों का तोपों के मुँह से उड़ाया जाना एक साधारण-सी बात थी, जो अनेक स्थानो पर और अनेक बार दोहराई गई थी। १० नम्बर पलटन के हथियार सन्देह पर ही रखा लिये गये। इन सब सवारों मे घोड़े उनके अपने थे। इनके ये घोड़े इनसे छीन लिये गये और आठ हजार नकद रुपये भी, इन सब सवारों के पास थे, बल-पूर्वक ले लिये गये। लिखा है कि घोड़ों को बेच कर ईस्ट इण्डिया कम्पनी के खजाने मे पचास हजार रुपये जमा किये

गये। सिपाहियों को बलपूर्वक नावो मे बैठाकर सिन्धु नदी के प्रवाह मे कहीं पर भेज दिया गया। कहा नहीं जा सकता कि उन सबों का अन्त मे क्या हुआ। एक अँगरेज अफसर जो उस समय मौजूद था, लिखता है, “मुझे आशा है कि वहाँ पर उनमे से प्रत्येक माता के पुत्र को नदी की तेज धार मे डूबने का मौका मिल जायगा।”

पेशावर और उसके आस-पास के इलाके मे विप्लवकारियो को अथवा विप्लव के सन्देह पर लोगो को भयङ्कर यन्त्रणाएँ दे देकर मारा गया, जिनके विषय मे इतिहास लेखक के लिखता है—“यद्यपि मेरे पास बहुत से पत्र मौजूद है, जिनमे यह बयान किया गया है कि हमारे अफसरों ने किस प्रकार की वीभत्स और क्रूर यन्त्रणाएँ लोगो को पहुँचाई तथापि मै उनके विषय मे एक भी शब्द नही लिखता, ताकि यह विषय ही अब ससार के सामने न रहे।”

अब हम पेशावर की घटनाओ का वर्णन बन्द करके जालन्धर दोआब की घटनाओं का वर्णन आरम्भ करते है। जालन्धर, फिलौर और लुधियाने की देशी पलटनें चुपचाप किन्तु सच्ची लगन और दृढ़ता के साथ विप्लव करने की तैयारी कर रही थी। ९ जून को अचानक जालन्धर की सेना ने आधी रात के समय विप्लव करने की घोषणा की। सेना जालन्धर मे मौजूद थी किन्तु देशी पलटने इस तरह अचानक बिगड़ी कि अँगरेजी सेना कर्त्तव्य-विमूढ़ हो गई। जालन्धर के सिपाहियों ने वहाँ के अँगरेजों का सहार करने मे अपना समय नष्ट नही किया। वे तुरन्त दिल्ली को रवाना हो गये।

फिलौर के सिपाहियों को सूचना देने के लिये जालन्धर के सिपाहियों ने अपने मे से एक सवार को भेज दिया। उसी समय फिलौर की देशी पलटनो के सिपाही भी बिगड़ खड़े हुए। इसके बाद जालन्धर के सिपाही फिलौर पहुँच गये। दोनों जगहों की पलटने एक दूसरे से गले मिलीं और फिर दिल्ली की ओर बढ़ी। रास्ते में सतलज नदी पड़ती थी जिसके दूसरे तट पर लुधियाने का नगर था। लुधियाने के अँगरेज अफसरों को जालन्धर और फिलौर के विद्रोह का पता लगने से पूर्व ही वहाँ की देशी पलटनों के सिपाहियो को इसकी सूचना मिल गई। लुधियाने के अँगरेज अफसरों ने सतलज के ऊपर का नावों का पुल तुरन्त तोड़ दिया।

इसके बाद अँगरेजी और सिख पलटने तथा महाराजा नाभा की कुछ पलटने सतलज नदी के तट पर फिलौर से आने वाली विप्लवकारी सेना को रोकने के लिये इकट्ठी हो गईं। विप्लव-कारियों को जब इसका पता चला तब उन्होंने रात्रि के समय चुपचाप चार मील ऊपर से सतलज को पार करने का विचार किया। किन्तु जेसे ही उनमे से कुछ सिपाही सतलज के उस पार पहुँचे वैसे ही अँगरेजों और सिखों ने उन पर बड़ी ही शीघ्रता के साथ तोपो के गोले बरसाने आरम्भ कर दिये। रात के करीब-करीब दस बजे थे अर्थात् अँधेरे पाख की अष्टमी के चाँद के निकलने मे अभी दो घण्टे बाकी थे, इसलिये उस अन्ध-कार मे विप्लवकारी सिपाहियो को यह भी पता नहीं चलता था कि शत्रु की सेना किस ओर है। उनकी तोपे भी अभी नदी को पार न कर पाई थी फिर भी उसी दशा मे वे वीर सिपाही दो घण्टे तक अपने शत्रुओं का मुकाबिला करते रहे। इतने मे

किसी सिपाही की एक गोली अँगरेजी सेना कमाण्डर विलियम्स की छाती मे जाकर लग गई। गोली के लगते ही वह वही धरती पर गिर कर ढेर हो गया। इसके बाद प्रातःकाल तक घमासान संग्राम होता रहा। अन्त मे सिखो और अँगरेजों को विवश हो कर पीछे हट जाना पड़ा।

विजय लाभ करने के कारण विप्लवकारी सिपाहियों मे हर्ष और उल्लास की बाढ़-सी आ गई। पूर्ण प्रसन्नता-पूर्वक दोपहर के समय उन सबो ने लुधियाने मे प्रवेश किया। पंजाब मे लुधियाने का नगर विप्लव का एक विशेष महत्त्वपूर्ण केन्द्र था। विप्लवकारियों की दृष्टि इस पर विशेष रूप से लगी रहा करती थी। आस-पास का जितना इलाका था वह सब लुधियाने के ही संकेतों पर चलने के समय की प्रतीक्षा कर रहा था। इसलिये जिस समय विप्लवकारी सिपाहियों ने लुधियाने के नगर मे प्रवेश किया उस समय प्रसन्नता की चरम सीमा से जनता ने उन सबो का स्वागत किया और उन सबों के साथ विप्लव मे भाग लेने लगे। परिणाम यह हुआ कि सारा दिन लुधियाने के नगर मे विप्लव के कार्य होते रहे। जेलखाना तोड़ दिया गया, अँगरेजों के जितने मकान थे, वे सब तुरन्त जला दिये गये। विप्लवकारी सिपाहियों ने कम्पनी के सरकारी खजाने को अपने अधिकार मे कर लिया। इसके बाद जालन्धर, फिलौर और लुधियाने की देशी पलटनो के समस्त सिपाही एक होकर गले मिले और फिर स्वाधीनता के युद्ध मे भाग लेने के लिये विजय के गीत गाते हुये दिल्ली की ओर रवाना हो गये। सन् १८५७ के विप्लव मे पञ्जाब की ओर से यही मुख्य सहायता कही जा सकती है।

पंजाब के शासकों को उस समय सब से अधिक सन्देह पूर्वी प्रान्तों के रहने वालो पर था, जिन्हे पजाब मे 'हिन्दुस्तानी' कहते है। इसलिए विप्लव के आरम्भ के दिनों मे पंजाब के अनेक शहरों और गाँवो से हजारों निरपराध और प्रतिष्ठित हिन्दुस्तानियों को बलपूर्वक पजाब से निर्वासित कर सतलज के इस पार भेज दिया गया। इसके पश्चात् पजाब के अँगरेजों के लिए अपने यहाँ की अँगरेजी और सिख सेनाओं को दिल्ली विजय करने के लिये भेज देना और भी अधिक सरल हो गया।

———

विप्लव का प्रधान केन्द्र दिल्ली

अब हम पाठको का ध्यान फिर से विप्लव के प्रधान केन्द्र दिल्ली की ओर ले जाना चाहते है। अभी अपने पाठकों को बताये हुए चले आ रहे हैं कि गवर्नर जनरल लार्ड कैनिंग ने दिल्ली के स्वाधीन हो जाने का समाचार पाते ही कमाण्डर-इन-चीफ जनरल ऐनसन को आज्ञा दी कि तुम तुरन्त दिल्ली पर धावा बोल कर फिर से दिल्ली और दिल्ली के सम्राट बहादुरशाह को जीत लो। लार्ड कैनिग की इस आज्ञा को शिरोधार्य कर जनरल ऐनसन शिमले से अम्बाले पहुँचा। अम्बाले पहुँच कर उसने दिल्ली पर हमला करने की पूरी तैयारी करनी आरम्भ कर दी। निःसन्देह इस कार्य मे जनरल ऐनसन को अनेक कठिनाइयों का सामना करना पड़ा और तैयारी के सभी कार्यों को समाप्त करने मे आवश्यकता से अधिक समय लग गया।

इसका मुख्य कारण यह था कि अम्बाले और उसके आस-पास कोई भी हिन्दुस्तानी किसी तरह की सहायता अँगरेजों को देने के लिए तैयार न था। उस समय ऐनसन को न गाड़ियाँ मिलती थी और न मजदूर न रसद मिलती थी और न चारा। इतिहास लेखक के लिखता है—"हर श्रेणी के हिन्दुस्तानी हमसे दूर रहे। ये लोग चुपचाप बैठे हुए इस बात की प्रतीक्षा कर रहे थे कि परिस्थिति किस ओर को मुड़ती है। पूँजीपतियो से लेकर कुलियों तक सभी एक समान हमे सहायता देने मे सङ्कोच करते

थे क्योंकि उन्हे सन्देह था कि शायद हमारी सत्ता एक दिन के अन्दर उखाड़ कर फेंक दी जाय।"

ऐनसन के सामने दूसरी कठिनाई एक और थी। अम्बाले और दिल्ली के बीच मे पजाब की तीन प्रसिद्ध रियासतें पटियाला, नाभा और झिन्द के इलाके पड़ते थे। यदि उस समय ये तीनो, प्रमुख रियासतें देश का साथ दे जातीं तो इसमे लेशमात्र भी सन्देह नहीं हो सकता कि कम्पनी के अँगरेजों के लिए फिर से दिल्ली विजय कर सकना सर्वथा असम्भव होता और भारत माता की धरती से अँगरेजी राज्य की जड़ें उस समय वास्तव मे एक ही झटके से उखाड़ कर फेंक दी गई होती।

यदि पटियाला, नाभा और झिन्द तटस्थ भी रहते तो भी परिणाम अँगरेजी राज्य के लिए कदाचित् काफी अनिष्टकारी होता। किन्तु जनरल ऐनसन और अँगरेजी राज्य दोनो के ही सौभाग्य से इन तीनों प्रमुख रियासतो ने उस समय हिन्दुस्तानी विप्लवकारियों के विरुद्ध अँगरेजो को धन, जन और सामान तीनों ही अंगों से पूर्ण रूप से सहायता दी। इतना ही नही, सर जान लारेन्स और उसके साथियों की नीतिज्ञता के कारण ऐनसन को अपने साथ के लिए पजाब से आशा से भी अधिक सेना मिल गई।

जनरल ऐनसन के लिए अब अम्बाले से दिल्ली का रास्ता साफ हो गया और दिल्ली के विप्लवकारियों को पंजाब से और अधिक सहायता प्राप्त कर सकना प्रत्येक दृष्टिकोण से असम्भव हो गया। पटियाला के राजा ने अपनी सेना और उसके साथ अपना तोपखाना भेज कर थानेश्वर की रक्षा की। झिन्द के राजा

ने पानीपत की रक्षा का भार अपने कन्धों पर ले लिया। इन सब तैयारियों के बाद कमाण्डर-इन-चीफ जनरल ऐनसन अपनी अँगरेजी और सिख सेना के साथ (जिसमे बहुत सी सेना इन्हीं तीन रियासतों की थी) २५ मई को अम्बाले से दिल्ली की ओर रवाना हुआ।

इस प्रकार पूर्ण रूप से शक्ति सम्पन्न हो जाने पर भी जनरल ऐनसन का हृदय इस भयानक परिस्थिति मे भीतर ही भीतर घबरा रहा था। मार्ग मे २७ मई को हैजे से कर्नाल मे उसकी मृत्यु हो गई। सर हेनरी बर्नार्ड उसकी जगह कमाण्डर-इन-चीफ बनाया गया।

अम्बाले से दिल्ली की यात्रा मे अँगरेजों ने जो जो न कहने योग्य अत्याचार किये वे किसी भी अश मे जनरल नील के अत्याचारों से कम अमानुषिक न थे। रास्ते मे असंख्य लोगों को जो पंजाब से दिल्ली की ओर जा रहे थे इस सन्देह मे कि वे दिल्ली के विप्लवकारियो की सहायता के लिये जा रहे है, पकड़ पकड़ कर मार डाला गया। उस समय की सकटपूर्ण परिस्थिति को ध्यान मे रखते हुए यह स्वीकार किया जा सकता है इस प्रकार रास्ते पर चलनेवालों को मार डालना किसी अंश तक सन्दिग्ध राजनैतिक सम्बन्धों के कारण क्षम्य है किन्तु एक अँगरेज अफसर जो उस विजय की यात्रा मे सेना के साथ था, लिखता है कि—"अम्बाले से दिल्ली तक रास्ते की जनता के ऊपर अँगरेजी सत्ता का दबदबा फिर से स्थापित करने के लिये असंख्य ग्रामों मे असख्य निरपराध ग्राम-निवासी अत्यन्त कठोर यातनाएँ दे देकर मार डाले गये। उनके सरों से एक एक कर बाल उखाड़े जाते थे, उनके शरीरों को संगीनों से बाँधा जाता था और सब से

अन्त मे, नही, नहीं, मृत्यु से पहले, भालों और नुकीली संगीनों के द्वारा इन सब हिन्दुस्तानी ग्राम-निवासियो के मुंह मे गाय का मॉस ठूॅस दिया जाता था।"

एक ओर उन्हे ये यातनाऍ दी जाती थी और दूसरी ओर उनकी ऑखो के सामने फॉसियॉ तैयार की जाती थीं। फॉसियॉ तैयार हो जाने के बाद उन्हे इस अधमरी अवस्था मे उन फॉसियों पर लटका दिया जाता था। यद्यपि यह सभी जानते थे कि इनमे से अधिकांश ग्राम-निवासियों ने कभी भी ॲगरेजी राज्य के विरुद्ध हथियार नही उठाये थे फिर भी इन निरपराध ग्राम-निवासियो को दण्ड देने से पहले दिखावे के लिए एक फौजी अदालत बैठाई जाती थी। जो फौजी अफसर उस अदालत के जज बनाये जाते थे उनसे पहले ही इस बात की कि वे एक भी कैदी को फॉसी से न बचने देगे, शपथ ले ली जाती थी। इसके बाद ग्राम-निवासियो को दूर तक कतार मे खड़ा कराया जाता था और फिर उन्हे बात की बात मे मौत की सजा का फैसला सुना दिया जाता था।

मेरठ की सेना, जो १० मई सन् १८५७ को कर्तव्य-विमूढ़ हो गई थी, अब जनरल बर्नार्ड की सेना के साथ मिल जाने के लिए मेरठ से बढ़ी। इन दोनों से मेल होने से पहले ही दिल्ली की विप्लवकारी सेना ने आगे बढ़ कर हिन्दन नदी के तट पर ३० मई को मेरठ की ॲगरेजी सेना पर धावा बोल दिया। जब संग्राम होने लगा तब विप्लवकारी सेना की बाईं ओर का भाग थोड़ा-सा कमजोर पड़ गया। उस ओर उनकी पॉच तोप थीं और ॲगरेजी सेना ने उन तोपो पर अपना अधिकार करना चाहा। विप्लवकारी सेना उस ओर से पहले ही हट चुकी थी,

केवल एक सिपाही तोपों के बीच में किसी प्रकार छिपा हुआ रह गया था। ठीक उसी समय जब कि कई अँगरेज अफसर और सिपाही तोपों पर अधिकार करने के लिये पहुँचे, इस भारतीय सिपाही ने चुपके से मैगजीन मे आग लगा दी। उस भारतीय सिपाही के साथ-साथ कई अँगरेज वही जलकर राख के ढेर बन गए।

इतिहास-लेखक के इस अज्ञात सिपाही की सूझ और उसकी वीरता की प्रशंसा करते हुए लिखता है—"इससे हमें यह शिक्षा मिली कि विप्लवकारियों मे इस प्रकार के वीर और साहसी लोग मौजूद थे, जो राष्ट्रीय हित के लिये उसी समय प्राण देने को तैयार थे।"

उस दिन दिल्ली की विप्लवकारी सेना पीछे लौट गई। दूसरे दिन ३१ मई को वह मेरठ की अँगरेजी सेना का सामना करने के लिए फिर दिल्ली नगर से निकली। सामना होते ही दोनों ओर से गोलेबारी होने लगी। लिखा हुआ मिलता है कि उस दिन अँगरेजी सेना के बहुत से सिपाही मारे गये। संध्या के समय दिल्ली की विप्लवकारी सेना अँगरेजी सेना को एक बार तितर-बितर करके फिर दिल्ली की ओर सकुशल लौट गई।

इस सग्राम के दूसरे दिन अर्थात् १ जून को मेजर रीड के अधीन एक गोरखा पलटन मेरठ की अँगरेजी सेना की सहायता के लिये रणभूमि के मौके पर पहुँच गई। अम्बाले से जनरल बर्नार्ड के अधीन अँगरेज और सिख सेना भी ७ जून को इस सेना से आकर मिल गई। दिल्ली नगर को व्यूह बना कर घेर लेने के लिये बहुत-सा सामान महाराजा नाभा की ओर से इन लोगों के पास पहुँच गया। इसके बाद यह विशाल सेना संयुक्त

हो कर दिल्ली के निकट अलीपुर तक पहुँच गई। दिल्ली की विप्लवकारी सेना फिर एक बार इस विशाल अँगरेजी सेना का सामना करने के लिये निकली।

बुन्देले की सराय के समीप ८ जून सन् १८५७ को सबेरे से संध्या तक भयकर संग्राम हुआ। विप्लवकारी सेना का सेनापति उस समय सम्राट बहादुरशाह का एक पुत्र मिर्जा मुगल था, जीवन मे जिसने शायद कभी भी लड़ाई का मैदान न देखा था। दूसरी ओर एक से एक बढ़कर योग्य सेनापति उस पर सिख और गोरखा सिपाहियो की सहायता। संध्या समय तक दिल्लो की विप्लवकारी सेना को फिर नगर के अन्दर लौट जाना पड़ा। उनकी कई तोपे शत्रु के हाथ आ गईं और कम्पनी की सेना दिल्ली की दीवार के नीचे तक निर्विघ्न पहुँच गई।

उस समय दिल्ली नगर के अन्दर एक विचित्र प्रकार का उत्साह था। भिन्न-भिन्न प्रान्तों से सिपाहियों का समूह और खजाना आकर दिल्ली मे जमा हो रहा था। दूर-दूर से सम्राट बहादुरशाह के नाम वफादारी के पत्र आ रहे थे। नगर के अन्दर बारूद बनाने और अस्त्र-सस्त्र ढालने के लिये अनेक कारखाने खुल गये थे, जिनमे अनेक तोपे रोजाना ढलती थीं और हजारों मन बारूद तैयार होती थी। सम्राट बहादुरशाह का एक सेवक जहीर अपनी पुस्तक 'दास्ताने गदर' मे लिखता है कि अकेले चूड़ी वालों के मुहल्ले के एक कारखाने मे सात सौ मन बारूद रोजाना तैयार होती थी। सम्राट बहादुरशाह प्रायः हाथी पर सवार होकर नगर मे निकला करता था और जनता तथा सिपाहियों को प्रोत्साहित करता था। ऐलान किया जा चुका था जो मनुष्य गो-हत्या के अपराध का भागी होगा उसके

हाथ कलम करवा लिये जायँगे या उसे गोली से उड़ा दिया जायगा।

वास्तव में गो-हत्या के विषय मे उस प्रकार की आज्ञा सम्राट बाबर के समय से चली आती थी। धर्मान्ध या अदूर-दर्शी सम्राट औरङ्गजेब तक ने इस हितकर आज्ञा पर अमल कायम रखा था किन्तु कम्पनी का राज्य स्थापित होने के समय से ही गोरी सेना के आहार के लिए दिल्ली और उसके आस पास के इलाके मे फिर से गो-हत्या शुरू हो गई थी। मथुरा और दोआब मे जो भयङ्कर असन्तोष उत्पन्न हो गया था उसका कम्पनी के द्वारा गो-हत्या का होना ही बताया जाता है। कुछ भी हो अँगरेजों द्वारा गो-हत्या होने के कारण ही सम्राट बहादुर शाह को वास्तविक सत्ता हाथ मे लेते ही फिर एक बार उस तीन सौ वर्ष की पुरानी आज्ञा को दोहराना पड़ा। विप्लव के प्रारम्भ मे अर्थात दिल्ली के स्वाधीन होते ही सम्राट बहादुरशाह की ओर से एक घोषणा समस्त भारत मे प्रकाशित की गई थी जिसके कुछ वाक्य इस आशय के थे—

‘ऐ हिन्दुस्तान के फरजन्दों! अगर हम इरादा कर ले तो बात की बात मे दुश्मन का खातमा कर सकते है! हम दुश्मन का नाश कर डालेगे और अपने धर्म अपने देश को जो हमे जान से भी ज्यादा प्यारे है खतरे से बचा लेगे।’

इस घोषणा के कुछ ही दिनों बाद सम्राट बहादुरशाह की ओर से एक दूसरी घोषणा प्रकाशित हुई जिसकी प्रतियाँ समस्त भारत के अन्दर यहाँ तक कि दक्षिण के बाजारों और छावनियों मे भी हाथों हाथ बँटती हुई पाई गई। इस घोषणा मे लिखा हुआ था—

"तमाम हिन्दुओं और मुसलमानों के नाम—हम महज अपना धर्म समझ कर ही जनता के साथ शामिल हुए है। इस मौके पर जो कोई कायरता दिखलायेगा या भोलेपन के कारण दगाबाज फिरगियों के वादों पर एतबार करेगा, वह शीघ्र शर्मिन्दा होगा और इंगलिस्तान के साथ अपनी वफादारी का उसे वैसा ही इनाम मिलेगा जैसे लखनऊ के नवाबों को मिला। इसके अलावा इस बात की जरूरत है कि इस जग मे तमाम हिन्दू और मुसलमान मिल कर काम करे और किसी समझदार नेता की हिदायतों पर चलकर इस तरह का व्यवहार करे कि जिससे अमनो अमन कायम रहे और गरीब लोग सन्तुष्ट रहे और उनका अपना रुतबा और उनकी शान बढ़े। जहाँ तक मुमकिन हो सकता है, सब को चाहिये कि इस एलान की नकल करके किसी आम जगह पर लगा दे××× "

इसके बाद एक और तीसरी घोषणा सम्राट बहादुरशाह की ओर से बरेली मे प्रकाशित हुई। उसमे लिखा था—"हिन्दुस्तान के हिन्दुओं और मुसलमानो, उठो! भाइयों उठो! खुदा ने जितनी बरकते इन्सान को अता की है उनमे सबसे कीमती बरकत आजादी है। क्या वह जालिम नाकस जिसने धोखा दे देकर यह बरकत हमसे छीन ली है, हमेशा के लिए हमे उससे महरूम रख सकेगा? क्या खुदा की मरजी के खिलाफ इस तरह का काम हमेशा जारी रह सकता है? नहीं नहीं। फिरंगियों ने इतने जुल्म किये है कि उनके गुनाहों का प्याला लबरेज हो चुका है। यहाँ तक कि अब हमारे पाक मजहब को नाश करने की नापाक ख्वाहिश भी उनमे पैदा हो गई है। क्या तुम अब भी खामोश बैठे रहोगे? खुदा अब यह नहीं चाहता कि तुम खामोश

रहो, क्योंकि उसने हिन्दू और मुसलमानों के दिलों मे अँगरेजों को अपने मुल्क से बाहर निकालने की ख्वाहिश पैदा कर दी है और खुदा के फजल और तुम लोगो की बहादुरी के प्रताप से जल्दी ही अँगरेजों को इतनी कामिल शिकस्त मिलेगी कि हमारे मुल्क हिन्दुस्तान मे उनका जरा भी निशान न रह जायगा। हमारी इस फौज मे छोटे और बड़े की तमीज भुला दी जायगी और सबके साथ बराबरी का बर्ताव किया जायगा, क्योंकि इस पाक जग मे अपने धर्म की रक्षा के लिए जितने लोग तलवार खीचेंगे वे सब एक समान यश के भागी होगे। वे सब भाई भाई है, उनमे छोटे बड़े का कोई भेद नही। इसलिए मै फिर तमाम हिन्दू भाइयों से कहता हूँ, उठो और ईश्वर के बताए हुए इस परम कर्तव्य को पूरा करने के लिए मैदान जंग मे कूद पड़ो।"

कहा जाता है कि सम्राट बहादुरशाह के असली ऐलान उर्दू मे थे और यहाँ के इतिहास लेखकों को उन सब की उर्दू प्रतिलिपि नहीं मिल सकी। सन १८५७ के स्वाधीनता के इस युद्ध के सम्बन्ध के इसी प्रकार के सब पत्रों और ऐलानो को अँगरेजी के ही अनुवादों अथवा प्रतिलिपियों से हिन्दी के लेखकों को अनुवाद करना पड़ा है। कुछ भी हो इस स्थल पर हम पाठकों से इतना ही निवेदन करेंगे कि वे सब मूल घटना पर ही विशेष ध्यान दें, क्योंकि हम उस समय का वर्णन करते चले आ रहे है जिस समय दिल्ली का नगर पूर्ण रूप से विप्लवकारियों के अधिकार मे था।

बुन्देले की सराय की लड़ाई के बाद ही कम्पनी की सेना ने दिल्ली से पश्चिम मे 'पहाड़ी' पर अधिकार कर लिया। यह ऐसा

स्थान था जहाँ से बड़ी सुगमता के साथ दिल्ली पर आक्रमण किया जा सकता था फिर भी काफी समय तक कम्पनी के अँगरेज अफसर परस्पर आक्रमण करने का परामर्श ही करते रहे क्योंकि विप्लवकारियों से वे इतना भयभीत हो चुके थे कि सहसा दिल्ली पर आक्रमण करने का साहस अँगरेज सेनापतियों को न हो सका। इतने ही समय मे दिल्ली की विप्लवकारी सेना ने बाहर निकल कर अँगरेजी सेना पर बार-बार आक्रमण करना आरम्भ कर दिया।

सब से पहले १२ जून को दिल्ली की विप्लवकारी सेना ने अँगरेजो पर आक्रमण किया। इतिहास लेखक के लिखता है कि—"उस दिन के युद्ध मे कम्पनी की एक वह हिन्दुस्तानी सिपाहियों की टोली जिसकी वफादारी पर अँगरेजों को पूर्णरूप से विश्वास था विप्लवकारियों की सेना से जा मिली। अँगरेजी सेना को काफी नुकसान पहुँचाने के बाद दिल्ली की विप्लवकारी सेना फिर से नगर के अन्दर लौट गई।"

इस युद्ध के बाद अँगरेजी सेना को दिल्ली मे प्रवेश करने का साहस न हो सका। वह जिस स्थान पर थी वही बनी रही और इधर विप्लवकारी सेना प्रायः प्रतिदिन प्रातःकाल शहर से निकल कर अँगरेजी सेना पर आक्रमण करने लगती थी और सन्ध्या समय तक अँगरेजी सेना को काफी नुकसान पहुँचा कर फिर नगर मे वापस चली जाती थी। उन्हीं दिनों दिल्ली में एक नियम यह भी था कि जो पलटन बाहर से दिल्ली मे आती थी, वह अपने आने के अगले दिन सबेरे तक एक बार अँगरेजी सेना पर अवश्य चढ़ाई करती थी। इन चढ़ाइयों मे १७, २० और

२३ जून की चढ़ाइयाँ और लड़ाइयाँ अधिक भयङ्कर थी। जिस बहादुरी के साथ विप्लवकारी सेनाओं ने इन लड़ाइयों मे अँगरेजो, सिखों और गोरखों की सम्मिलित सेनाओं पर आक्रमण किया, उन्हे बार-बार अपने स्थानों से हटा दिया और उनके अनेक अफसरों और सैनिकों को समाप्त कर दिया उस बहादुरी की लार्ड राबर्ट्स और अन्य अँगरेज अफसरों ने अपनी रिपोर्टों मे मुक्त-कठ से प्रशसा की है। कमाण्डर इन-चीफ बर्नार्ड ने अब निश्चय कर लिया कि जब तक और अधिक सेना सहायता के लिए पजाब से न आये, तब तक दिल्ली पर आक्रमण करना और सफलता के साथ विजय प्राप्त कर सकना सर्वथा असम्भव है।

२३ जून प्लासी की शताब्दी का दिवस था। उस दिन के आक्रमण के लिए दिल्ली मे विशेप रूप से तैयारियाँ हो रही थी। ज्यों ही प्रातःकाल हुआ त्यों ही शहरपनाह की तोपों ने अँगरेजी सेना के ऊपर गोले बरसाने आरम्भ कर दिये। विप्लवकारी सेना शहर से बाहर निकली और सम्मिलित अँगरेजी सेना पर भयानक रूप से टूट पड़ी। अत्यन्त घमासान युद्ध हुआ। उस दिन के घनघोर युद्ध के विपय मे मेजर रीड लिखता है—

"लगभग बारह बजे विप्लवकारियों ने हमारी समस्त सेना के ऊपर एक अत्यन्त भयानक आक्रमण किया। कोई भी मनुष्य उतना अच्छा नही लड़ सकता था जितना अच्छा कि विप्लवकारियों का प्रत्येक सैनिक लड़ता था। उन्होंने हमारी समस्त पलटनों पर बार-बार आक्रमण किया और एक बार मुझे ऐसा मालूम होता था कि हम मैदान खो बैठे।"

इस प्रकार की भावना को लेकर जिस समय अँगरेज हिम्मत

हारने वाले थे, ठीक उसी समय उनके सौभाग्य से उनका सङ्कट दूर करने वाली एक और नई सेना पंजाब से उनकी सहायता के लिए आ पहुँची। अब विप्लवकारियों के लिए कार्य भी कुछ सरल न रहा, फिर भी सन्ध्या समय तक वे सब युद्ध के मैदान मे डटे रहे। अन्त मे दोनो ओर की सेनाएँ थककर युद्ध के मैदान से पीछे हट गईं। इसमे सन्देह नही कि टक्कर बराबर का था इसलिए दोनों ओर की सेनाओ के दिलों मे एक दूसरे की वीरता के लिए स्वाभाविक ढग से आदर उत्पन्न हो गया।

यदि सिखो ने अँगरेजों का साथ न दिया होता और नयी पजाबी सेना समय पर अँगरेजों की सहायता के लिए न पहुँची होती, तो इसमे कुछ भी सन्देह नहीं हो सकता कि २३ जून सन् १८५७ को दिल्ली की युद्ध-भूमि मे कम्पनी की सेना का सर्वनाश हो गया होता, और फिर भारत मे अँगरेजों को अपनी सत्ता स्थापित कर सकना एक प्रकार असम्भव ही था।

सन् १८५७ की १ जुलाई को मुहम्मद बख्त खाँ के अधीन रुहेलखण्ड की सेना ने दिल्ली नगर मे प्रवेश किया। सम्राट बहादुरशाह और नगर-निवासियों की ओर से इस नवागत सेना का विशेष रूप से स्वागत किया गया। मुहम्मद बख्त खाँ ने पहुँचते ही सम्राट बहादुरशाह से भेट की। इतने ही समय के बीच दिल्ली मे जगह-जगह की सेनाओं के आने कारण प्रबन्ध की कुछ शिथिलता-सी दिखाई देने लगी थी और सेनापति मिर्जा मुगल मे सुशासन स्थापित करने की योग्यता भी नहीं दिखाई देती थी। अनेक प्रकार की शिकायतें सम्राट बहादुरशाह के कानों तक पहुँचीं। बूढ़े सम्राट ने अपने पुत्र मिर्जा मुगल को हटाकर उसके स्थान पर मुहम्मद बख्त खाँ को दिल्ली की

समस्त सेनाओं का प्रधान सेनापति और दिल्ली का गवर्नर नियुक्त किया। मुहम्मद बख्त खाँ वास्तव मे अत्यन्त योग्य और वीर था। उसने सम्राट बहादुरशाह से कहा कि यदि इसके बाद कोई शाहजादा भी नगर के अन्दर शासन प्रबन्ध मे बाधा डालेगा या प्रजा के साथ किसी भी प्रकार का अन्याय अथवा अनुचित व्यवहार करेगा, तो मै तुरन्त उसके नाक-कान कटवा डालूँगा। सम्राट बहादुरशाह ने यह सब तुरन्त स्वीकार कर लिया।

मुहम्मद बख्त खाँ की नियुक्ति की घोषणा समस्त दिल्ली नगर मे करा दी गई। मुहम्मद बख्त खाँ के साथ लगभग चौदह हजार पैदल, दो या तीन सवार पलटन और अनेक तोपे थी। वह अपनी सेना को छः महीने का वेतन पेशगी दे चुका था। इसके अतिरिक्त उसने चार लाख रुपये नकद लाकर सम्राट को भेट मे दिये थे। मुहम्मद बख्त खाँ ने दिल्ली नगर मे सुशासन स्थापित किया और आज्ञा दे दी कि कोई नगर-निवासी बिना हथियार के न रहे। जिन लोगों के पास हथियार न थे, उन लोगों को बिना मूल्य हथियार दिये गये। इसके बाद यदि कोई सिपाही पूरी कीमत दिये किसी से कोई वस्तु लेता था तो सिपाही का एक हाथ काट दिया जाता था।

मुहम्मद बख्त खाँ की नियुक्ति के दिन ही रात को ८ बजे महल के अन्दर सम्राट बहादुरशाह, बेगम जीनत महल, सेनापति मुहम्मद बख्त खाँ तथा अन्य प्रधान-प्रधान नेताओं मे सलाह हुई। ३ जुलाई को एक आम परेड हुई जिसमे लगभग बीस हजार सैनिक मौजूद थे। इतने ही समय मे नये-नये अँगरेज अफसर और अनुभवी सेनापति पंजाब से और अधिक

सेनाएँ ला लाकर अँगरेजी सेना मे सम्मिलित होते गये। फिर भी प्रधान सेनापति जनरल बर्नार्ड को दिल्ली की सेना पर आक्रमण करने का साहस न हो सका। ४ जुलाई को मुहम्मद बख्त ख़ाँ ने अपनी सेना सहित अँगरेजी सेना पर हमला किया।

कम्पनी की सेना को दिल्ली की दीवारों के नीचे पड़े हुए एक महीने से ऊपर हो चुका था। अनेक अँगरेज अफसरों के बयानों से साबित है कि अँगरेजों को विश्वास था कि दिल्ली पहुँचने के थोड़े घण्टे बाद ही हम दिल्ली पर विजय प्राप्त कर लेंगे। किन्तु अब वह विश्वास नैराश्य मे बदला हुआ सा दिखाई दे रहा था। इस नैराश्य मे ही ५ जुलाई सन् १८५७ को जनरल बर्नार्ड भी हैजे से मर गया। जनरल रीड ने उसका स्थान लिया। इस प्रकार विप्लव के आरम्भ होने से अब तक कम्पनी के दो प्रधान सेनापति (कमाण्डर-इन-चीफ) मर चुके थे। जनरल रीड तीसरा सेनापति था किन्तु अभी तक अँगरेज दिल्ली को नही जीत सके थे और दिल्ली की विप्लवकारी सेना अँगरेजी सेना पर बराबर आक्रमण करती रही।

९ जुलाई को मुहम्मद बख्त ख़ाँ के अधीन दिल्ली की विप्लवकारी सेना ने इतना भयानक आक्रमण किया कि अँगरेजी सेना के सवारों को उनके सामने से भाग जाना पड़ा और अँगरेजी तोपों के मुँह तुरन्त बन्द हो गये। इतना ही नहीं, उस दिन के भयानक संग्राम मे अनेक अँगरेज अफसर मारे भी गये। इतिहास लेखक के लिखता है कि—"उस दिन की हार पर अँगरेज सिपाही इतने लज्जित और कुपित हुए कि उन्होंने अपने कैम्प मे जाकर अपने निरपराध गरीब भिश्तियों और अनेक काले नौकरों को मार डाला। अपने इन हिन्दुस्तानी नौकरों

की वफ़ादारी और उनकी सेवाओं का उन सबों ने कुछ भी ख्याल नही किया, क्योंकि "इन गोरे सिपाहियों के हृदयों मे समस्त काले एशिया निवासियो के प्रति प्रचण्ड घृणा भड़क रही थी।"

१४ जुलाई के आक्रमण मे अँगरेजों की इससे भी अधिक बुरी हालत हुई। उस आक्रमण की भयानकता और उसके कारण परिस्थिति का बिगड़ जाना, साथ ही साथ सर्वापेक्षा अधिक दुर्दशा होना, इन सब बातों से जनरल रीड के भी हृदय मे धड़-कन होने लगी और वह शीघ्र ही बीमार पड़ गया। परिणाम यह हुआ कि अपने पद से इस्तीफा देकर वह १५ जुलाई को स्वास्थ्य लाभ करने के लिए पहाड़ पर चला गया। उसके स्थान पर जनरल विलसन नियुक्त किया गया। अँगरेजी सेना का यह चौथा प्रधान सेनापति अर्थात् कमाण्डर-इन-चीफ था।

दिल्ली की मीनारों के ऊपर स्वाधीनता की पताका को लह-राते हुए दो महीने हो चुके थे। भारत भर मे अनेक अँगरेज यह कहने लगे थे कि "जो सेना दिल्ली को घेरने के लिए नित्य प्रयत्न किया करती है, आश्चर्य की बात यही है कि वह स्वतः दिन प्रतिदिन अपने शत्रुओं द्वारा घिरती चली आ रही है।

इस स्थल पर ध्यान देने योग्य बात इतनी ही है कि अँगरेजी सेना केवल दिल्ली की पश्चिमी दीवार के नीचे थी, शेष तीनों ओर से विप्लवकारियों के सहायक और शुभचिन्तकों के लिए आने-जाने का मार्ग नित्य के समान खुला हुआ था। उस समय अँगरेजी सेना मे बहुत से आदमी बड़ी गम्भीरता के साथ यह विचार कर रहे थे दिल्ली-विजय करने का विचार छोड़ कर थोड़े से समय के लिए किसी दूसरी ओर ध्यान दिया जाय। सच बात

तो यह थी कि अँगरेजी सेना के समस्त सैनिक हिम्मत हार चुके थे। मुहम्मद बख्त खाँ ऐसे दक्ष सेनापति के अधीन जितनी भी विप्लवकारी सेना थी वह सब तरह से समर्थ थी। उसके भयानक आक्रमणों से अँगरेजी सेना का जो अब तक पूर्ण रूप से ह्रास नहीं हो सका था, वह सब उन लोगों के लिए सौभाग्य की बात थी। इधर सम्राट बहादुरशाह अपने प्रधान सेनापति मुहम्मद बख्त खाँ से इतना प्रसन्न था कि उसके किसी भी प्रबन्ध में टीका-टिप्पणी करना भी उसे प्रिय न था। सम्राट से उत्साहित और सम्मानित मुहम्मद बख्त खाँ पूर्ण स्वतन्त्रता के साथ अपने कार्यों को सफल बनाने का प्रयत्न कर रहा था, इसीलिए अँगरेजी सेना अपनी सफलता की आशा छोड़ चुकी थी।

इलाहाबाद और कानपुर की घटनाएँ

कुछ देर के लिए उचित होगा कि हम अपना ध्यान दिल्ली की ओर से हटा लें और अन्य विप्लव के केन्द्रों की ओर दृष्टिपात कर यह समझाने का प्रयत्न करे कि उस समय उन सब केन्द्रों मे क्या हो रहा था। इस स्थल पर यह बात भी ध्यान मे रखनी होगी कि जिस तरह सिखों ने ॲगरेजी सेना को पूर्ण रूप से सहायता पहुँचा कर भारतीय स्वाधीनता के प्रयत्नो को बहुत बड़ी हानि पहुँचाई थी उसी तरह अनेक राजपूत तथा मराठा नरेशों ने भी अपनी अनिश्चितता द्वारा हानि पहुँचाई।

जिन दिनों भारत भर मे ॲगरेजों को भगा देने के लिए प्रयत्न किये जा रहे थे, उन्ही दिनो जयाजीराव सींधिया ग्वालियर की गद्दी पर था। उसकी समस्त भारतीय सेना जो अत्यन्त सन्नद्ध थी, राष्ट्रीय योजना में भाग ले रही थी। १४ जून को ग्वालियर की सेना ने कम्पनी के विरुद्ध विप्लव का झण्डा खड़ा कर दिया। उन सबों ने ग्वालियर मे रहने वाले ॲंगरेजों के मकान जला दिये और ॲगरेज अफसरों तथा नगर के अन्य ॲगरेजों को मार डाला किन्तु इतना सब करने पर भी उन सबों ने किसी ॲगरेज स्त्री अथवा बच्चे को छुआ तक नहीं। इन सब को उन्होंने केवल गिरफ्तार कर लिया। कुछ ॲगरेज आगरे की ओर भाग निकले। ग्वालियर की समस्त

रियासत मे कम्पनी का प्रभाव और प्रभुत्व दोनों ही समूल नष्ट कर दिये गये।

फिर भी महाराज सींधिया अपनी अनिश्चितता के कारण सङ्कोच मे पड़ा रहा। निःसन्देह महाराज सीधिया उस समय कम्पनी के साथ मित्रता निबाहने के स्थान पर यदि खुल कर विप्लवकारियों का साथ दे बैठता और अपनी विशाल सेना के साथ (जो इस समय नेता न होने के कारण निकम्मी थी) दिल्ली पर चढ़ाई कर देता तो दिल्ली के भीतर की विप्लवकारी सेना और बाहर से सीधिया की सेना इन दोनों के बीच मे पिस कर कम्पनी की सेना वहीं समाप्त हो गई होती और विप्लवकारियों के पक्ष को भारत भर मे अनन्त बल प्राप्त हो जाता।

करीब करीब ग्वालियर के ही समान स्थिति इन्दौर के महराजा होलकर की भी थी। १ जुलाई को सआदत खॉ के अधीन इन्दौर की सेना ने इन्दौर की रेजिडेन्सी पर हमला किया। वहॉ पर जितने अॅगरेज थे, उन सबों को प्राणों की भिक्षा दे दी गई। वे तुरन्त इन्दौर छोड़ कर भाग गये किन्तु आश्चर्य की बात तो यह है कि अॅगरेज इतिहास लेखक भी इस बात का निश्चय नहीं कर पाते कि महाराज होलकर की सहानुभूति वास्तव मे अॅगरेजों के साथ थी या विप्लवकारियों के साथ। यह बात ध्यान देने योग्य है कि इस तरह के अवसरों पर जब कि भारतीय नरेश अन्त तक अपना निश्चय न कर सके, रियासतों की सेनाओं और कम्पनी की हिन्दुस्तानी सेनाओ ने हर जगह देश का साथ दिया। ठीक ऐसी ही स्थिति कच्छ और राजपूताने की रियासतों की भी थी। इतिहास

लेखक मालेसन लिखता है कि—"जयपुर और जोधपुर के राजाओं ने अपनी सेनाओं को आदेश दिया कि जाकर अँगरेजों की सहायता करो, किन्तु सिपाहियो और उनके अफसरों ने तुरन्त उस आदेश को मानने से इन्कार कर दिया।"

भरतपुर और अन्य कई रियासतों की भी ठीक यही हालत थी। ५ जुलाई को विप्लवकारी सेना ने आगरे पर आक्रमण किया। उस समय आगरे में थोड़ी-सी गोरी सेना मौजूद थी। भरतपुर के राजा ने अँगरेजो की सहायता करने के लिए अपनी सेना से कहा। कुछ समय तक तो भरतपुर की सेना मौन रही किन्तु जब राजा ने उन सबों को भेजना निश्चय कर लिया तब भरतपुर की सेना ने जाने से साफ इन्कार कर दिया और कहा, "हम अपने देशवासियो के विरुद्ध न लड़ेंगे।"

जनरल पालवेल की गोरी सेना और विप्लवकारियों मे एक भयानक संग्राम हुआ, जिसमे दिन भर की लड़ाई के बाद गोरी सेना को हार कर पीछे हट जाना पड़ा। ३ जुलाई को आगरे के नगर के ऊपर हरा झण्डा फहराने लगा। उसी दिन वहाँ का शहर कोतवाल, समस्त पुलिस और हिन्दू-मुसलमानों ने मिल कर हरे झण्डे का एक बहुत बड़ा जलूस निकाला और ऐलान कर दिया कि आज से आगरे के ऊपर अँगरेजी राज्य के स्थान पर दिल्ली के सम्राट का आधिपत्य फिर से स्थापित हो गया। किन्तु इन भारतीय नरेशों की उस समय की अनिश्चितता और अदूरदर्शिता ने विप्लव को अधिक नुकसान पहुँचाया, इसमें कुछ भी सन्देह नहीं है। इन नरेशों से अधिक समझदार उनके सैनिक ही कहे जा सकते हैं।

यहाँ तक देशी नरेशों के सम्बन्ध मे अपने पाठकों को

बतला चुकने के बाद अब हम फिर कानपुर और इलाहाबाद की ओर आते है। इलाहाबाद के शहर और किले पर अँगरेजों का अधिकार फिर से हो चुका था। उत्तरी भारत मे विप्लव को दमन करने की दृष्टि से इलाहाबाद अत्यन्त महत्त्वपूर्ण स्थान था। इसलिए लार्ड कैनिंग जब कलकत्ते से इलाहाबाद आ गया और जब तक विप्लव को शान्त नहीं किया जा सका तब तक इलाहाबाद को ही अपनी राजधानी बनाये रखना निश्चय कर लिया।

इधर कानपुर मे अँगरेजों की जो दशा हुई थी उसका समाचार जिस समय इलाहाबाद पहुँचा और जब यह भी विदित हुआ कि कानपुर मे अँगरेजों की मुसीबतों का वर्णन कर सकना साधारण-सी बात नही है अर्थात् वहाँ के अँगरेजों पर परमात्मा के कोप से मुसीबतों का पहाड़ ही टूट पड़ा है, उस समय इलाहाबाद की रक्षा के लिए थोड़ी-सी सेना रख कर शेष सेना को मेजर रिनाड के अधीन कानपुर के अँगरेजों की सहायता के लिए जनरल नील ने भेज दी। जनरल नील की स्थापित की हुई मर्यादा के अनुसार दोनों ओर के ग्रामों मे आग लगाती हुई यह सेना कानपुर की ओर बढ़ी।

जून के अन्त मे हैवलाक नाम का एक दूसरा जनरल इलाहाबाद मे आ पहुँचा। इतने ही समय के अन्दर कानपुर मे अँगरेजों की पराजय और सतीचौरा घाट के हत्याकाण्ड का समाचार भी इलाहाबाद मे आ गया। जनरल हैवलाक भी अब अँगरेज और सिख सेना तथा तोपखाने के साथ कानपुर की ओर तुरन्त बढ़ा। आगे चलकर हैवलाक और रिनाड की सेनाएँ एक साथ हो गई। इसके बाद रास्ते के गाँवों को गाँवों

मे रहने वालों के साथ जलाने का काम पहले के ही समान होता रहा। कम्पनी की सेना की इस अत्याचारी यात्रा के विषय मे सर चार्ल्स डिक नामक एक इतिहास लेखक इस प्रकार लिखता है—

"सन् १८५७ मे जो पत्र इगलैण्ड पहुँचे उनमे एक ऊँचे दर्जे का अफसर, जो कानपुर की ओर बढ़ने वाली अँगरेजी सेना के साथ था, लिखता है कि, "मैंने आज की तारीख मे बहुत से शिकार मारे और विप्लवकारियों को उड़ा दिया।" यह स्मरण रखना चाहिए कि जिन लोगो को इस तरह फॉसी दी गई या तोप से उड़ाया गया वे हथियारबन्द विप्लवकारी न थे। बल्कि गावों के रहने वाले थे और जिन्हे केवल 'सन्देह पर' पकड़ लिया जाता था। इस यात्रा मे गॉव के गॉव इस निर्दयता के साथ जला डाले गये और निर्दयता के साथ निरपराध ग्राम-निवासियों का संहार किया गया कि जिसे देखकर एक बार मुहम्मद तुगलक भी लज्जित हो जाता।"

अँगरेजी सेना के कानपुर की ओर बढ़ने का समाचार पाकर नाना साहब ने ज्वालाप्रसाद और टीकासिंह के अधीन कुछ सेना कम्पनी की सेना का सामना करने के लिए तुरन्त भेज दिया। १२ जुलाई को फतहपुर के निकट दोनो सेनाओं मे एक सग्राम हुआ जिसमे कानपुर की विप्लवकारी सेना को हार कर पीछे हट जाना पड़ा। इसके बाद अँगरेजों ने फतहपुर के नगर मे बड़ी प्रसन्नता के साथ प्रवेश किया।

इसके कुछ समय बाद पहले फतहपुर का नगर अपनी स्वाधीनता की घोषणा कर चुका था। वहाँ पर भी थोड़े से अँगरेज अफसर मारे जा चुके थे किन्तु विप्लवकारियों ने वहाँ

के मजिस्ट्रेट शेरर को प्राणों की भिक्षा दे दी थी और फतहपुर से सकुशल चले जाने के लिए उसे आज्ञा भी दे दी थी। वही शेरर इस समय हैवलाक की सेना के साथ था। हैवलाक और शेरर ने इस अवसर पर नगर-निवासियों से पूरा बदला लिया। सब से पहले कम्पनी के सिपाहियों को नगर लूटने की आज्ञा दी गई। उसके बाद लिखा हुआ मिलता है कि अँगरेज सेनापति की आज्ञा से फतहपुर नगर और नगर-निवासियो को उसी के अन्दर जला कर राख का ढेर बना दिया गया।

इस रोमाँचकारी अत्याचार का समाचार नाना साहब के कानों तक पहुँच गया। कानपुर के नेताओं और नगर-निवासियों का क्रोध चरम सीमा तक पहुँच गया। नाना साहब ने स्वयं सेना लेकर आगे बढ़ने का निश्चय किया। इसी समय अँगरेजों के कई जासूस गिरफ्तार होकर नाना साहब के सामने पेश किए गए। इन जासूसों से विदित हुआ कि बीबीगढ़ की कोठी मे जो अँगरेज स्त्रियाँ नजरबन्द थीं, उनमे से कई नाना साहब के विरुद्ध इलाहाबाद के अँगरेजों के साथ गुप्त पत्र व्यवहार कर रही थीं।

इस घटना के दूसरे ही दिन एक ऐसी भयानक घटना हुई जो विप्लवकारियों के नाम पर एक अमिट कलंक बन कर ही रहेगी। कहा जाता है कि कानपुर के १२५ अँगरेज कैदी स्त्रियाँ और बच्चे कत्ल कर डाले गए और दूसरे दिन सबेरा होते ही उनकी लाशों को एक कुएँ मे डाल दिया गया। कानपुर की इस हृदय-विदारक घटना के सम्बन्ध मे अँगरेज इतिहास लेखक अनेक प्रकार की टीका टिप्पणियाँ कर चुके है। केवल एक इसी

के आधार पर नाना साहब को निर्दय, हत्यारा साबित करने का घोर प्रयत्न किया गया है। इस प्रसग के सिलसिले मे हमे यह कहना ही पड़ता है कि जिस समय हम इतिहास की उन पुस्तकों मे विशेषकर; स्कूलों और कालेजों की इन पाठ्य पुस्तकों मे जनरल नील, जनरल हैवलाक, जनरल ऐनसन, जनरल बर्नार्ड इत्यादि के भारती-प्रजा पर घोर अमानुषिक अत्याचारों का कोई उल्लेख नही पाते और कानपुर की इस वीभत्स हत्या और कानपुर मे कुएँ का उल्लेख अवश्य पाते है, उस समय हमे अत्यधिक कष्ट होता है। इस सम्बन्ध मे केवल दो बातें कह देना भी हम अपने कर्त्तव्य की दृष्टि से आवश्यक समझ रहे है।

पहली बात तो यह है कि जिन अँगरेजी पुस्तकों मे इन सब घटनाओं का वर्णन किया गया है उनमे प्रायः इन सब घटनाओ के साथ कई और भी अधिक भयानक और अमानुषिक बातों को जोड़ दिया गया है। उदाहरण के लिए यह कि अँगरेज स्त्रियों और बच्चों की हत्या करने के लिए शहर के कसाई बुलाये गये थे। हत्या करने से पूर्व इन लोगों को निर्दयता के साथ धीरे-धीरे अँग-भंग किया गया और स्त्रियों की हत्या करने से पहले उनकी बेइज्जती की गई; इत्यादि। इन सब रोमांचकारी बातों के सम्बन्ध मे हम केवल विप्लव के सब से अधिक प्रमाणिक इतिहास लेखक सर जान के के कुछ वाक्यों को पाठकों के सामने पेश कर देना उचित समझते हैं। इतिहास लेखक सर जान के एक स्थल पर इस प्रकार लिखता है—

"उस समय के कई इतिहासों मे बयान किया गया है कि भीषण हत्याकाण्ड के साथ कई तरह की परिष्कृत क्रूरतायें और

अकथनीय लज्जाजनक बातें की गई थीं। वास्तव मे ये क्रूरताएँ और उस प्रकार की लज्जाजनक बाते कुछ लोगों ने क्रोध के आवेश मे आकर केवल अपनो कल्पना-शक्ति से गढ़ ली थीं। अन्य लोगो ने बिना जॉच किये उन पर सहज ही मे विश्वास कर लिया और बिना सोचे-समझे उनका प्रचार करना आरम्भ कर दिया। ××× जून और जुलाई के हत्याकाण्डों के विषय मे सरकारी कमीशन से मेम्बरों ने प्रत्येक बात की अत्यन्त परिश्रम के साथ जॉच की और उन्होंने अत्यन्त स्पस्ट शब्दों मे यह विचार प्रकट किया है कि किसी को भी अग-भग नहीं किया गया और न किसी की इज्जत ली गई।

एक दूसरा विद्वान अँगरेज लन्दन के 'टाइम्स' पत्र का सम्वाददाता सर विलियम रसल, जो विप्लव के समय भारत में मौजूद था, कानपुर के हत्याकाण्ड के सम्बन्ध मे लिखता है—"अनेक जालसाजों और अत्यन्त नीच बदमाशो ने लगातार कोशिश करके इस मामले के साथ अनेक भीषण घटनाएँ जोड़ दीं। ये कल्पित घटनाएँ केवल इस आशा से गढ़ी गई थीं कि उनसे अँगरेजों के दिलों मे क्रोध और बदला लेने की प्रचण्ड इच्छा भड़क उठे। मानों केवल घृणा इस क्रोध और बदला लेने की इच्छा को भड़काने के लिये काफी न थी।"

दूसरी बात यह है कि एक सज्जन, जिन्हे ऐतिहासिक घटनाओं की खोज और जॉच का शौक है प्रयाग नगर के स्वनामधन्य पडित सुन्दरलाल जी से कहते थे कि उन्होंने कानपुर के कसाइयों के मुहल्ले मे जाकर पूछ-ताछ की तो वहॉ के बूढ़े लोगों से मालूम हुआ कि बीबीगढ़ की हत्या के लिये कम से कम कसाइयों को बुलाया जाना बिलकुल झूठ है।

कलकत्ते के ब्लैकहोल के सर्वथा झूठे किस्से का वर्णन इतिहास की असंख्य पुस्तकों मे पाया जाता है और कलकत्ते मे ब्लैकहोल की जगह बनी हुई है। इससे पता चलता है कि कानपुर मे 'कुएँ' का होना विशेष रूप से यह साबित नही करता कि यह घटना सर्वथा सच्ची है। इॅगलैण्ड की पार्लियामेण्ट का एक सदस्य लेयार्ड इस तरह की अनेक घटनाओं की जॉच करने के लिए स्वय उन्हीं दिनों मे भारत आया। अपनी जॉच के बाद लेयार्ड लिखता है—

"निहायत गौर के साथ जॉच पड़ताल के बाद अच्छे से अच्छे और सब से अधिक विश्वसनीय जरियों से जो सूचनाएँ मुझे मिली है, उनसे मुझे पूरा विश्वास हो गया है कि जो अनेक भयङ्कर अत्याचार कहा जाता है कि देहली, कानपुर, झॉसी तथा अन्य स्थानों पर अॅगरेज स्त्रियों और बच्चों पर किये गये, वे प्रायः एक एक कर सब के सब कल्पित हैं जिनके गढ़ने वालों को लज्जा आनी चाहिए।"

अन्य निष्पक्ष अॅगरेजों के इससे भी अधिक जोरदार वाक्य इस कथन के समर्थन मे उद्धृत किये जा सकते है। इसीसे प्रमाणित है कि बीबीगढ़ के हत्याकाण्ड की सच्चाई पर विश्वास नही किया जा सकता। साथ ही अभी तक मान लेना भी कठिन हो रहा है कि इस बीबीगढ़ के हत्याकाण्ड के किस्से की जड़ मे सच्चाई क्या और कितने अंश तक थी। इस विषय मे अभी बहुत अधिक निष्पक्ष खोज की आवश्यकता है। यदि समय ने साथ दिया तो यह कार्य भी निकट भविष्य मे पूरा हो जायगा।

यदि कानपुर मे १२५ अँगरेज स्त्रियों और बच्चों को निरपराध मार डाला गया तो हम यह भी जानते है कि जनरल नील ने अपने ही बयान के अनुसार कम से कम हजारों भारतीय स्त्रियों और बच्चों को जीवित ही जला दिया। किन्तु एक अत्याचार दूसरे अत्याचार को किसी भी दशा मे उचित नहीं बना सकता। यदि बीबीगढ़ के हत्याकाण्ड में कुछ भी सच्चाई है और यदि यह घटना किसी अंश तक सच्ची भी है और जिस अश तक भी यह सच्ची है तो इसमे कुछ भी सन्देह नही कि विप्लवकारियों के नाम पर यही एक बहुत बड़ा कलङ्क है।

इस समय इस प्रसंग से सम्बन्ध रहने वाला एक प्रश्न यह भी उठता है कि यदि बीबीगढ़ की हत्या का किस्सा सच है तब उस दशा मे भी उसके लिये नाना साहब को कहाँ तक उत्तरदायी ठहराया जा सकता है? सर जार्ज फारेस्ट लिखता है—

"गवाहियों से यह साबित होता है कि जो सिपाही इन कैदियो के ऊपर पहरा दे रहे थे, उन्होंने उनकी हत्या करने से इन्कार कर दिया। यह गन्दा "जुल्म एक वेश्या के उकसाने पर नाना की गारद के पॉच बदमाशों ने किया! इस क्रूर हत्या के लिए सारी कौम को अपराधी ठहराना अनुदार भी है और असत्य भी।"

इतिहास लेखक सर जार्ज कैम्पबेल लिखता है—"कानपुर की हत्या और कुएँ के ऊपर भयङ्कर दृश्य के पाप को कम करने वाली कोई बात कहना कठिन है, फिर भी हमे दो बाते याद रखनी चाहिए। पहली यह कि हत्या किसी ने पहले से तय

करके नहीं की, बल्कि जिस समय हैवलाक विप्लवकारियों को पीट कर चला आ रहा था उस समय क्षणिक क्रोध और निराशा के वश यह कार्य किया गया। दूसरी बात यह कि हमारी सेना के लोगों ने कानपुर की ओर बढ़ते समय जो जो अत्याचार किये उनके द्वारा हमने स्वयं लोगों को इस प्रकार के कार्य करने के लिए काफी उत्तेजित कर दिया था। कुछ समय बाद इस हत्या-काण्ड के सम्बन्ध की परिस्थिति की बड़ी सावधानी के साथ जॉच पड़ताल की गई, और हमें कोई बात ऐसी नही मिली जिससे मालूम हो कि किसी ने पहले से इस हत्या का इरादा कर रखा हो या किसी हत्या के लिए किसी को आज्ञा दी हो××× ।"

इससे मालूम होता है कि कानपुर मे अँगरेज स्त्रियों और बच्चो की हत्या के किस्से मे यदि कुछ सच्चाई भी है तो वह हैवलाक के अत्याचारो से दुःखित कुछ विप्लवकारियों के क्षणिक क्रोध का परिणाम था, किसी ने उसके लिए किसी को आज्ञा न दी थी और नाना साहब को उसके लिए उत्तरदायी ठहराना उचित नहीं है।

१० जुलाई को जनरल हैवलाक अपनी विशाल सेना के साथ कानपुर के निकट पहुँच गया। नाना साहब ने स्वयं सेना लेकर हैवलाक का सामना किया। दोनों ओर की तोपो ने गोले बरसाने आरम्भ कर दिये किन्तु अन्त मे नाना साहब की सेना को हार कर पीछे हट जाना पड़ा। नाना साहब ने फिर एक बार अपने सिपाहियों को प्रोत्साहित करके आगे बढ़ाने का प्रयत्न किया। एक अँगरेज इतिहास लेखक लिखता है कि फिर एक बार घमासान युद्ध हुआ किन्तु अन्त मे फिर हैवलाक की विशाल

सेना के सामने नाना की सेना को हार कर बिठूर की ओर चला जाना पड़ा। १७ जुलाई को हैवलाक की विजयी सेना ने कानपुर के प्रसिद्ध नगर मे पूर्ण उल्लास के साथ प्रवेश किया और इसी घटना से अँगरेजी राज्य के इतिहास मे हैवलाक का नाम अमर हो गया।

कानपुर नगर मे प्रवेश करने के बाद जनरल हैवलाक ने जो कुछ किया उस सम्बन्ध मे चार्ल्स बाल लिखता है—"जनरल हैवलाक ने सर ह्यू व्हीलर को मृत्यु के लिए भयङ्कर बदला चुकाना आरम्भ कर दिया। हिन्दुस्तानियों के गिरोह के गिरोह फाँसी पर चढ़ा दिये गये। मृत्यु के समय कुछ विप्लवकारियों ने जिस प्रकार चित्त की शान्ति और अपने व्यवहार मे ओज का परिचय दिया वह उन लोगों के सर्वथा योग्य था जो कि किसी सिद्धान्त के नाम पर शहीद होते है।"

विप्लवकारियों मे से जिन लोगों को फाँसी दी गई थी उनमें से एक व्यक्ति का उदाहरण देते हुए चार्ल्स बाल लिखता है कि—"वह बिना तनिक सी भी घबराहट के ठीक इस प्रकार फाँसी के तख्ते पर चढ़ गया जिस प्रकार एक योगी अपनी समाधि मे प्रवेश करता है।"

कानपुर मे प्रवेश करते ही समस्त अँगरेजी सेना और सिख सेना के सिपाहियों को सब से पहले नगर के लूटने की आज्ञा दी गई। उसके बाद फाँसियों का कार्य बड़ी तत्परता के साथ किया जाने लगा। लिखा है कि बीबीगढ़ मे जमीन के ऊपर खून का एक बड़ा धब्बा था। सन्देह होता था कि यह खून अँगरेज स्त्रियों और बच्चों का है। कानपुर नगर के अनेक प्रतिष्ठित वंश

के ब्राह्मणों को लाकर विशेषतया जिन पर सन्देह था कि उन्होंने विप्लव मे भाग लिया है, उन सबों को उस खून को जीभ से चाटने और फिर झाड़ू से धोकर साफ करने की आज्ञा दी गई इसके बाद उन सबों को फॉसी के तख्तों पर तुरन्त चढ़ा दिया गया। उस समय के एक अँगरेज अफसर ने इस अनोखे दंड का कारण इस तरह बयान किया है—

"मै जानता हूॅ कि फिरंगियों के खून को छूने और फिर उसे मेहतर की झाड़ू से साफ करने से एक उच्च जाति का हिन्दू धर्म से पतित हो जाता है। केवल इतना ही नही बल्कि चूॅकि मै यह जानता हूॅ इसीलिए मै उनसे ऐसा कराता हूॅ। जब तक हम उन्हे फॉसी देने से पहले उनके समस्त धार्मिक भावों को पैरों तले न कुचलेगे तब तक हम पूरा बदला नही ले सकते, ताकि उन्हे यह सन्तोष न हो सके कि हम हिन्दू धर्म पर कायम रहते हुए मरे।"

यह हम पहले ही बता चुके हैं ति सतीचौरा घाट पर जिन अॅगरेजों की हत्या की गई थी उन्हे कम से कम मरने से पहले इञ्जील का पाठ करने की इजाजत दी गई थी और विजयी होने पर भी अॅगरेजो ने हिन्दुओं पर ऐसे अत्याचार किये। एक तो गलत इतिहास स्कूल और कालेज मे पढ़ा-पढ़ा कर वास्तविक ज्ञान से दूर रखा गया और यदि किसी ने किसी भी प्रकार वास्तविक इतिहास को तैयार करके प्रकाशित भी कराया तो वह जनता के सामने आने तक न पाया।

कुछ भी हो, इस सम्बन्ध मे और अधिक न कहकर हम अपने मुख्य विषय पर आते है। कानपुर मे हैवलाक के प्रवेश करने के थोड़े दिनों बाद कुछ और सेना लेकर जनरल नील

कानपुर पहुँचा। उसके पहुँचने पर हैवलाक दो हजार अँगरेजी सेना और दस तोपों के साथ २५ जुलाई को कानपुर से लखनऊ की ओर बढ़ा और जनरल नील कानपुर की रक्षा के लिये कानपुर मे ही रह गया। इधर नाना साहब भी अँगरेजी सेना से पराजित हो जाने के कारण बिठूर छोड़ कर अपने खजाने और कुछ सेना के साथ गगा पार कर फतहगढ़ की ओर चला गया। अब हम कुछ देर के लिए नाना साहब और हैवलाक को यहीं छोड़ कर राजधानी दिल्ली की ओर फिर चल कर वहाँ की घटनाओं का वर्णन करेंगे।

पंजाब की एक घटना

इसमे सन्देह नहीं कि हमे राजधानी दिल्ली की ओर फिर चलना है किन्तु इस समय उचित यह भी समझ रहे है कि दिल्ली को बीच मे ही छोड़कर एक बार पंजाब को भी फिर देख ले क्योंकि वहाँ भी एक छोटी सी घटना ऐसी हो चुकी है जिसका कि वर्णन कर देना हम आवश्यक समझ रहे है। उस घटना के वर्णन से पाठकों को यह भी विदित हो जायगा कि जिस समय अँगरेजी सेना दिल्ली मे विजय-लाभ करने का स्वप्न देख रही थी उस समय पजाबियों को भयभीत करने और उन पर अपनी धाक जमाये रखने के लिए पंजाब के अँगरेज शासकों ने किस किस प्रकार के उपाय तैयार किये थे।

मई के महीने मे लाहौर के अन्दर चार देशी पलटनों से हथियार रखाये जा चुके थे और इन लोगों पर सिखों और गोरों का कड़ा पहरा था इनमे से किसी को भी छावनी से बाहर जाने की इजाजत न थी। ३० जुलाई की रात को इनमे से २६ नम्बर पलटन के अधिकांश सिपाही छावनी से निकल पड़े। इन सिपाहियों के पास न तो हथियार थे और न इनमे से किसी ने किसी प्रकार के विद्रोह मे हाथ बॅटाया था। केवल इतना ही चाहते थे कि दूसरे दिन रावी नदी को पार करके निकल जायॅ। उन सबों को रोकने के लिए सब तरह से प्रयत्न किया गया परन्तु वे रावी के किनारे-किनारे अमृतसर की ओर बढ़े।

सर राबर्ट माण्टगुमरी ने अपने सिपाहियों को आज्ञा दी कि उन सबों का पीछा किया जाय। अमृतसर का डिप्टी कमिश्नर फ्रेडरिक कूपर माण्टगुमरी का खास आदमी था। उसे भी सूचना भेज दी गई। इधर २६ नम्बर पलटन के ये हिन्दुस्तानी सिपाही थके हुए, भूखे और निहत्थे अमृतसर की एक तहसील अजनाले से ६ मील दूर रावी के तट पर खड़े हुए थे। अजनाला अमृतसर से १६ मील दूरी पर है। इसके बाद अजनाले मे जो अमानुषिक घटना हुई उसे फ्रेडरिक कूपर ने अपनी पुस्तक "दी क्राइसस इन दी पजाब" मे बड़े अभिमान के साथ वर्णन किया है। इस घटना को हम ठीक कूपर के ही वर्णन के अनुसार और उसी के भावार्थक शब्दो मे वर्णन कर देना चाहते है। यहाॅ यह अवश्य ध्यान मे रखना चाहिए कि हमारा वर्णन जहाॅ तक सम्भव है, सक्षिप्त ही होगा।

३१ जुलाई को दोपहर के समय कूपर को विदित हुआ कि २६ नम्बर के निहत्थे सिपाही अपनी छावनी से चलकर रावी के किनारे किनारे बढ़ रहे है। ऐसा विदित होते ही अजनाले के तहसीलदार को कुछ हथियारबन्द सिख सिपाहियों के साथ उन्हे घेरने के लिये भेज दिया गया। लगभग ४ बजे सन्ध्या को कूपर स्वयं ८० या ९० सवारों के साथ निर्दिष्ट स्थान पर पहुॅच गया। उसके पहुॅचते ही उन थके हुए और भूखे सिपाहियों पर गोलियाॅ चलाई गई। उन सिपाहियों की संख्या लगभग पाॅच सौ के थी। इनमे से लगभग डेढ़ सौ गोलियो से घायल होकर पीछे की ओर मुड़े और रावी मे डूब गये। कूपर लिखता है कि भूख और थकावट के कारण वे सब इतने शक्तिहीन थे कि रावी नदी की धार मे क्षण भर भी न ठहर

सके। रावी नदी का जल उनके रक्त से लाल हो गया। शेष सिपाहियो ने पानी से निकल कर कुछ भागते हुए और पानी मे ही तैरते हुए नदो के चढ़ाव की ओर एक मील की दूरी पर एक टापू में आश्रय लिया। दो नावे उस स्थान पर मौजूद थीं। हथियारबन्द तीस सवार इन नावो मे बैठ कर उन्हें गिरफ्तार करने के लिए भेजे गये। लगभग साठ बन्दूकों के मुँह उन लोगो की ओर कर दिये गये। दूर से बन्दूकों को देख कर आपत्ति से घिरे हुए उन सिपाहियों ने हाथ जोड़ कर अपनी निर्दोषिता प्रकट की और प्राणदान चाहा। इसी समय उनमे से पचास के करीब नैराश्य के कारण पानी मे कूद पड़े और फिर दिखाई न दिये।

शेष सिपाहियों को तुरन्त गिरफ्तार कर लिया गया और थोड़े थोडे करके उन्हे नावों मे बैठाकर किनारे तक पहुँचा दिया गया। किनारे पर उन सबों के पहुँचते ही उनके गलों मे जो मालाएँ आदि थी वे सब तुरन्त काट कर फेक दी गई उन सिपाहियों को अलग-अलग गिरोहों मे अच्छी तरह बाँध दिया गया और सिख सवारो की देख रेख मे धीरे धीरे अजनाले पहुँचा दिया गया। उस समय बड़े जोरो की वर्षा हो रही थी।

गिरफ्तार होने वाले सिपाहियो की संख्या लगभग २८२ थी जिनमे कई अफसर भी थे। लगभग आधी रात के समय पानी मे भीगते हुए वे सब अजनाले के थाने पर पहुँच गये। इन सब को फाँसी देने के लिए रस्सियों और गोली से उड़ाने के लिए पचास हथियारबन्द सिख सिपाहियों का प्रबन्ध अजनाले के थाने मे कूपर ने पहले से ही कर रखा था। किन्तु वर्षा हो रही थी इसलिए यह सब कार्य दूसरे दिन के लिये स्थगित

कर दिया गया। गिरफ्तार किये जाने वाले सिपाहियों की संख्या इतनी अधिक थी कि वे पुलिस के मकान मे नहीं आ सकते थे। समीप ही तहसील की नई इमारत बन कर तैयार थी। कैदी सिपाहियों मे से अधिकांश को प्रातःकाल तक के लिए पुलिस के थाने मे बन्द कर दिया गया और ६६ कैदी सिपाहियों को तहसील की नई इमारत में एक छोटे से गुम्बद मे बन्द कर दिया गया। कहा जाता है कि यह छोटा सा गुम्बद बहुत ही तंग था। उतने आदमी उसमे आ ही न सकते थे उस पर भी उसके दरवाजे चारों ओर से बन्द कर दिये गये थे।

दूसरे दिन पहली अगस्त को बकरीद थी। प्रातःकाल होते ही उन सब भाग्य-हीनों को दस-दस करके बाहर लाया गया। कूपर थाने के सामने बैठा हुआ था। दस सिख सिपाही एक एक ओर बन्दूके लिए खड़े रहते थे। शेष चालीस सिख सिपाही सहायता के लिए उनके आस-पास रहते थे। जब वे कैदी सिपाही दस-दस की टोली मे सामने आते तब उन्हे गोली से उड़ा दिया जाता है।

उनमे से अधिकांश सिपाही हिन्दू थे। लिखा है कि मरते समय उनमे से कुछ ने सिखों को गंगाजी की दुहाई देकर लानत मलामत की। जब थाने के कैदी समाप्त हो गये तब गुम्बद के कैदियों को बाहर निकाला गया किन्तु अभी तो केवल २३७ही सिपाही गोली से उड़ाये गये थे, अर्थात् गुम्बद में से केवल २१ सिपाही बाहर निकाले गये थे कि कूपर को सूचना दी गई कि शेष कैदी गुम्बद से बाहर निकलने से इन्कार करते हैं। इस मौके पर कूपर स्वयं लिखता है कि पहले उन सबों को दुरुस्त करने का प्रबन्ध किया गया। फिर भीतर जाकर देखा

गया तो ४५ सिपाहियों की लाशे पड़ी हुई मिली। यह हो सकता है कि उनमे से कुछ अभी तक सिसकियाँ भी लेते रहे हों। इस पर कूपर के ये शब्द है—"अनजाने ही हालवेल के ब्लैकहोल का हत्याकाण्ड फिर से दुहराया गया।"

यहाँ पर यह दुहराने की आवश्यकता नहीं कि हालवेल के ब्लैकहोल का किस्सा सरासर झूठा था किन्तु कूपर का अजनाला ब्लैकहोल तो एक सच्ची ही घटना थी! रात को वे बेचारे कैदी सिपाही पानी और हवा के लिए चिल्लाये होंगे किन्तु कूपर लिखता है कि बाहर के शोर के कारण उनकी आवाजे सुनाई न दी।

४५ लाशे उन लोगो की जो थकावट, गर्मी और हवा की कमी के कारण भीतर घुट कर मर गये, बाहर घसीट कर डाल दी गई। किन्तु एक कठिनाई अभी शेष थी। उन २८२ लाशों को दफन करने का प्रश्न। अजनाले के थाने से लगभग सौ गज के अन्दर एक गहरा पुराना कुआँ था। ये सब लाशे मेहतरों से घिसटवा-घिसटवा कर उस कुएँ मे डलवा दी गई फिर उस कुएँ को मिट्टी से भर दिया गया और उसके ऊपर मिट्टी का एक इतना ऊँचा ढेर लगा दिया गया कि एक टीला सा बन गया।

इस कुएँ के विषय मे फ्रेडरिक कूपर बड़े अभिमान के साथ लिखता है—"एक कुआँ कानपुर मे है, किन्तु एक कुआँ अजनाले मे भी है।"

इस प्रकार २६ नम्बर पलटन के लगभग पाँच सौ सैनिकों को २४ घटे के अन्दर परलोक पहुँचा दिया गया। उस पलटन के जो शेष से थोड़े सिपाही लाहौर से अथवा रावी के किनारे से इधर-उधर भाग निकले थे, उन सब को दो-चार दिन के अन्दर

गिरफ्तार कर लिया गया और उनमे से कुछ सैनिक को लाहौर मे और कुछ सैनिकों को अमृतसर मे तोप के मुँह से उड़ा दिया गया।

दूसरे दिन चीफ कमिश्नर सर जान लारेन्स और जुडीशल कमिश्नर राबर्ट माण्टगुमरी ने समस्त घटना का समाचार पाकर कूपर को अत्यन्त प्रशसा के पत्र लिखे, जो कूपर की पुस्तक मे छपे हुए हैं। हिन्दू तहसीलदार और सिख घातकों को बड़ी-बड़ी रकमे इनाम मे दी गई।

यदि फ्रेडरिक कूपर ने अपनी पुस्तक के अन्दर अजनाले की भीषण और बीभत्स घटना का वर्णन न किया होता तो प्रत्येक मनुष्य के लिए उस घटना पर विश्वास कर सकना बड़ा ही कठिन हो जाता। किन्तु यह ध्यान मे रखना चाहिये कि अभी तक अजनाले की उस घटना का जो वर्णन किया गया है वह सब कूपर के ही शब्दों को अपनी भाषा मे समझ लेना चाहिये।

वह कुआँ जिसके अन्दर २८२ सिपाहियों की लाशे फेंकी गई थी, अभी तक मौजूद है। उसके ऊपर मिट्टी का एक ऊँचा टीला अब भी है। अजनाले मे इसे अभी तक 'काल्याँदा-खूह' कहते है। पुलिस का थाना भी जिसके सामने सिपाहियों को मारा गया था और तहसील की वह इमारत, जिसके गुम्बद मे ४५ सिपाही घुट कर मर गये, अभी तक मौजूद है। इस गुम्बद को अभी तक वहाँ के लोग 'काल्याँदा बुर्ज' कहते है। अजनाले के कुछ लोगों का कहना है कि उस समय के तहसीलदार का नाम प्राणनाथ था और उसका काम प्राण लेना था। इतना ही नहीं

जो लोग कुएँ के अन्दर एक दूसरे के ऊपर डाले जाते थे, उनमें से कुछ जीवित भी थे और वे चिल्ला भी रहे थे, किन्तु उन बेचारों पर राक्षसों ने कुछ भी दया न की। वास्तव मे अजनाले की यह घटना बड़ी ही शोकजनक है। यही से हम इसका वर्णन बन्द कर रहे हैं और अब अपने लक्ष्य अर्थात् राजधानी दिल्ली की ओर बिना किसी रोक-टोक के तुरन्त चलते है।

दिल्ली का शेष वृत्तान्त

राजधानी दिल्ली के अन्दर अब विप्लवकारी समुदाय के लिए मुख्य कार्य इतना ही था कि वे बार बार नगर से निकल कर कभी दाहिनी ओर से और कभी बाईं ओर से अँगरेजों की सेना पर आक्रमण करते थे और उस प्रकार आक्रमण करके अँगरेजों की सेना को विशेष रूप से हानि पहुँचा देते थे किन्तु इतना सब करने पर भी अन्त मे वे सब पीछे को ही हटते जाते थे और अँगरेजों की सेना उनका पीछा किया करती थी। उन सबों का पीछा करते करते जब अँगरेजी सेना शहरपनाह की दीवारों के ठीक नीचे आ जाती थी तब दीवारों के ऊपर की तोपें उन पर ऐसे भयानक ढग से गोले बरसाती थी कि अँगरेजी सेना के सैनिक दीवार के नीचे चनों के समान भुनने लगते थे। इस प्रकार के आक्रमणो और आक्रमण करने वालों को भगा कर पीछा करने मे जब अँगरेजी सेना के इतने अधिक सैनिक मारे गये तब जनरल विलसन ने विवश हो कर आज्ञा निकाल दी कि किसी भी दशा मे विप्लवकारी सेना का पीछा भविष्य मे न किया जाय क्योकि इस समय अँगरेजो की सेना की दशा अधिक चिन्ताजनक थी।

उन दिनों कम्पनी की अँगरेजी सेना को दिल्ली नगर मे घुसने का साहस न होता था और न विप्लवकारियों की सेना को ही इस बात का साहस हो रहा था कि वह एक

बार पूर्ण रूप से संगठित होकर दिल्ली नगर से बाहर निकल जाती और मैदान मे डटकर अँगरेजी सेना को समाप्त कर देती। विप्लवकारियों मे भिन्न-भिन्न प्रकार के विचार उत्पन्न होने लगे थे। इसका मुख्य कारण यह था कि विप्लवकारियों की संख्या मे आशातीत वृद्धि हो चुकी थी। उनकी सेना मे, वीरता, धीरता, साहस अथवा सामान आदि की किसी प्रकार भी कमी न थी किन्तु दिल्ली नगर के अन्दर कोई ऐसा योग्य और प्रभावशाली नेता न था जो भिन्न-भिन्न प्रान्तो से आनेवाली सेनाओं को सफलता के साथ अनुशासन मे रख सकता और उन सब को मिला कर एक निर्णायक युद्ध के लिए आगे बढ़ा सकता। यही एक सब से बड़ी कमी थी और इसी कमी के कारण दिल्ली नगर पर आक्रमण करनेवाले अँगरेज सैनिक अभी तक नगर के बाहर किसी न किसी प्रकार जीवन धारण कर विजयी होने का स्वप्न देख रहे थे और समय की प्रतीक्षा कर रहे थे।

सम्राट बहादुरशाह बहुत बूढ़ा हो चुका था और स्वय सेनापतित्व ग्रहण कर सके इस योग्य सामर्थ्य उसमे न थी। शाहजादा मिर्जा मुगल पहले ही अयोग्य साबित हो चुका था। सेनापति मुहम्मद बख्त खॉ उस समय विप्लवकारी सेनापतियों मे सबसे अधिक योग्य और समझदार था किन्तु वह एक साधारण सेनापति था। वह किसी शाही घराने मे पैदा न हुआ था और ऊँचे वश मे जन्म लेने का अभिमान अभी तक भारत-वासियों मे मौजूद था। दिल्ली नगर की अनेक सेनाओं के सेना-पति छोटे-मोटे नरेश या राजकुलों के लोग थे।

उन लोगों पर मुहम्मद बख्त खॉ का कुछ भी प्रभाव नहीं पड़ता था। इतना ही नहीं, उनमे से कोई-कोई मुहम्मद बख्त

खाँ के साथ ईर्ष्या भी करने लगे थे और परिणाम यह हुआ कि दिन-प्रति दिन आपस की खींचतान बढ़ती ही गई। सम्राट बहादुरशाह ने सब को समझाने का प्रयत्न किया किन्तु उसे अपने इस प्रयत्न मे तनिक भी सफलता न प्राप्त हुई। इसमे सन्देह नही कि उस समय दिल्ली मे योग्य और शक्तिशाली नेता की बड़ी ही आवश्यकता थी किन्तु खेद की बात तो यह थी कि जयपुर, जोधपुर, सींधिया और होलकर जैसे नरेश राष्ट्रीय विप्लवकारियो का साथ देने का निश्चय उस समय तक भी न कर सके थे अन्यथा महाराज सींधिया जैसे प्रभावशाली नरेश के लिए एक बार दिल्ली नगर मे आकर इस कमी को पूरा कर सकना कोई विशेष कठिन कार्य न था।

वास्तव मे दिल्ली के अन्दर की यह सब से बड़ी कमी सन १८५७ के स्वाधीनता-सग्राम की अन्तिम असफलता का एक मुख्य कारण हुई। दिल्ली नगर के अन्दर एक बार लगभग पचास हजार सुव्यवस्थित और सुशिक्षित सेना थी। युद्ध-विद्या मे पारगत होने पर भी इसे योग्य नेता न मिल सका। यदि यह विशाल सेना दिल्ली नगर को घेरनेवाली अँगरेजी सेना को समाप्त कर देती और विजय के उत्साह से पूर्ण होकर एक बार शेष भारत पर फैल जाती तो इसमे सन्देह नही था कि इसके बाद विप्लवकारियों का दूसरा ही रंग दृष्टिगोचर होता और सफलता प्राप्त करने मे कुछ भी विलम्ब न होता।

इस कमी का कुपरिणाम क्या होगा इसे सम्राट बहादुरशाह पूर्ण रूप से समझ रहा था इसी लिए इस भयानक कमी को दूर करने के लिए उसने अनेक उपाय किये किन्तु सब व्यर्थ सिद्ध हुए। उसने अपने बेटे मिर्जा मुगल को हटा कर दिल्ली

की सेनाओं का प्रधान नेतृत्व मुहम्मद बख्त खॉ को सौंप दिया किन्तु इससे भी सन्तोष जनक कार्य न हो सका। विप्लवकारी सेनाओ की सुव्यवस्था और अनुशासन के सभी कार्य शिथिल होते गये। कोई दूसरा उपाय न देख कर अन्त मे सम्राट बहादुरशाह ने नीचे लिखा पत्र स्वय अपने कॉपते हुए हाथ से लिख कर जयपुर, जोधपुर, बीकानेर, अलवर और अन्य अनेक राजाओं के पास अपने विशेष दूतों द्वारा भेजा।

"मेरी यह दिली ख्वाहिश है कि जिस जरिये से भी और जिस कीमत पर भी हो सके, फिरंगियों को हिन्दुस्तान से बाहर निकाल दिया जाय। मेरी यह जबर्दस्त ख्वाहिश है कि तमाम हिन्दुस्तान आजाद हो जाय। लेकिन इस मकसद को पूरा करने के लिए जो विप्लवकारी-सग्राम शुरू कर दिया गया है वह उस समय तक फतहयाब नहीं हो सकता जिस समय तक कि कोई ऐसा शख्श जो इस तमाम तहरीक के भार को अपने ऊपर उठा सके, जो कौम की मुख्तलिफ ताक़तों को संगठित करके एक ओर लगा सके और जो अपने तईं तमाम कौम का नुमाइन्दा कह सके और मैदान मे आकर इस विप्लव का नेतृत्व अपने हाथों मे न ले ले। अंगरेजों के निकाल दिये जाने के बाद अपने जाती फायदे के लिये हिन्दुस्तान पर हुकूमत करने की मुझमे जरा भी ख्वाहिश बाकी नहीं है। अगर आप सब देशी नरेश दुश्मन को निकालने की गरज से अपनी तलवार खींचने के लिए तैयार हों, तो मै इस बात के लिए राजी हूँ कि अपने तमाम शाही अख्तियारात और हकूक देशी नरेशों के किसी ऐसे गिरोह के हाथों मे सौंप दूँ जिसे इस काम के लिए चुन लिया जाय।"

जिन भावनाओं को लेकर यह पत्र लिखा गया था उससे हम यह कह सकते है कि इसमे सन्देह नहीं कि यह पत्र दिल्ली के अन्तिम सम्राट बहादुरशाह की समस्त भारतवर्ष के प्रति सद्भिलाषा और उसकी विशाल उदारता, इन दोनों का ही दर्पण था किन्तु बड़े खेद के साथ कहना पड़ता है कि सदिग्ध हृदय भारतीय नरेशों पर इसका उतना प्रभाव न पड़ा जितना कि पड़ना चाहिए था।

ठीक ऐसे ही समय मे अँगरेजी सेना की सहायता के लिए जनरल निकल्सन के अधीन एक और नई सेना पञ्जाब से दिल्ली नगर मे आ गई। इस सेना के आते ही कम्पनी की सेना मे फिर से नवजीवन का सञ्चार होने लगा। इस प्रसंग के सिलसिले मे यह भी स्मरण रखना चाहिये कि इस समय कम्पनी की जो सेना दिल्ली के बाहर थी, उसमे अँगरेज सैनिको की अपेक्षा भारतीय सैनिकों की ही संख्या कई गुनी अधिक थी। इन भारतीय सैनिकों मे अधिकतर सिख गोरखे और कुछ अन्य पञ्जाबी थे। फिर भी अगस्त के अन्त तक विप्लवकारी सेना बार-बार कम्पनी की सेना पर आक्रमण करती रही किन्तु कम्पनी की सेना जिस स्थान पर थी उसी स्थान पर डटी रही। न पीछे हटी और न आगे बढ़ सकी।

२५ अगस्त को सेनापति मुहम्मद बख्त खॉ ने फिर एक बार अपनी पूरी शक्ति से अँगरेजी सेना पर आक्रमण किया। उस समय राजधानी दिल्ली नगर के अन्दर दो सेनाये मुख्य थी। एक बरेली की और दूसरी नीमच की इन दोनों सेनाओं के सैनिक साहसी वीर और रण बॉकुरे योद्धा थे किन्तु विप्लवकारियों के दुर्भाग्य से इन दोनों सेनाओ के सैनिकों

मे विशेप रूप से वैमनस्य और प्रतिस्पर्धा उत्पन्न हो गई थी। सेनापति मुहम्मद बख्त खॉ ने इन दोनों सेनाओं के सैनिकों को एक साथ मिलाकर रखने का प्रयत्न किया। २५ अगस्त को ठीक उस समय जब कि सेनापति मुहम्मद बख्त खॉ ने इन दोनो सैन्य दलों को लेकर अॅग्रेजी सेना के मुख्य स्थान नजफगढ़ पर हमला किया नीमच की सेना ने सेनापति मुहम्मद बख्त खॉ की आज्ञा का उल्लघन किया। इस सेना के सैनिको ने उस स्थान को छोड़कर जहॉ पर कि मुहम्मद बख्त खॉ ने उन्हे ठहरने के लिए कहा था, पास के दूसरे गॉव मे डेरे जमा दिये। इतना ही नही, वे सब विप्लवकारियों की शेष सेना से भी अलग हो गये। इस समाचार को पाते ही जनरल निकल्सन ने सब से पहले उन्ही सैनिकों पर आक्रमण किया और एक अत्यन्त भयानक घमासान युद्ध हुआ। परिणाम यह हुआ कि उस युद्ध मे नीमच की सेना का एक एक सैनिक वीरता के साथ युद्ध करता हुआ परलोक को सिधार गया और कम्पनी की सेना ने विजय प्राप्त कर ली। इसी के साथ मुहम्मद बख्त खॉ को भी अपनी शेप सेना सहित पीछे लौट आना पड़ा।

ॲगरेज इतिहास लेखकों ने भी मुक्तकण्ठ से नीमच की सेना की बहादुरी की प्रशसा की है किन्तु राजनीति के क्षेत्र मे युद्ध-विद्या विशारदों का यह भी कथन है कि बिना सेनापति की अनन्य आज्ञा-पालन नीति के ससार की कोई भी सेना विजय प्राप्त करने मे कदापि समर्थ नहीं हो सकती क्योकि पूर्णव्यवस्था ही सग्राम की सफलता का सब से अधिक आवश्यक साधन है। यही एक कारण था कि १६ मई के बाद वह पहला दिन था जब कि राजधानी दिल्ली नगर के अन्दर नैराश्य की

घटा दिखाई देने लगी थी। कम्पनी की सेना मे हर्ष और उत्साह की छटा लहराने लगी थी।

उस समय कम्पनी की सेना मे साढ़े तीन हजार अँगरेज, पॉच हजार सिख, गोरखे, पंजाबी, ढाई हजार, काश्मीरी और स्वय झींद का महाराज और उनकी सेना थी। इधर सब तरह के प्रयत्न करने पर भी दिल्ली नगर के अन्दर अव्यवस्था बढ़ती ही चली गई। सितम्बर महीने के आरम्भ मे अगरेजी सेना को धीरे-धीरे राजधानी दिल्ली नगर पर आक्रमण करने का कुछ कुछ साहस होने लगा। इतिहास लेखक फारेस्ट लिखता है कि :—
"कम्पनी की ओर के भारतीय सिपाही उस समय अपने प्राणों पर खेल कर असाधारण वीरता और साहस के साथ अपने सेनापतियों के आदेशो का पालन करने मे तत्पर हो रहे थे।"

इतने ही समय के अन्दर कम्पनी की ओर गुप्तचरो का विभाग भी विशेष रूप से उन्नति कर चुका था। इस विभाग का प्रधान अफसर हडसन था। दिल्ली नगर के अन्दर बहुत से विश्वासघातक तैयार किये जा चुके थे। जिनमे मुख्य सम्राट बहादुरशाह का समधी मिरजा इलाही बख्श भी एक था। मिर्जा इलाहीबख्श प्रायः सम्राट बहादुरशाह के ही साथ रहता था और महल की समस्त बातों और सलाहों की खबरे मेजर हडसन तक किसी न किसी प्रकार पहुँचाता रहता था।

किसी प्रकार सितम्बर महीने का पहला सप्ताह समाप्त होने को आया। ७ सितम्बर से कम्पनी की सेना ने दिल्ली नगर के अन्दर प्रवेश करने के लिए जी तोड़ कर प्रयत्न करने आरम्भ कर दिये। ७ सितम्बर से १३ सितम्बर तक उन्हे प्रति-

दिन अनेक सैनिकों को खोकर पीछे हट जाना पड़ा किन्तु इसी बीच में कम्पनी की तोपों के कारण नगर की रक्षा करने वाली दीवारों मे स्थान-स्थान पर दरारें पड़ गई थी। १४ सितम्बर को कम्पनी की सेना ने दिल्ली नगर मे प्रवेश करने का अन्तिम और सबसे अधिक शक्तिपूर्ण प्रयत्न किया। वास्तव मे उस दिन का दिल्ली का सग्राम विप्लव के सब से अधिक भयङ्कर संग्रामो में से था।

उस दिन सबेरा होते ही जनरल विल्सन ने कम्पनी की सेना को पॉच दलों मे बॉट दिया। एक दल ब्रिगेडियर जनरल निकल्सन के अधीन, दूसरा कर्नल कैम्पबेल के अधीन, तीसरा ब्रिगेडियर जोन्स के अधीन, चौथा मेजर रीड के अधीन और पॉचवॉ ब्रिगेडियर लांगफील्ड के अधीन। पहले तीन दलों ने मिलकर जनरल निकल्सन के प्रधान सेनापतित्व मे काश्मीरी दरवाजे की ओर से प्रवेश करना चाहा, चौथे दल ने मेजर रीड के अधीन काबुली दरवाजे और सब्जी मंडी की ओर से बढ़ना चाहा। सबसे पहले सूर्योदय के थोड़ी ही देर बाद निकल्सन अपने दल-बल के साथ शहरपनाह की दीवार की ओर बढ़ा। भीतर से विप्लवकारियों ने उन पर तोपो से गोले बरसाने आरम्भ कर दिये। परिणाम यह हुआ कि दीवार के नीचे अँगरेज और सिख सैनिकों की लाशों के ढेर लग गये, फिर भी उन्हे रौंदते हुए निकल्सन और उसके कुछ साथी दीवार तक पहुँच गये। पिछले सात दिनों के प्रयत्नों के कारण दीवार का कुछ भाग टूट चुका था। उसी टूटे भाग के समीप सीढ़ी लगा दी गई। निकल्सन पहला अँगरेज वीर था, जिसने गोलियों और गोलों की बौछार के अन्दर काश्मीरी दरवाजे के समीप शहरपनाह की

दीवार पर चढ़ कर विजय का बिगुल बड़ी ही निर्भीकता के साथ बजाया।

इसी प्रकार मरते-मारते हुए दूसरा दल एक ओर से शहर-पनाह की दीवार पर चढ़ कर शहर के भीतर प्रवेश कर गया। तीसरा दल भी पूर्ण वीरता और उत्साह के साथ काश्मीरी दरवाजे की ओर बढ़ा। कुछ अफसरों ने आगे बढ़ कर दरवाजे को बाहर से उड़ा देना चाहा। दीवारों और खिड़कियों से धुआँ धार गोलियाँ बरसने लगी। कई अँगरेज और देशी अफसर इसी प्रयत्न मे मारे गये। अन्त मे एक ने दरवाजे तक बारूद पहुँचा दी और दूसरे कप्तान बरगेस ने मरते-मरते फलीता दिखा दिया। फिर क्या था, देखते ही देखते काश्मीरी दरवाजे का एक भाग उड़ गया। कर्नल कैम्पबेल ने अपने दल के सैनिकों को आगे बढ़ने की आज्ञा दी और गोलियों की बौछार मे भी बढ़ कर कैम्पबेल और उसके कुछ साथी काश्मीरी दरवाजे के अन्दर प्रवेश कर गये। अपनी इस आशातीत सफलता पर कैम्पबेल और उसके साथी अपने जीवन को धन्य समझने लगे।

चौथे दल ने मेजर रीड के अधीन काबुली दरवाजे की ओर से बढ़ना चढ़ा। सब्जीमडी के समीप दिल्ली की सेना से उनका आमना-सामना हुआ। पहले ही बार मे मेजर रीड घायल होकर गिर पड़ा। उसके घायल होकर गिरने के कारण एक बार उनकी सेना पीछे हटी किन्तु ऐसे ही समय मे होप ग्राण्ट अपने कुछ सवारों के साथ तुरन्त आगे बढ़ा।। उसके इस प्रकार बढ़ते ही पीछे हटने वाली सेना सम्हल कर फिर आगे बढ़ी। भयानक युद्ध होने के कारण दोनों ओर से रक्त की नदियाँ बहने लगीं। होप ग्राण्ट के अधिकतर सवार हिन्दुस्तानी थे। उस संग्राम मे दोनों

पक्ष के सिपाहियों ने अपूर्व वीरता का परिचय दिया किन्तु परिणाम यह हुआ कि अन्त मे ॲगरेजी सेना को ही फिर से पीछे हट जाना पड़ा। इस प्रकार चौथे दल ने हार खाई।

शेष तीनों दलों ने निकल्सन, कैम्पबेल और जोन्स के अधीन काश्मीरी दरवाजे से प्रवेश कर शहर पर चढ़ाई कर दी। जिस-जिस मकान या मीनार को ये लोग जीत लेते थे उस पर तुरन्त सूचना के लिए ॲगरेजी झण्डा गाड़ देते थे। एक-एक मकान के सामने युद्ध होता जाता था और जीतने पर झण्डा फहराया जाता था। इस प्रकार लड़ते-लड़ते ये तीनो दल काबुली दरवाजे की ओर बढ़े। बर्न वैस्टियन के समीप पहुॅच कर इन सबों को एक सकरी गली मे से निकलना पड़ा। इसी गली के दोनों ओर की खिड़कियों छज्जो और छतो पर से गोलियों की भयङ्कर वर्षा होने लगी।

गली के अन्दर रक्त की नदी बह चली। कोई यह नहीं कह सकता था कि वह रक्त की नदी नही थी। विवश होकर ॲगरेजों की समस्त सेना को पीछे हट जाना पड़ा। गली के अन्दर और अधिक बढ़ने का साहस किसी भी सैनिक मे न रहा। अपने सैनिकों की इस साहस-हीनता की दशा को देखकर निकल्सन एक सच्चे वीर के समान आगे बढ़ा। यह गली लगभग दो सौ गज लम्बी थी किन्तु १४ सितम्बर के दिन इस छोटी-सी गली ने जो अभूत पूर्व साहस और आशा से अतीत अद्भुत कार्य कर दिखाया उसने स्वाधीनता के इस संग्राम मे अपने नाम को चिरकाल के लिए इतिहास लेखकों के समक्ष अमर कर दिया। इसी गली की अमर वीरता के ही कारण आगे बढ़ने वाले वीर निकल्सन को भी पीछे हटना पड़ा। निकल्सन जैसे ही पीछे

हटा वैसे ही मेजर जेकब आगे बढ़ा और तुरन्त घायल होकर वही पर गिर पड़ा। अपने मन मे फिर से नये साहस का सञ्चार करता हुआ निकल्सन फिर आगे बढ़ा किन्तु परिणाम यह हुआ कि इस बार आगे बढ़ते ही वह भी घायल होकर वही धरती पर गिर पड़ा। अन्त मे जब सफल होने की कुछ भी आशा न रही तब अँगरेजी सेना को गली छोड़ कर पीछे हट जाना पड़ा। राजधानी दिल्ली नगर की वह अमर गली लाशो से भर गई। कम्पनी की सेना को पीछे हटकर काश्मीरी दरवाजे पर लौट आना पड़ा।

जिस समय बर्न वेस्टियन की ओर निकल्सन बढ़ रहा था उसी समय कर्नल कैम्पबेल के अधीन एक दल जामे मस्जिद की ओर भेज दिया गया था। मस्जिद तक पहुँचने मे इन सबों को किसी विशेष कठिनाई का सामना नही करना पड़ा। बिना किसी प्रकार की रुकावट के ये सब जामे मस्जिद तक पहुँच गये किन्तु उस समय मस्जिद मे कई हजार मुसलमान जमा थे। उन सब मुसलमानों को इस बात का पता चल गया था कि अँगरेज मस्जिद को बारूद से उड़ा देना चाहते है इसलिये मस्जिद की रक्षा करने के लिए वे सब तैयार थे किन्तु इन सबों के पास केवल तलवारें थी, बन्दूक किसी के पास भी न थी। अँगरेजों के पहुँचते ही ये सब लोग अपनी तलवार हाथ मे लेकर मस्जिद से निकल पड़े। सब से पहले उन्होंने अपनी तलवारों के म्यान काट कर फेक दिये। उन सबों को मस्जिद के बाहर देखते ही अँगरेजी सेना ने उन पर बन्दूकों की एक बाढ़ चलाई। उनमे से दो सौ आदमियों की लाशे तुरन्त मस्जिद की सीढ़ियों पर गिर पड़ी किन्तु शेष मुसलमान इस शीघ्रता के साथ तलवारें हाथ मे लिये आगे बढ़े

कि अँगरेजी सेना को दुबारा बन्दूकें भरने या सम्हालने तक का अवकाश न मिल सका। बन्दूकों को छोड़ कर दोनों ओर से तलवारों की लड़ाई शुरू हो गई। कैम्पबेल घायल हो गया। अँगरेजी सेना के इस दल को भी विवश होकर काश्मीरी दरवाजे की ओर भाग जाना पड़ा। कैम्पबेल ने बाद मे कहा भी था कि यदि मुझे उस समय सहायता मिल जाती और समय पर बारूद के थैले मेरे पास आ जाते तो मै उस दिन दिल्ली नगर की जामे मस्जिद को अवश्य उड़ा देता। इस प्रकार राजधानी दिल्ली मे १४ सितम्बर का सग्राम समाप्त हुआ।

दिल्ली मे अँगरेजी सेना के प्रवेश का यह पहला दिन था। पहले ही दिन उन्हे जिन कठिनाइयों का सामना करना पड़ा उनसे उनके दॉत खट्टे हो गये थे क्योंकि उस दिन का सग्राम अत्यन्त भयानक रहा। अँगरेजी सेना और विप्लवकारियो की सेना ने बड़े साहस और अभूतपूर्व वीरता के साथ रण भूमि मे एक एक इञ्च भूमि के लिए अपने और शत्रु दोनों के रक्त को पानी के समान बहा देने मे कुछ भी सङ्कोच न किया। अँगरेजों की ओर के चार मुख्य सेनापतियों ने कुछ भी सङ्कोच न किया जिनमे सब से अधिक वीर सेनापति निकल्सन २३ सितम्बर को अस्पताल मे मर गया। कम्पनी के ६६ अफसर और १०४ सैनिक उस दिन के सग्राम मे मारे गये। कहा जाता है कि विप्लवकारियों की ओर लगभग १५०० आदमी मरे किन्तु इतने पर भी चार महीने तक घेरा डाले रहने के बाद राजधानी दिल्ली नगर की दीवार के अन्दर कम्पनी की सेना ने साहस और वीरता के साथ प्रवेश कर ही लिया। फिर उन्हे कोई भी रोक सकने मे समर्थ न हुआ। उन सबों को रोकने के लिये

जितने भी प्रयत्न और युद्ध किये गये वे सब दुर्भाग्य के कारण विप्लवकारियों के अनुकूल न होकर प्रतिकूल ही होते गये। जिन अँगरेजो को भारत से निकालने का प्रयत्न किया जा रहा था वही अँगरेज विजयी होकर हर्ष और उत्साह के साथ नित्य आगे बढ़ने लगे।

इसलिये इस घटना के बाद दिल्ली मे और जितने संग्राम हुए उन सब सग्रामों का वर्णन अधिक विस्तार के साथ करने की विशेष कोई आवश्यकता नही है। केवल इतना ही समझ लेना चाहिए कि इसके बाद विप्लवकारियों की ओर अधिक अव्यवस्था बढ़ने लगी। कुछ सेना तुरन्त दिल्ली छोड़ कर चली गई और कुछ १५ सितम्बर से २४ सितम्बर तक दिल्ली नगर की एक-एक इञ्च भूमि के लिए देश के शत्रु अँगरेजों की सेना से नित्य सग्राम करती रही। इन सग्रामों मे भी कम्पनी की सेना के लगभग चार हजार सैनिक मारे गये। कहा जाता है कि इन सग्रामों मे विप्लवकारियों के हताहतों की सख्या अँगरेजी सेना के हताहतों से कुछ अधिक ही थी।

धीरे-धीरे राजधानी दिल्ली नगर का तीन चौथाई भाग कम्पनी के अधिकार मे आ गया। अब विप्लवकारियो के लिए बड़ा ही भयानक समय उपस्थित हो गया। न विजय की आशा रही और न जीवन की आशा की जा सकती थी। जो जिस स्थान पर रह गया था उसी स्थान से अपने जीवन की घड़ियों को गिनने लगा था। जिधर दृष्टि जाती थी उधर ही दिल्ली नगर मे सन्नाटा छाया हुआ था। कुछ भी हो दिल्ली के तीन चौथाई भाग पर अँगरेजों का अधिकार होते ही १९ सितम्बर

की रात को मुहम्मद बख्त खाँ सम्राट बहादुरशाह से भेंट करने के लिये गया। जाते ही उसने सम्राट को हिम्मत दिलाई और इस प्रकार कहा—

"दिल्ली हाथ से निकल जाने पर भी हमारा कुछ अधिक नही बिगड़ा। तमाम मुल्क मे आग लगी हुई है आप अँगरेजों से हार स्वीकार न कीजिये। आप मेरे साथ दिल्ली से निकल चलिये। सामरिक दृष्टि से दिल्ली की अपेक्षा कई अन्य स्थान अधिक महत्वपूर्ण है। इनमे से किसी पर भी जम कर हमे युद्ध जारी रखना चाहिये। मुझे विश्वास है कि अन्त मे हमारी विजय होगी।"

मुहम्मद बख्त खाँ की इन बातों से सम्राट बहादुरशाह कुछ अश तक सहमत हो गया था और दूसरे दिन सबेरे फिर मिलने के लिये उसे बुलाया। दूसरी ओर अँगरेजों ने अपने गुप्त सहायक मिर्जा इलाहीबख्श पर इस बात के लिए जोर दिया कि तुम किसी प्रकार बादशाह को दिल्ली से बाहर जाने से रोक लो। इस कार्य के लिये मिर्जा इलाहीबख्श से बहुत बड़े इनाम का वादा किया गया। कहने की आवश्यकता नही कि जब तक भारत मे अँगरेजी शासन रहा तब तक मिर्जा इलाही बख्श के वंशजों को बारह सौ रुपये माहवार पेन्शन मिलती रही।

मुहम्मद बख्त खाँ के चले जाने के बाद अँगरेजों के पढ़ाये हुए पाठ के अनुसार मिर्जा इलाहीबख्श ने सम्राट बहादुरशाह को समझाते हुए कहा—"विप्लव के सफल होने की अब कोई आशा नहीं हो सकती इसलिए बख्त खाँ के साथ जाने मे

सिवाय कष्टों और हानि के आपको और कुछ न मिलेगा और यदि आप यहाँ रह जायँगे तो मैं वादा करता हूँ कि अगरेजो से मिलकर सब बातो की सफाई करा दूँगा, आप और आपके कुटुम्बियों पर किसी प्रकार की आँच न आने पायेगी।"

दूसरे दिन सवेरा होते ही सम्राट बहादुरशाह हुमायूँ के मकबरे में गया। उसने मुहम्मद बख्त खाँ को वही पर मिलने के लिए अपने दूत से बुला भेजा। मकबरे से पूर्व की ओर यमुना नदी के रेती मे बख्त खाँ की सेना पड़ी हुई थी। पूर्व दिशा की ओर के दरवाजे से ही मुहम्मद बख्त खाँ सम्राट बहादुरशाह से मिलने के लिए मकबरे मे आया। सम्राट बहादुरशाह से मिलने पर मुहम्मद बख्त खाँ ने उसे फिर समझाने का प्रयत्न किया। लिखा है कि मुहम्मद बख्त खाँ सम्राट बहादुरशाह को अपने साथ ले जाना चाहता था और सम्राट बहादुरशाह भी मुहम्मद बख्त खाँ के साथ जाना चाहता था किन्तु अँगरेजो का गुप्त सहायक सम्राट बहादुरशाह का विश्वासघातक समधी मिर्जा इलाहीबख्श सम्राट बहादुरशाह को रोक लेने के लिए तरह-तरह के दाँव पेच खेल रहा था।

अन्त मे मिर्जा इलाहीबख्श ने जब देखा कि और कोई दाँव-पेच नही चल सकता तब उसने मुहम्मद बख्त खाँ पर यह दोषारोपण किया कि मुहम्मद बख्त खाँ चूँकि पठान है इसलिए वह मुगलों से अपनी कौम का पुराना बदला चुकाना चाहता है और छल करके सम्राट बहादुरशाह को जाल मे फँसाना चाहता है। इस पर बात की बात मे यहाँ तक बात बढ़ी कि निरपराध मुहम्मद बख्त खाँ ने सम्राट बहादुरशाह के समधी

मिर्जा इलाहीबख्श पर अपनी तलवार खींच ली। किन्तु स्वयं सम्राट बहादुरशाह ने उसका हाथ रोक लिय ा। इसमे संदेह नहीं कि मिर्जा इलाहीबख्श का कोई न कोई तीर नेक किन्तु बूढ़े तथा निर्बल सम्राट बहादुरशाह पर अवश्य चल गया। अन्त मे सम्राट बहादुरशाह ने मुहम्मद बख्त खॉ से इस प्रकार के शब्दों मे कहा—

"बहादुर! मुझे तेरी हर बात का यकीन है और मैं तेरी हर राय को दिल से पसद करता हूॅ। मगर जिस्म की कूबत ने जवाब दे दिया है, इसलिए मै अपना मामला तकदीर के हवाले करता हूॅ। मुझको मेरे हाल पर छोड़ दे और बिस्मल्लाह कर! यहॉ से जा और कुछ काम करके दिखा! मै नही, मेरे खान्दान मे से नही, न सही, तू या और कोई हिन्दुस्तान की लाज रखे! मेरी फिक्र न कर, अपने फर्ज को अंजाम दे।"*

इस स्थल पर यदि यह मान लिया जाय कि सन् १८५७ मे होनेवाले दिल्ली नगर के समस्त स्वाधीनता-सग्रामों का मुकुट सम्राट बहादुरशाह था और हाथ पैर हजारों हिन्दू तथा मुसलमान वीर सिपाही थे तो यह भी मानना ही पड़ेगा कि दिल्ली के उन समस्त स्वाधीनता-संग्रामों का दिल और दिमाग मुहम्मद बख्त खॉं था। कहने की आवश्यकना नहीं की सम्राट बहादुरशाह के इस उत्तर से मुहम्मद बख्त खॉ का दिल टुकड़े-टुकड़े होकर चूर-चूर हो गया। उसने सम्राट बहादुरशाह से कुछ भी

*ख्वाजा हसन निजामी रचित "देहली की जॉकनी" नामक पुस्तक से।

न कहा और चुपचाप गर्दन नीची करके मकबरे के पूर्वी दरवाजे से बाहर निकल गया।

मुहम्मद बख्त खॉ के जाते ही विश्वासघातक मिर्जा इलाहीबख्श ने दूसरी ओर मुँह फेर लिया और मकबरे के पश्चिमी दरवाजे से बाहर निकल कर तुरन्त अँगरेजों को सूचना दे दी कि इसी समय चुपके से पश्चिमी दरवाजे पर आकर सम्राट बहादुरशाह को गिरफ्तार कर लिया जाय। सूचना के पाते ही तुरन्त कप्तान हडसन पचास सवार लेकर मकबरे के पश्चिमी दरवाजे पर पहुँच गया। लिखा है कि जिस समय सम्राट बहादुरशाह को मालूम हुआ कि हडसन उसे गिरफ्तार करने आया है उस समय उसने एक बार मिर्जा इलाहीबख्श की ओर घूर कर देखा और कहा—"तुमने मुझको बख्त खॉ के साथ जाने से रोका। ××× " इस पर मिर्जा इलाहीबख्श ने कुछ भी उत्तर न दिया केवल सर झुकाये चुपचाप खड़ा रहा। कहीं-कहीं यह भी लिखा हुआ है कि सम्राट बहादुरशाह ने फिर इरादा किया कि किसी को भेजकर मुहम्मद बख्त खॉ को बुलाया जाय किन्तु समय हाथ से निकल चुका था।

सम्राट बहादुरशाह, बेगम जीनतमहल और शहजादे जवॉबख्त को चुपचाप पूर्वी दरवाजे से गिरफ्तार करके लाल किले में कैद कर दिया गया और राजधानी दिल्ली का नगर १३४ दिन के कठिन परिश्रम और युद्ध के बाद फिर से पूरी तरह अँगरेजों के अधिकार मे आ गया। इसके बाद मुहम्मद बख्त खॉ अपनी समस्त सेना के साथ यमुना को पार कर किसी ओर तरफ निकल गया और आज तक किसी को उसका या उसकी सेना का कुछ भी पता न चल सका।

जनरल विल्सन और कप्तान हडसन की राय थी कि सम्राट बहादुरशाह को तुरन्त मार डाला जाय किन्तु अभी तक अधिकांश विप्लवकारी और भारत अँगरेजो के अधिकार मे न आया था, इसलिए अनेक अँगरेज अफसरों की राय इसके विरुद्ध थी। अन्त मे बूढ़े सम्राट बहादुरशाह को केवल कैद कर दिया गया।

सम्राट बहादुरशाह की गिरफ्तारी के बाद उसके दो बेटे मिर्जा अखजर सुलतान और एक पोता मिर्जा अबूबकर हुमायूँ के ही मकबरे मे बाकी रह गये थे। कुछ अँगरेज इतिहास लेखकों का कथन है कि इन लोगों ने विप्लव के आरंभ के दिनो मे अँगरेज औरतो और बच्चों की हत्या मे भाग लिया था। मिर्जा इलाहीबख्श ने हडसन को सूचना दी कि ये लोग अभी तक हुमायूँ के मकबरे मे मौजूद है। सूचना को पाते ही हडसन तुरन्त मकबरे की ओर फिर लौटा। बात कि बात मे तीनों शहजादो को कैद कर लिया। मिर्जा इलाहीबख्श ने शाहजादों को समझाकर इस कार्य मे पूरी सहायता दी। शाहजादों को रथो मे सवार करा कर हडसन अपने सवारों, मिर्जा इलाही-बख्श और उसके दो मुसाहिबों सहित शहर की ओर चला।

जब शहर एक मील रह गया तब हडसन ने रथों को रोक देने के लिए कहा। उसके आदेश को सुनते ही रथ रोक दिये गये। रथो के रुकते ही तीनों शहजादो को रथों से उतरने के लिए कहा गया, उनके कपड़े उतरवाये गये और फिर अचानक समीप के अपने एक सैनिक के हाथ से बन्दूक लेकर हडसन ने उन तीनों को तीन फायर मे वही पर समाप्त कर दिया। गोलियाँ तीनों शहजादों की छाती मे लगी और वे “हाय दगा”

कह कर वहीं पर ठण्ढे हो गये। मिर्जा इलाहीबख्श ने तीनों शाहजादों से वादा कर लिया था कि मैं जनरल विल्सन से कह कर तुम्हारे प्राणो की भिक्षा दिलवा दूँगा।

इसके बाद शाहजादों के मस्तक काटकर सम्राट बहादुरशाह के सामने लाये गये। मस्तकों को सामने रखते हुए हडसन ने सम्राट बहादुरशाह से कहा, "कम्पनी की ओर से यह आपके लिए भेट है जो वर्षों से बन्द थी।" ख्वाजा हसन निजामी ने लिखा है कि सम्राट बहादुरशाह ने जवान बेटो और जवान पोते के कटे हुए मस्तक देखे तो आश्चर्यजनक धैर्य के साथ मुँह फेर लिया और कहा—अलहम्दोलिल्लाह ! तैमूर की औलाद ऐसे ही सुर्खरू होकर बाप के सामने आया करती थी।" अर्थात् खुदा की तारीफ है। तैमूर की औलाद इसी प्रकार मुख उज्ज्वल करके बाप के सामने आया करती थी।

इसके बाद शाहजादो के कटे हुए मस्तक खूनी दरवाजे के सामने लाकर लटका दिये गये और धड़ कोतवाली के सामने टॉग दिये गये। अगले दिन इन तीनों लाशो को यमुना मे फेकवा दिया गया।

शाहजादों की हत्या के सम्बन्ध में एक और इससे भी कहीं अधिक भयङ्कर घटना का वर्णन दिल्ली मे किया जाने लगा था। पहली बात तो यह थी कि जिन शाहजादो को धोखा देकर हडसन ने इस प्रकार मारा था उनकी सख्या तीन न होकर चार थी। चौथा जिसका नाम नहीं लिया गया है वह शाहजादा अब्दुल्ला था। दूसरी मुख्य और विभत्स बात यह थी कि हत्यारे हडसन ने शाहजादो को गोली से मार कर तथा उनके मस्तकों को काटकर तुरन्त अपने चुल्लू मे भर कर उनका गर्म गर्म रक्त पान

किया था और उसने कहा था कि यदि मैं इनका रक्त न पीता तो पागल हो जाता।

यद्यपि इस प्रकार की वीभत्स और दानवी घटनाओं का वर्णन अँगरेजी इतिहास की पुस्तकों मे नहीं मिलता तथापि ख्वाजा हसन निजामी ने इसे अपनी उर्दू पुस्तक "देहली की जॉकनी" मे लिख दिया है। इतना ही नही, इस सम्बन्ध मे ख्वाजा हसन निजामी साहब का यह दावा है कि यह घटना बिल्कुल सच्ची है। ख्वाजा हसन निजामी का कथन है—"मैंने दिल्ली के सैकड़ों लोगों के मुँह से इस बात को सुना और इसके अलावा मिर्जा इलाहीबख्श के उन दो खास मुसाहिबों मे से एक ने, जो मौके पर मौजूद थे और जिन्होंने इस घटना को अपनी आँखों से देखा था, खुद मेरे पिता से आकर यह तमाम वाकया सुनाया।"

जहाँ तक हो सका, हमने दिल्ली के शेष वृत्तान्त को पाठको के सामने साधारण रीति से रख दिया और आशा है कि इन सब वर्णनों से पाठकों के लिए विप्लव के इतिहास का ज्ञान स्पष्ट हो जायगा और राजनीति का मार्ग भी प्रकाशपूर्ण हो जायगा।

दिल्ली-निवासियों पर अँगरेजों के अत्याचार

दिल्ली नगर मे अँगरेजों का अधिकार हो जाने के बाद दिल्ली-निवासियों के ऊपर कम्पनी की सेना ने किस किस प्रकार के अत्याचार किये उन सब का वर्णन करना हमारे लिए शेष रह गया है किन्तु हम यह नहीं चाहते कि उन सब घटनाओं का वर्णन विस्तार के साथ किया जाय। आशा है कि हमारे पाठक भी हमारे इस विचार से अवश्य सहमत होंगे अतएव हम कम्पनी की सेना के अत्याचारो का वर्णन सक्षेप मे कर रहे हैं—

इन अत्याचारों के सम्बन्ध मे लार्ड एलफिन्सटन ने सर जान लारेन्स को लिखा था—(दिल्ली-नगर को घेरने और जीतने के बाद अर्थात्) "मोहासरों के खत्म होने के बाद से हमारी सेना ने जो अत्याचार किये है उन्हे सुन-सुन कर हृदय फटने लगता है। मित्र अथवा शत्रु मे भेद किये बिना ये लोग सब से बदला ले रहे हैं। लूट मे तो वास्तव मे हम नादिरशाह से भी बढ़ गये।"

मोहासरे के दिनों मे किले के छत्त मे बीमार और घायल सिपाहियों का एक अस्पताल था। कम्पनी की सेना जिस समय किले के अन्दर घुसी, उस समय जितने घायल और बीमार अस्पताल के अन्दर दिखाई दिये उन सब को उसने अपनी बन्दूक की गोलियों से सदा के लिए रोगमुक्त कर दिया। और

भी अनेक स्थानों मे जहाँ घायल और बीमार पाये गये, तुरन्त मार डाले गये।

माण्टगुमरी मार्टिन लिखता है—"जिस समय हमारी सेना ने शहर मे प्रवेश किया उस समय जितने नगर-निवासी शहर की दीवारों के भीतर पाये गये, उन्हे उसी स्थान पर संगीनों से मार डाला गया। आप समझ सकते है कि उनकी सख्या कितनी अधिक रही होगी, जब मै आपको यह बताऊँ कि एक एक मकान मे चालीस-चालीस और पचास आदमी छिपे हुए थे। ये लोग विप्लवकारी न थे, बल्कि शहर के रहने वाले थे जिन्हे हमारी दयालुता और क्षमाशीलता पर विश्वास था। मुझे प्रसन्नता है कि हमारे इन अत्याचारों से उनका भ्रम दूर हो गया।"

इसी से यह अनुमान किया जा सकता है कि किस प्रकार निरपराध नागरिको को अँगरेजी सेना ने दिल्ली मे मौत के घाट उतारा और किस प्रकार अपने दानवता के कार्यो का वीभत्स प्रदर्शन किया। इसके बाद एक दूसरा अँगरेज इतिहास लेखक लिखता है—"दिल्ली के निवासियों के कत्लेआम का खुले एलान कर दिया गया। यद्यपि हम जानते थे कि उनमे से बहुत से हमारी विजय चाहते है।" ऐसे उस समय की कम्पनी के अँगरेज अफसर अत्याचारी थे।

दिल्ली नगर की इस भयकर परिस्थिति और निर्मम हत्याकांड के दिनों मे केवल एक दिन के दृश्य का वर्णन करते हुए लार्ड राबर्टस् लिखता है—"प्रातःकाल हम लाहौरी दरवाजे से चाँदनी चौक गये, तो हमे शहर वास्तव मे मुर्दों का शहर दिखाई पड़ता था। हमारे घोड़ों की टापों के सिवाय कोई

दूसरी आवाज नही सुनाई पड़ती थी। कोई जीवित मनुष्य नही दिखाई पड़ा। सभी ओर मुर्दों का बिछौना बिछा हुआ था, जिसमे से कुछ मरने से पहले पड़े सिसक रहे थे। हम चलते हुए बहुत धीरे-धीरे बाते करते थे और इस डर से कि कही हमारी आवाज से मुर्दे न चौक पड़े। एक ओर मुर्दो की लाशों को कुत्ते खा रहे थे और दूसरी ओर लाशो के आस-पास गिद्ध जमा थे जो उनके मॉस नोच-नोच कर स्वाद लेते हुए खा रहे थे और हमारे चलने की आवाज से उड़-उड़ कर थोड़ी दूर जाकर बैठ जाते थे। सारॉश यह कि इन मुर्दों की दशा का वर्णन पूर्ण रूप से कर सकना बड़ा कठिन काम है। जिस प्रकार इनको देखने से हमे डर लगता था उसी प्रकार हमारे घोड़े इन्हे देख कर डर से बिचकते और हिनहिनाते थे। लाशे पड़ी सड़ रही थीं। उनके उस प्रकार पड़े रहने और सड़ने से (दिल्ली की) हवा मे बीमार करने वाली दुर्गन्ध फैल रही थी।"

ख्वाजा हसन निजामी साहब लिखते हैं कि—"इस दिल्ली के कत्लेआम मे पुरुप, स्त्री अथवा छोटे-बड़े की कोई तमीज न की जाती थी। इनमे से अनेक मनुष्यों को भिन्न-भिन्न प्रकार की यातनाएँ दे देकर मारा गया।" लेफ्टिनेन्ट माजेण्डी ने अपनी ऑखों देखी एक घटना का वर्णन करते हुए कहा है कि—"सिखों और गोरों ने मिलकर एक घायल मनुष्य के चेहरे को पहले अपनी संगीनों से बार-बार बीधा और फिर धीमी ऑच के ऊपर उसे जिन्दा भून दिया। उसका मॉस चटका, लपटों मे काला हो गया और जलते हुए मॉस की भयानक दुर्गन्ध ने ऊपर उठ कर हवा को विषैला बना दिया।"

टाइम्स पत्र के संवाददाता सर विलियम रसल ने लिखा है कि “मैंने एक आदमी की जली हुई हड्डियाँ कई दिनों के बाद मैदान मे पड़ी हुई देखी।”

मावरे टामसन ने सर हेनरी काटन से कहा था कि—“दिल्ली मे मुसलमानों को नंगा करके जमीन से बाँधकर सिर से पाँव तक जलते हुए ताँबे के टुकड़ों से अच्छी तरह दाग दिया गया था।”

इन लोगों को मारने से पहले कभी कभी उनको धर्मभ्रष्ट करने की घृणित क्रिया भी की जाती थी। एक अँगरेज पादरी की विधवा ने लिखा है कि बहुत से मनुष्यों को पकड़कर पहले उनसे संगीनों के बूते गिरजा मे झाड़ू दिलवाई गई और बाद मे सबको फाँसी दे दी गई।

रसल लिखता है कि “कभी-कभी मुसलमानों को मारने के पहले उन्हे सुअर की खालों मे सी दिया जाता था, उन पर सुअर की चर्बी मल दी जाती और फिर उनके शरीर जला दिये जाते थे और हिन्दूओं को बल-पूर्वक धर्मभ्रष्ट किया जाता था।”

इन रोमाँचकारी घटनाओं के सम्बन्ध मे अधिकता के साथ उद्धरण देना हमारे लिए अत्यन्त खेद उत्पन्न करने वाला विषय हो रहा है केवल इतना ही समझ लेना चाहिये कि अँगरेजो द्वारा किये गये अत्याचारों का परिणाम यह हुआ कि एक बार समस्त दिल्ली नगर खाली और वीरान हो गया, बल्कि उन इने गिने घरानों को छोड़कर जिनसे कम्पनी की सेना को सहायता मिलती रही, शेष समस्त नगर-निवासियों को, जो कत्ल अथवा फाँसी से बच सके, बल-पूर्वक नगर से बाहर निकाल दिया गया। इतिहास लेखक होम्स लिखता है—

“दिल्ली के निवासियों ने विप्लकारियों के अपराधों का कई

गुना अधिक प्रायश्चित कर डाला। हजारों की सख्या मे पुरुप स्त्री और बच्चे बिना घर-द्वार के इधर-उधर के इलाके मे घूम रहे थे, जिन्होंने कि कोई अपराध नही किया था। अपना जो कुछ माल असबाब नगर मे अपने पीछे छोड़ गये थे, उससे वे सदा के लिये हाथ धो चुके थे क्योंकि (अँगरेजी सेना के) सिपाहियों ने गली-गली और घर-घर जाकर प्रत्येक मूल्यवान वस्तु को खोज कर निकाल लिया था और जो कुछ सामान वे उठा कर न ले जा सकते थे उसे उन्होंने टुकड़े-टुकड़े कर डाला था।"

दिल्ली नगर पर अधिकार करने के बाद तीन दिन तक कम्पनी की सेना के सब सिपाही नगर भर मे लूट करते रहे। इसके लिए अँगरेज अफसरो की ओर से उन्हे पहले ही माफी मिल चुकी थी। उसके बाद 'प्राइज ऐजेन्सी' नाम से सरकारी मुहकमा खोल दिया गया, जिसका काम यह था कि शहर के तमाम घरो के हर तरह के माल-असबाब को एक स्थान पर इकट्ठा करके उसे नीलाम या गोदामो मे रखे और रुपया फौज मे बॉट दे। इस मुहकमे ने मकानों के अन्दर की किताबे, बर्तन चारपाई, चक्की, गड़ा हुआ माल वा दौलत, यहॉ तक कि मकानों के किवाड़ और उनके अन्दर का लोहा और पीतल तक अर्थात कोई भी चीज बाकी नहीं छोड़ी।

ख्वाजा हसन निजामी साहब ने लिखा है कि "कर्नल बर्न को शहर का फौजी गवर्नर नियुक्त किया गया, उसने एक दस्ता फौज का इस काम के लिए नियुक्त किया कि जहॉ कही आबादी पाओ मर्द, औरत और बच्चों को घरों के असबाब के साथ गिरफ्तार करके ले आओ। आगे-आगे मर्द असबाब के गट्ठर सर पर रखे हुए पीछे-पीछे उनकी औरते रोती हुई पैदल और

बच्चों को साथ लिए हुए चल रही थीं। जिन औरतों को कभी पैदल चलने की आदत न थी वे ठोकरें खा-खाकर गिरती थी, बच्चे गोद से गिरे जाते थे और सिपाही क्रूरता के साथ उन्हे आगे चलने के लिये धक्के देते थे।

जब वे लोग कर्नल बर्न के सामने पेश होते तब हुक्म दिया जाता कि असबाब मे जितनी कीमती चीजे है ढूँढ़ कर जब्त कर लो, व्यर्थ चीजे वापस दे दो। यह हो चुकने पर दूसरा हुक्म यह दिया जाता है कि इनको सिपाहियो की देख रेख मे लाहौरी दरवाजे तक ले जाओ और शहर से बाहर निकाल दो। ऐसा ही किया जाता और वे लोग लाहौरी दरवाजे के बाहर धक्के देकर निकाल दिये जाते।

दिल्ली शहर के बाहर इस प्रकार हजारों मर्द, औरते और बच्चे असहाय नंगे पॉव नगे सर और भूखे प्यासे फिर रहे थे। ××× सैकड़ों बच्चे भूख-भूख चिल्लाते हुए माताओं की गोद मे मर गये। सैकड़ों माताऍ छोटे बच्चों का दुःख न देख सकने के कारण उन्हे अकेला छोड़कर कुऍ मे डूब मरी।

नगर के भीतर हजारों औरतें ऐसी थीं कि जिस समय उन्होंने सुना कि कम्पनी की सेना आती है उस समय बेइज्जती और मुसीबतों से बचने के लिए कुओं मे गिरने लगी और इतनी अधिक गिरी कि डूबने को पानी तक न रहा। अनेक कुऍ औरतों की लाशों से भर गये।

सेना के एक अफसर का बयान है कि-—"हमने इस प्रकार की सैकड़ों औरतों को कुओं से निकाला जो लाशों के ढेर के कारण डूबी न थी और जिन्दा पड़ी थी अथवा बैठी थी। जिस समय

हमने उन्हे निकालना चाहा उस समय वे चीखने लगीं कि खुदा के लिए हमको हाथ न लगाओ और गोली से मार डालो हम शरीफ बहू-बेटियाँ है, हमारी इज्जत खराब न करो। X X X"

दिल्ली की स्त्रियों का यह भय कारण से शून्य न था। उनको यह भय था कि कही हमारी इज्जत पर हमला न किया जाय, उचित कारणों से ही युक्त था। ख्वाजाहसन निजामी साहब लिखते है कि "फराशखाने के किसी कुएँ से दो औरते जिन्दा निकाली गई। एक जवान किन्तु अन्धी और दूसरी बुढ़िया। बुढ़िया ने बयान किया कि मेरे एक ही बेटा था, उसे घर मे घुस कर कत्ल कर दिया गया। जब वह कत्ल किया जा रहा था, कुछ सिपाहियों ने उसकी अन्धी बहिन के सतीत्व पर हमला करना चाहा, किन्तु वह अपने घर के कुएँ से परिचित थी दौड़ कर उसमे गिर पड़ी, उसके साथ ही मै भी कुएँ मे कूद पड़ी। हम दोनों पानी मे गोते खा रहे थे कि किसी ने अन्दर आकर हमे निकाल लिया।" दिल्ली मे ऐसे भी लोग थे जिनके घर की स्त्रियों की आबरू पर जिस समय हमला होने लगा उस समय उन्होंने अपने हाथ से अपनी बहुओं और अपनी बेटियों को कत्ल कर दिया और फिर स्वयं आत्महत्या कर ली।"

दिल्ली नगर के रहने वालों के धार्मिक भावों को आघात पहुँचाने के लिए जिस प्रकार मन्दिरों और मस्जिदों को नष्ट किया गया उसके सम्बन्ध मे ख्वाजाहसन निजामी साहब अपनी पुस्तक दिल्ली की 'जॉकनी' मे लिखते हैं कि :—

"अँगरेजी सेना के मुसलमान सिपाही हिन्दुओं के मन्दिरों मे घुस गये और उनको भ्रष्ट कर डाला और हिन्दू सिपाहियों ने

मस्जिदों को नष्ट कर दिया। दिल्ली की बड़ी जामे मस्जिद मे सिख सिपाहियों की बारिग बनाई गई। पाखाने और पेशाबखाने भी इसी के अन्दर थे। मीनारों के नीचे हलवे पकाये जाते थे और सुअर भी काट कर पकाये जाते थे। अँगरेजों के साथ कुत्ते अन्दर पड़े फिरते थे। एक मस्जिद जीनतुल मस्जिद को गोरों का मिसकोट घर बनाया गया और नवाब हमीदअली खॉ की मशहूर मस्जिद मे गधे बॉधे जाते थे। किले के नीचे एक बड़ी आलीशान मस्जिद अकबराबादी थी जो गिरा कर बिलकुल जमीन के बराबर कर दी गई। इसी तरह और बहुत सी छोटी छोटी मस्जिदों का खात्मा हुआ।"

जब कम्पनी की सेना के अत्याचारों से दिल्ली नगर उजड़ गया तब फिर उसे नये ढंग से बसाने के उपाय किये जाने लगे। चूँकि अँगरेजों ने सभी को दिल्ली से निकाल दिया था इसलिए किसी मे इतना साहस न था कि वह अपनी इच्छा से दिल्ली नगर मे आबाद हो सकता। एक तो उन सबों ने यह सब अपनी ऑखों से देख लिया था कि अँगरेज कितने कठोर और अत्याचारी थे। दूसरे कत्लेआम और फॉसी की सजाओं से भी वे भयभीत हो चुथे थे। तीसरे उन्होंने यह भी देख लिया था कि जिन लोगों का भरोसा अँगरेजों पर था, उन लोगों को भी कम्पनी के अत्याचारों का शिकार बनना पड़ा। चौथे वे यह समझ चुके थे कि जब तक अँगरेज दिल्ली मे है तब तक उनकी बहू-बेटियों की इज्जत भी नही बच सकेगी। पॉचवे वे इस बात से भी डरते थे कि कम्पनी के सिपाहियों से सताये जाने पर भी उनकी कुछ भी सुनवाई न होगी। इसीलिए कोई भी दिल्ली मे नहीं आना चाहता था।

धीरे-धीरे समय बीतता गया। अँगरेजी सेना के सिपाहियों ने अपने अत्याचारों को कुछ कम कर दिया। दिल्ली को बसाना उचित समझा जाने लगा इसलिए सब से पहले कुछ हिन्दुओं से अधिक जुर्माने ले लेकर उन्हे अपने अपने मुहल्लों मे बसने की आज्ञा दे दी गई और उन पर सतर्क दृष्टि रखने को भी विशेष प्रबन्ध कर दिया गया। उन सबों के बस जाने और साधारण जीवन बिताने के ढग समझ लेने पर दूसरे लोगों को भी बसाने के लिए उपाय किया जाने लगा। मार्च सन् १८५८ के पहले कोई भी मुसलमान दिल्ली नगर मे नही घुसने पाता था किन्तु मार्च सन् १८५८ मे मुसलमानो को पास लेकर नगर में बसने के लिए आज्ञा मिल गई। हिन्दुओं के समान मुसलमान भी आकर बसने लगे किन्तु फिर भी सन् १८५९ तक मुसलमानों के अपने सभी मकान कम्पनी की सरकार के ही अधिकार मे थे और उन सब मुसलमानों पर विशेष रूप से सतर्क दृष्टि रखी जाती थी। वे एक सीमा के ही अन्दर चल-फिर सकते थे क्योंकि दिल्ली नगर मे किसी भी मुसलमान को बिना किसी अफसर के पास चलना फिरना मना था।

साधारणतया यह कहावत प्रसिद्ध है कि दिल्ली किसी की नहीं है और यह कई बार उजड़ी और फिर बसी। इन सब घटनाओं से प्रमाणित है कि कहावत मे सच्चाई अवश्य है। जब जब भारतवर्ष मे नई राज्य-क्रान्ति अथवा नवीन विप्लव को चरम-सीमा तक पहुँचाने का प्रयत्न सफलता के साथ किया गया तब-तब दिल्ली की यही दशा हुई। कुछ भी हो, अब हम दिल्ली के सम्बन्ध मे और अधिक कहना आवश्यक नहीं समझ रहे है। केवल इतना ही समझ लेना पर्याप्त होगा कि कम्पनी की

सरकार ने जिस प्रकार दिल्ली को उजाड़ा था उसी प्रकार न सही तो कम से कम कुछ अशों मे अपनी सन्दिग्ध नीति के अनुसार उसे फिर से बसाने का प्रयत्न किया और उसी प्रयत्न का फल आधुनिक दिल्ली नगर है।

इस प्रसग को यहीं से समाप्त कर हम दूसरे प्रसंग की ओर पाठकों का ध्यान ले जाना उचित समझते है। वह यह है कि किस प्रकार कम्पनी की सरकार ने दिल्ली के राजवंश का अन्त किया अथवा इसे यों समझ लेना चाहिए कि किस प्रकार सम्राट बाबर और सम्राट अकबर के उत्तराधिकारियों या वशजो का अन्त हुआ।

जिस समय भारतवर्ष मे कम्पनी की सरकार के विरुद्ध आन्दोलन और विप्लव का आरम्भ हुआ उस समय दिल्ली लाल किले के अन्दर सम्राट बहादुरशाह के बन्धु-बान्धवों और कुटुम्बियों की सख्या बहुत ही बड़ी थी। इनमें से अनेक शाहज़ादों को पकड़ कर बिना किसी न्याय के फाँसी पर लटका दिया गया। कुछ ऐसे राजवश के पुरुष फाँसी पर लटका दिये गये जिनसे विप्लव का न तो कोई सम्बन्ध था और न जो किसी आन्दोलन मे भाग ले सकने के योग्य ही थे। उनका यदि कुछ अपराध था तो केवल इतना ही कि वे दिल्ली के राजवंश के थे।

इस कथन के प्रमाण मे शाहज़ादे मिर्ज़ा और कैसर का नाम लेना उचित है। शाहज़ादा मिर्ज़ा कैसर सम्राट शाहआलम का एक बेटा था और इतना बूढ़ा था कि विप्लव मे किसी भी प्रकार का भाग लेना उसके लिए सर्वथा असम्भव था। उस निर्दोष बूढ़े शाहज़ादे मिर्ज़ा कैसर को भी फाँसी दे दी गई।

इसी प्रकार शहजादे मिर्जा मुहम्मदशाह को फॉसी पर लटका दिया गया। शहजादा मिर्जा मुहम्मदशाह सम्राट अकबरशाह का पोता था और आजीवन गठिया का रोगी रहने के कारण सीधा खड़ा तक न हो सकता था। वह भी न्याय की दृष्टि से निरपराध था।

इनके अतिरिक्त कुछ शहजादों को जेल मे रखा गया और उनसे चक्कियाँ पिसवाई गई। जब वे शहजादे अपना काम पूरा न कर पाते थे तब उन पर कोड़ो की मार पड़ती थी। वे इतनी निर्दयता के साथ मारे जाते थे कि वे उस जीवन से मरण को ही अच्छा समझने लगे। अन्त मे वही हुआ। कठोर हृदय वाले कम्पनी के अत्याचारी कर्मचारियो के अत्याचारों से वे एक प्रकार अधमरे-से हो गये। फिर भी उन पर कोड़ों की मार पड़ती ही रही। इस प्रकार वे बेचारे थोड़े ही दिनों मे कोड़ों की मार खा-खाकर हमेशा के लिए जीवन को दुःखी बनाने वाली कैद से छुटकारा पा गये अर्थात् ससार को छोड़कर परलोक को सिधार गये।

सम्राट बहादुरशाह का एक बेटा मिर्जा कोयाश एक दिन दिल्ली के समीप किसी जंगल मे घोड़े पर सवार खड़ा दिखाई पड़ा। उसके सिर पर टोपी न थी और चेहरे पर धूल पड़ी हुई थी। हडसन उसकी खोज मे बहुत दिनों से घूम रहा था फिर भी वह उसे न पा सका। उसके बाद आज तक पता न चला कि मिर्जा कोयाश का क्या हुआ।

अनेक शहजादे और शहजादियाँ दिल्ली से बाहर इधर-उधर मारे-मारे फिर रहे थे। बहादुरशाह की एक बेटी राबेया बेगम थी। जब वह भूखो मरने लगी तब उसने हुसेनी नामक दिल्ली के

एक बावर्ची से शादी कर ली। बहादुरशाह की एक दूसरी बेटी फातमा सुल्तान ईसाई पादरियों के एक लड़कियों के स्कूल मे नौकरी करने लगी। जो शाहज़ादियाँ अपने घरों मे बैठकर हजारों रुपये की खैरात करती थी वे थोड़े ही दिनों मे भीख माँगती दिखाई देने लगी।

इस प्रकार दिल्ली का राजवश नष्ट किया गया और सम्राट बहादुरशाह, बेगम जीनतमहल और शहजादे जवाँबख्त को कैद करके रंगून भेज दिया गया। रंगून मे अँगरेजों की कैद मे ही सन् १८६२ मे सम्राट बहादुरशाह की मृत्यु हुई और उसके साथ-साथ दिल्ली के राजवंश का शेष चिन्ह संसार से मिट गया। इतना ही नही भारतवर्ष के लिए भी दुर्भाग्य और सौभाग्य का संघर्ष उपस्थित हो गया जो कि आज भी वर्तमान है।

रक्त का समुद्र लखनऊ

विप्लव के प्रधान केन्द्र दिल्ली के सम्बन्ध की घटनाओं का वर्णन करने से कुछ पूर्व हम अपने पाठकों को लखनऊ से सम्बन्ध रखने वाली घटनाओं का वर्णन बता चुके है। जिस लखनऊ को हम दिल्ली के कारण छोड़ चुके थे उसी लखनऊ की ओर अब हम फिर अपने पाठकों को ले जाना चाहते हैं। यदि वीरता और बलिदान की दृष्टि से देखा जाय तो सन् १८५७-५८ के स्वाधीनता सग्राम मे दिल्ली की अपेक्षा लखनऊ का स्थान कहीं ऊँचा दिखने लगेगा। यदि दिल्ली से लखनऊ का पद अधिक ऊचा न होता तो यह स्वप्न मे भी सम्भव न था कि दिल्ली नगर के विप्लवकारियों तथा सम्राट बहादुरशाह के पतन होने के छः महीने बाद तक अवध और लखनऊ में स्वाधीनता का झण्डा फहराता रहता और कम्पनी की सरकार के अत्याचारी अँगरेज चुपचाप यों ही बैठे रह जाते।

हमारे पाठक कदाचित चिनहट को न भूले होंगे और यह भी भली भांति ध्यान मे रखे होंगे कि किस प्रकार विप्लवकारियों ने यहाँ के युद्ध मे अँगरेजों को पराजित किया था। हो सकता है कि पाठकों मे से कुछ ऐसे भी हों, जो चिनहट और चिनहट के संग्राम को भूल गये हो अतएव संक्षेप मे पुनरावृत्ति कर देना अनुचित न होगा।

सन् १८५७ की ३१ मई और १० जून के बीच केवल लखनऊ

शहर के एक भाग को छोड़ कर शेष समस्त अवध अँगरेजी राज्य के पंजे से निकल गया था। लार्ड डलहौजी के बयान से जिस वाजिदअली शाह को अत्याचारी और प्रजा को दुःख देने वाला प्रमाणित किया जा रहा था उसी बयान को काटते हुए अवध के निवासियों ने कम्पनी के झण्डे को फाड़ कर फेंक दिया था और वाजिदअलीशाह को फिर से अवध के सिंहासन पर बैठाने का वीरोचित प्रयत्न किया था और वे सब अवध के भिन्न-भिन्न भागों से आ आकर लखनऊ की बेगम हजरत महल के झण्डे नीचे जमा होने लगे। जब कानपुर में अँगरेज हार गये और उनके हार जाने का समाचार २८ जून को लखनऊ पहुँचा तब लखनऊ के विप्लवकारियों ने अँगरेजों पर आक्रमण करने के लिए चिनहट नामक स्थान पर चढ़ाई की। २९ जून को लोहे के पुल के पास कम्पनी की सेना से अत्यन्त घमासान संग्राम हुआ और उस संग्राम मे अँगरेजों की हार हुई।

उसी चिनहट नामक स्थान के युद्ध मे विजयी होने के बाद अवध के निवासियों ने अँगरेजी कैदी नवाब वाजिदअलीशाह के पुत्र बिरजिस कद्र को लखनऊ के सिंहासन पर बैठा दिया। नवाब बिरजिस कद्र चूँकि उस समय नाबालिग था इसलिए अवध के शासन की बागडोर बिरजिस कद्र की माँ बेगम हजरत महल के हाथों मे सौंप दी गई। अवध मे जितने छोटे बड़े जमीदार थे उन सबों ने और अवध की समस्त प्रजा ने बड़ी प्रसन्नता के साथ बेगम हजरत महल को अपनी अधीश्वरी स्वीकार कर लेने मे ही अपना और अपने अवध का गौरव समझ लिया।

अवध की अधीश्वरी और नवाब बिरजिस कद्र की माँ बेगम हजरत की प्रशंसा करते हुए रसल लिखता है—"बेगम

में बड़ी पराक्रमशीलता और योग्यता दिखाई देती। ××× बेगम ने हमारे साथ निरन्तर युद्ध करने की घोषणा कर दी है। इन रानियों और बेगमों की पराक्रमशीलता को देखकर मालूम होता है कि जनानखानो मे रहकर भी ये विशेष रूप से अधिक मात्रा मे क्रियात्मक मानसिक शक्ति अपने अन्दर पैदा कर लेती हैं।

अवध के शासन की बागडोर अपने हाथ मे लेते ही बेगम हजरत महल ने सबसे पहले अवध के नये नबाब बिरजिसकद्र की ओर से अवध के स्वतन्त्र हो जाने का शुभ सन्देह भिन्न-भिन्न प्रकार के उपहारों के साथ सम्राट बहादुरशाह की सेवा मे दिल्ली भेजा। इसके बाद उसने राजा बालकृष्णसिंह को अपना प्रधान मत्री नियुक्त किया और उस कठिन समय मे राज्य के समस्त मुहकमों को नये सिरे से सुव्यवस्था कर एक बार समस्त अवध मे शान्ति और सुशासन को स्थापित कर दिया। उसके सुशासन की सभी ओर से प्रशंसा की जाने लगी।

जिन दिनों बेगम हजरत महल के सुशासन से अवध मे शान्ति का बोलबाला था उन्ही दिनों अवध मे रहने वाला अँगरेजो का समूह और अवध का समस्त अँगरेजी राज्य लखनऊ की रेजिडेन्सी के अन्दर कैद किया जा चुका था। रेजिडेन्सी के बाहर समस्त अवध मे कम्पनी के शासन का कोई भी चिन्ह शेष न रह गया था। इतना ही नहीं, विप्लवकारियों की सेना ने रेजिडेन्सी को भी अपने घेरे मे ले लिया था।

सन् १८५७ की २० जुलाई को लखनऊ के विप्लवकारियों की सेना ने रेजिडेन्सी के ऊपर हमले करने आरम्भ कर दिये।

कई दिनों तक दोनों ओर धुआँधार गोलियों की वर्षा होती रही और कई बार रेजिडेन्सी के ऊपर का अँगरेजी झण्डा टूट कर गिर पड़ा, किन्तु प्रत्येक बार इसके स्थान पर अँगरेजों का नया झण्डा लगा दिया गया। लखनऊ की रेजिडेन्सी के अन्दर सिख सिपाही जी तोड़ कर अँगरेजों की सहायता कर रहे थे। बाहर के भारतीय सैनिकों ने रेजिडेन्सी के सिखो को अनेक बार समझा कर अपनी ओर करने का प्रयत्न किया किन्तु वे अपने प्रयत्न मे असफल ही रहे।

लखनऊ के इन्ही सग्रामों मे एक दिन अवध का अँगरेज चीफ कमिश्नर सर हेनरी लारेन्स जो पजाब के चीफ कमिश्नर सर जान लारेन्स का भाई था, विप्लवकारियों की गोली का निशाना बन गया और उसके परलोकवासी होते ही मेजर बैंक्स ने तुरन्त अपने आपको आगे बढ़ाया और उसके रिक्त स्थान को पूर्ण करने के लिए उसके स्थान को ग्रहण कर लिया। थोड़े ही दिनों के बाद मेजर बैंक्स की भी वही दशा हुई अर्थात् उसको भी एक गोली लगी और वह भी ससार से चल बसा। रेजिडेन्सी के अँगरेजों मे बड़ी उदासी छा गई। जीवन-रक्षा का कोई भी उपाय उन अँगरेजों की समझ मे नहीं आ रहा था। कुछ भी हो, विप्लवकारियों के हाथ मे इस प्रकार पड़ जाने से युद्ध करके मरना ही रेजिडेन्सी के अँगरेजों ने उचित समझा। इसलिए जीवन और मरण, दोनों को ही समान समझकर ब्रिगेडियर इगलिस ने मेजर बैंक्स के स्थान को ग्रहण किया। लिखा है कि इतने ही समय मे विप्लवकारियों ने रेजि-डेन्सी की दीवार के कई भाग उड़ा दिये थे और रेजिडेन्सी के भीतर के भी अनेक मकान विप्लवकारियों की गोलियों से गिरकर

ढेर हो गये थे। यही एक मुख्य कारण था जिससे कि रेजिडेन्सी के अन्दर रहने वाले अँगरेजों की दशा बड़ी ही चिन्ताजनक हो गई थी। सभी ओर से उन्हे नैराश्य ही नैराश्य दिखाई पड़ रहा था और वहाँ पर उन अँगरेजों का कोई सहायक भी न था।

इस स्थल पर यह भी बतला देना उचित होगा कि रेजिडेन्सी मे रहने वाले अँगरेजों ने सहायता के लिए बार-बार अपने गुप्तदूत कानपुर भेजे, जिनमे से कई दूत गिरफ्तार कर लिये गये। २५ जुलाई को ब्रिगेडियर इगलिस को सूचना मिली कि जनरल हैवलाक सहायता के लिए कानपुर से रवाना हो चुका है और पाँच या छः दिनों के भीतर लखनऊ पहुँच जायगा। किन्तु वह सूचना यों ही सूचना बन कर रह गई। लखनऊ के अँगरेजो की सहायता के लिए पाँच छः दिनों के अन्दर कोई नही आया बल्कि जनरल हैवलाक के आने के स्थान पर विप्लवकारियों ने फिर एक बार रेजिडेन्सी पर बड़े ही भयानक रूप से चढ़ाई कर दी। रेजिडेन्सी की दीवार का एक बहुत बड़ा भाग टूट कर गिर पड़ा। उसके गिर जाने पर वही रेजिडेन्सी की दीवार के ऊपर तलवारों और संगीनों की भयानक लड़ाई होने लगी। कहा जाता है कि उस दिन की लड़ाई मे विप्लवकारियों ने कई अँगरेज सिपाहियों की सगीने तक छीन लीं। किन्तु इस प्रकार बड़े साहस और अपूर्व वीरता के साथ युद्ध करने पर भी अंत मे विप्लवकारी फिर शहर की ओर लौट गये।

इस लड़ाई के बाद विप्लवारियों ने १८ अगस्त को तीसरी बार रेजिडेन्सी पर चढ़ाई की। इस समय तक कानपुर से लखनऊ के अँगरेजों की सहायता के लिए आनेवाले जनरल

हैवलाक और उनकी सेना का कहीं पता तक न था। लखनऊ की रेजिडेन्सी के अँगरेज नित्य उनकी राह देखा करते थे। इतने मे ब्रिगेडियर इंगलिस को जनरल हैवलाक का एक पत्र मिला, जिसमें स्पष्ट शब्दों मे इस प्रकार लिखा हुआ था—"मै अभी कम से कम २५ दिन और लखनऊ नहीं पहुँच सकता।" इस पत्र को पढ़ते ही रेजिडेन्सी के अँगरेजों की घबराहट चरम सीमा तक पहुँच गई। रेजिडेन्सी के अन्दर खाने-पीने का जितना सामान था वह सब कम हो गया था और यहाँ तक कम हो गया था कि सब को भरपेट भोजन भी नहीं दिया जाता था किन्तु इतने पर भी जीवन की कोई आशा न थी। सभी चिन्ता से अधीर होने लगे थे।

इस प्रकार परिस्थिति के अनुकूल होते हुए भी विप्लवकारी इतने समय मे न तो रेजिडेन्सी पर पूर्ण विजय प्राप्त कर सके और न वहाँ के समस्त अँगरेजों को कैद या खत्म कर सके। इन्हीं सब बातों की आलोचना पूर्ण रूप से कर लेने के बाद यही कहना पड़ता है कि रेजिडेन्सी और रेजिडेन्सी के अँगरेजों को जो अभी तक लखनऊ के विप्लवकारी न जीत सके इसका मुख्य कारण या तो यह था कि दिल्ली के समान लखनऊ मे भी एक योग्य और प्रभावशाली सेनापति की कमी थी, या उन्हें कदाचित यह विश्वास था कि भोजन-सामग्री की कमी और गोलों की आग से घबराकर अँगरेज स्वयं आत्म-समर्पण कर देंगे। दूसरी ओर अँगरेज जो कि लखनऊ की रेजिडेन्सी मे एक प्रकार जीवन और मरण के बीच मे अपना समय बिता रहे थे, वे जनरल हैवलाक और उनकी सेना के लिए आतुर हो रहे थे। इसलिए अब हम

भी जनरल हैवलाक और उनकी सेना की ओर अपने पाठकों का ध्यान ले जाना चाहते हैं।

जनरल हैवलाक की बड़ी इच्छा थी कि वह तुरन्त लखनऊ जाकर वहाँ के अँगरेजों की सहायता करे कानपुर से लखनऊ पहुँचना कोई कठिन काम न था। इन दोनों शहरों का फासला ४५ मील से भी कम है। जनरल हैवलाक को पूरा भरोसा था कि वह दो चार दिनों मे ही लखनऊ पहुँच जायगा। इसलिए लखनऊ के विप्लवकारियो द्वारा पराजित किये गये अँगरेजों की सहायता करने के लिए २२ जुलाई सन् १८५७ को जनरल हैवलाक कानपुर से डेढ़ हजार फौज और तेरह तोपों के साथ निकल पड़ा और बड़े उत्साह के साथ अवध मे प्रवेश करने के लिए गंगा को पार किया। किन्तु जैसे ही उसने गंगा को पार किया वैसे ही उसे विपरीत लक्षण दिखाई पड़ने लगे। अवध की वीर-भूमि मे पैर रखते ही जनरल हैवलाक की समझ मे आ गया कि लखनऊ तक पहुँच सकना सरल नही है!

वास्तव मे बात यह थी कि अवध की एक-एक इंच जमीन मे स्वाधीनता के भावों की विकट अग्नि दहक रही थी। अवध के जमींदारों को जैसे ही यह ज्ञात हुआ कि लखनऊ के अँगरेजों की सहायता करने के लिए कानपुर से जनरल हैवलाक बड़े दल-बल के साथ चला आ रहा है वैसे ही एक-एक जमीदार ने अपने अधीन सौ-ौ दो-दो सौ या अधिक मनुष्य जमा करके हैवलाक को रोकने का निश्चय कर लिया। कानपुर से लखनऊ तक जो मार्ग गया है उस मार्ग के प्रत्येक ग्राम के ऊपर स्वाधीनता का हरा झण्डा फहरा रहा था। यह सब देखकर जनरल हैवलाक

और उसके सहायक सैनिक आगे बढ़ने का साहस खोने लगे थे। किसी प्रकार वे सब उन्नाव तक पहुँचे।

प्रसंगवश पाठकों से मुझे लेखक को भी उन्नाव से सम्बन्ध रखने वाली सन् १८५७ की घटनाओं का सुना हुआ वृत्तान्त बतलाना पड़ रहा है। अभी तक सन् १८५७ के विप्लव का समस्त वृत्तान्त नहीं जाना जा सका है। इसका मुख्य कारण यह है कि साधारणतया इतिहास के साहित्य मे प्रधान-प्रधान पुरुष, प्रधान-प्रधान स्थान और प्रधान-प्रधान घटना को ही स्थान दिया जाता है और शेष पुरुष, स्थान और घटनाएँ यों ही विस्मृति के अंधकार मे पड़ी रह जाती हैं।

संसार की प्रगति इतनी शीघ्रता से सृष्टि-चक्र के साथ हो जाती है कि उसे सिवा अपने भविष्य के और कुछ नहीं दिखाई देता। अपने अतीत को वह (संसार की प्रगति) इस प्रकार भूल जाना चाहती है जिस प्रकार कृतघ्न, विषय-लोलुप, स्वार्थी और नीचों की संगति मे रहने वाला पुरुष अपने उपकारी के उपकार को, सामाजिक जीवन की साधारण लोक-मर्यादा को, शरण मे आये हुए व्यक्तियों के प्रति अपने कर्तव्य को और अपने माता-पिता की सेवा करने की भावना को भूल जाता है। कुछ भी हो, जब जो वस्तु प्राप्त हो और उपयोगी हो तब उसे अवश्य ग्रहण कर लेना चाहिए।

अब मै अपने मुख्य विषय पर आता हूँ। मेरा जन्म जिला उन्नाव तहसील पुरवा, परगना घाटमपुर, थाना बारा के अन्तर्गत एक छोटे से गॉव मे हुआ है। यह गॉव कानपुर से लगभग २० मील और उन्नाव से भी लगभग २० मील की दूरी पर पूर्व की ओर है। समीप ही श्री गंगा जी की धारा प्रवाहित है। इस

गॉव के उत्तर में मीलों-चौड़ी बबूल के पेड़ों वाली हरी-भरी चरोखर जमीन है। छोटे-छोटे खेरे भी बसे हुए हैं जिनमे नरघुआ मुख्य है। दक्षिण मे केवल श्री गगा जी की धारा है। पूर्व मे भागूखेरा, पिपरासर, डुडुहरा और दरियाबाद आदि गॉव मे और पश्चिम मे गढ़ेवा, चन्दनपुर, पाही, बैदरा, खरौली, सातन, बेथर, अचलगंज और उन्नाव आदि स्थान हैं। इसी प्रकार पश्चिम मे ही चन्दनपुर, बोल्हुआगाड़, निबई आदि को पार कर कानपुर भी आ जाता है।

जिस भाग मे मेरा जन्म-स्थान है उसे अवध मे बैसवाड़ा भी कहते है क्योंकि अवध के इसी भाग मे वैस ठाकुरों (क्षत्रियों) की ही आबादी अधिक है। जिस प्रकार बेस ठाकुर रणबॉकुरे तब थे और अब भी है उसी प्रकार वहॉ के ब्राह्मण भी रण बॉकुरे तब भी थे और आज भी है। स्वाभिमानी पुरुषों को जन्म देने वाला अवध का यही भाग है और इसी भाग मे पूर्व-जन्म के संस्कार से मुझको भी जन्म लेना पड़ा। अपने जन्म के स्थान का पूरा परिचय दे चुकने के बाद भी एक बात अभी तक मैंने नही बतलाई। वह बात कुछ नही है, केवल जन्म स्थान के गॉव का नाम है, किन्तु नाम बतलाने के पूर्व एक किम्बदन्ती का उल्लेख कर देना भी आवश्यक हो रहा है।

इसी पुस्तक में एक स्थान पर कानपुर की वेश्या अजीजन का नाम आ चुका है। पाठक कदाचित् इसे न भूले होंगे। इसी वेश्या अजीजन के सम्बन्ध मे हम यह भी कह चुके है कि सन् १८५७ के विप्लव मे इसका भी नाम प्रसिद्ध हो चुका हैं। यह वही वेश्या है जिसके सम्बन्ध मे किसी-किसी इतिहास लेखक ने

यहाँ तक लिख दिया है कि वह हथियार बाँधती थी, घोड़े पर सवार होती थी, बिजली की तरह शहर की गलियों और छावनी मे दौड़ती फिरती थी। घायल सिपाहियों को दूध और मिठाई बाँटती थी। इतना ही नहीं अँगरेजी किले की ठीक दीवार के नीचे लड़ने वालों के हौसले भी बढ़ाया करती थी। ऐसी यह कानपुर की वेश्या अजीजन थी।

लोगों का कहना है कि इसी वेश्या अजीजन की कई पीढ़ी पूर्व करीमन नाम की एक वेश्या कानपुर में हो चुकी है। कानपुर के किसी बड़े रईस से उसका लगाव था। उस रईस की धर्मपत्नी को यह पसन्द न था कि उसका पति करीमन वेश्या से किसी भी प्रकार का लगाव रखे इसलिये उन दोनों मे विच्छेद करने का वह नित्य नया उपाय सोचा करती थी। किसी समय उस स्त्री ने यह भी घोषणा करा दी कि जो कोई उसके पति और करीमन के बीच विच्छेद पैदा करा देगा उसे: बहुत-सा धन इनाम मे दिया जायगा। उसकी उस घोषणा को सुनकर एक कथा-वाचक ब्राह्मण-युवक उस रईस की स्त्री के पास गया और विच्छेद कराने का बीड़ा उठा लिया। उस ब्राह्मण युवक ने भर्तृहरि के शृंगार का वर्णन उस रईस को सुनाया। जब रईस उस ब्राह्मण-युवक पर अटूट श्रद्धा करने लगा तब उसने भर्तृहरि शतक के वैराग्य का वर्णन आरम्भ कर दिया। परिणाम यह हुआ कि वह रईस विरक्त हो गया और लोक-मर्यादा के अनुसार अपने गार्हस्थ्य जीवन को बिताने लगा। इधर वेश्या करीमन कानपुर छोड़ने को तैयार हो गई। नौका पर सवार होकर वह कानपुर के पूर्व की ओर चल पड़ी। चलते-चलते वह बहुत दूर आ गई और एक ऐसे स्थान पर आ

गई जहाँ कि गंगा जी के तट पर एक ब्रह्मचारी साधू रहता था। घटना-क्रम से उसी समय स्नान करने के लिए वह ब्रह्मचारी साधु गंगा की धारा मे प्रवेश कर गया और तैरने के लिए धारा की कुछ गहराई की ओर बढ़ा किन्तु प्रावाह की तीव्रता के कारण वह अपने को सम्भाल सकने मे समर्थ न हुआ। कहने की आवश्यकता नही कि वह धारा के प्रवाह मे वह चला और सहायता के लिए चिल्लाने लगा। ठीक ऐसे ही समय मे वेश्या करीमन की नौका उसके पास पहुँच जाती है। वह ब्रह्मचारी साधु नया जीवन लाभ करता है दोनों परस्पर परिचित होते है। रात्रि मे ब्रह्मचारी साधु की कुटी मे विश्राम करने के लिए वेश्या करीमन अपने साथियों के साथ रुक जाती है। इतना ही नहीं, ब्रह्मचारी साधु के उपदेशों से प्रभावित होकर वह भी वैराग्य ले लेती है और वहीं रहने लगती है। उसके पुण्य और प्रताप से उसी स्थान पर एक गॉव बस गया और उस गाँव का नाम 'करमी' रखा गया। इसमे ब्राह्मणों की सख्या अधिक थी और उसी के पास एक गॉव 'गढ़ेवा' भी है जहाँ वैस ठाकुरों की प्राचीन गढ़ी थी, और जिसमे वैस ठाकुरों की संख्या अधिक थी। दोनों गॉवों मे इतना मेल-जोल था कि सभी कामों मे एक मत होकर लोग आगे बढ़ा करते थे। इसीलिए 'करमी-गढ़ेवा' का नाम भी सन् १८५७ के विप्लव मे स्थानीय जनता के निकट विशेष महत्व का स्थान रखता है और यही गाँव मेरे जन्म का स्थान है।

इतना कहकर अब हम अपने मुख्य विषय पर आते हैं अर्थात् कानपुर से चलकर लखनऊ की ओर बढ़नेवाले जनरल हैवलाक को रोकने के लिए उन्नाव मे भिन्न मार्गों और उन्नाव

के भिन्न भागों से आ-आकर विप्लवकारी जमा होने लगे। जिला उन्नाव के तहसील खास और-तहसील पुरवा के विप्लवकारी उन्नाव मे आकर जमा हुए। तहसील हसनगंज और सफीपुर के आधे विप्लवकारी बिठूर घाट से लखनऊ जानेवाली सड़क के कई भागों मे जमा होकर अपने शत्रु अँगरेजों का सामना करने की प्रतीक्षा करने लगे।

उन्नाव खास मे प्रतीक्षा करनेवाले विप्लवकारियों मे यह प्रसंग चलने लगा कि जो सबसे पहले अँगरेजों को हरा देगा उसे शुद्ध और उच्च वंश का मान लिया जायगा अन्यथा जो कायरता दिखायेगा उसे कलंकित और नीच वंश का समझा जायगा। इसीलिए सभी आगे बढ़कर मोर्चा जीतना चाहते थे।

सन् १८५७ के विषय के लेखों से प्रमाणित है कि जनरल हैवलाक को कानपुर से लखनऊ के मार्ग मे सब से पहली लड़ाई उन्नाव मे ही लड़नी पड़ी। बड़ी भयानक लड़ाई हुई। कान्यकुब्ज ब्राह्मणों और बैस ठाकुरों ने मिलकर अँगरेजों के दाँत खट्टे कर दिये। लखनऊ बढ़ने के जितने इरादे जनरल हैवलाक के मन मे थे, वे सब बात की बात मे समाप्त हो गये। किसी प्रकार प्राणों की रक्षा भी कर सकना कठिन हो गया। अँगरेज और अँगरेजों का साथ देने वाले सैनिक मैदान छोड़ कर भाग गये। इधर विप्लवकारी सिपाही भी अपने-अपने निश्चित स्थानों को चले गये। उन सबों के उन्नाव से चले जाने पर जनरल हैवलाक अपने छिपे हुए सैनिकों को संकेत के साथ जमाकर ज्यों-त्यों कर पुनः आगे बढ़ा। आगे बढ़कर कुछ दूर तक जाते ही बशीरतगंज मे विप्लवकारी फिर मिल गये। उनके मिलते ही पुनः भयनक युद्ध होने लगा। कहा जाता है कि उन्नाव और

बशीरतगंज के ये दोनों ही सग्राम २९ जुलाई सन् १८५७ को हुए थे और इन दोनों ही सग्रामों मे जनरल हैवलाक की सेना का एक छठा भाग खत्म हो गया था। इसके बाद ३० जुलाई सन् १८५७ को जनरल हैवलाक को बशीरतगञ्ज से भी पीछे हटकर अपनी सेना सहित मगड़वारे मे आकर ठहरना पड़ा।

इधर लोगों के मुंह से जब नाना साहब ने यह समाचार सुना कि जनरल हैवलाक विप्लवकारियो से अँगरेजों की रक्षा करने के लिए अपनी सेना के साथ लखनऊ की ओर जा रहा है तब उसने फिर एक बार कानपुर पर आक्रमण करने की तैयारी करना आरम्भ कर दिया। विवश होकर जनरल हैवलाक को अपने बचे हुए सैनिकों के साथ मगड़वारे मे ४ अगस्त तक ठहर जाना पड़ा। आगे बढ़ने का कोई उपाय था ही नहीं।

इसके बाद किसी प्रकार साहस करता हुआ जनरल हैवलाक फिर लखनऊ की ओर बढ़ा। विप्लवकारियो ने उसे फिर बशीरत-गञ्ज में ही घेर लिया। दोनो ओर के सैनिक बड़ी बहादुरी के साथ एक दूसरे पर टूट पड़े। भयानक युद्ध होने लगा। इस दिन के संग्राम मे भी जनरल हैवलाक के तीन सौ सैनिक मारे गये। उसके साथ के डेढ़ हजार सिपाहियो मे से अब केवल साढ़े आठ सौ शेष बच रहे। हतोत्साह होकर जनरल हैवलाक ने आगे बढ़ने का विचार छोड़ दिया और निरुपाय अवस्था मे उसे फिर दूसरी बार गंगा की ओर पीछे लौट आना पड़ा। ऐसे उन्नाव के रहने वाले विप्लवकारी थे और इन्हीं विप्लवकारियों के साहस तथा वीरता से अवध की भूमि आज भी अपने को गौरवान्वित समझती है। उन्नाव का एक-एक बच्चा उस समय अपने देश के शत्रु अँगरेजों के लिए भयङ्कर हो रहा है। अवध की जिस

ग्रामीण जनता के पराक्रम के सम्बन्ध मे इतिहास लेखक इस कम से कम अवध निवासियों के युद्ध को हमे स्वाधीनता का युद्ध मानना पड़ेगा ऐसा लिखता है वह ग्रामीण जनता जिला उन्नाव की ही ग्रामीण जनता थी।

११ अगस्त को जनरल हैवलाक तीसरी बार बशीरतगञ्ज की ओर बढ़ा। इस बार उसने बड़ी वीरता के साथ बढ़ने का निश्चय कर लिया था किन्तु जैसे ही वह बशीरतगञ्ज के समीप पहुँचा वैसे ही उन्नाव की ग्रामीण जनता ने उस पर धावा बोल दिया। दशों दिशाओं मे 'मारो फिरंगी को! मारो फिरगी को यही शब्द गूँजने लगे। ऐसी भयानक लड़ाई हुई मानो मारने वाले साक्षात् सब का संहार करने वाले प्रलयकार के हो स्वरूप बन गये हों। तीसरी बार का यह मोर्चा बड़ा ही कठिन हो गया। उन्नाव निवासियों अथवा अवध निवासियों के साथ का यह मोर्चा जनरल हैवलाक के लिये घातक सा सिद्ध होने लगा। किसी प्रकार इस बार भी अपने प्राणों की रक्षा करने के लिए वह पीछे हट आया और मगड़वारे मे आकर रुक गया।

इतने ही समय के अन्दर नाना साहब के समीप सागर, ग्वालियर आदि स्थानों की पर्याप्त सहायता पहुँच चुकी थी। सहायता को पाते ही नाना साहब ने अपने मन मे फिर से नये साहस का संचार किया और नवीन पराक्रम को अपनाते हुए किसी दूसरे स्थान मे गंगा को पार कर पुनः एक बार कानपुर पर आक्रमण कर दिया। जनरल नील उस समय भी कानपुर में ही था किन्तु वह नाना साहब का सामना भली भाँति कर सके ऐसी शक्ति और इतनी सेना उसके पास न थी। उसने तुरन्त जनरल हैवलाक को नाना साहब के इस प्रकार आक्रमण कर

देने की सूचना भेज दी। सूचना के ही कारण अब जनरल हैवलाक के लिए लखनऊ की ओर बढ़ सकना सभी प्रकार से असम्भव हो गया इसलिए १२ अगस्त को पुनः गगा पार कर जनरल हैवलाक को कानपुर लौट आना पड़ा।

जैसे ही जनरल हैवलाक ने गगा को पार किया वैसे ही उन्नाव की ग्रामीण जनता ने अपने को विजयी समझ लिया। हड़हा, अचलगंज, बेथर, पड़री सतान, सिकन्दरपुर, कोल्हुआ-गाड़, खरौली, बैदरा, वरमी-गढ़ेवा दरियाबाद अलीपुर और डौंड़ियाखेरा आदि ग्रामों के निवासी परस्पर हर्षोल्लास के साथ उत्सव मनाने लगे। इतना ही नही, उन सबों मे से कुछ विप्लव-कारी लखनऊ भी पहुँचकर इस शुभ समाचार को सुना आये। परिणाम यह हुआ कि जनरल हैवलाक के गगा पार जाते ही अवध-निवासियों के हौसले कई गुने अधिक हो गये।

इतिहास लेखक इन्स लिखता है :—"अवध से हमारी सेना के लौट आने का परिणाम यह हुआ जिसका हैवलाक को निःसन्देह अनुमान तक न था। ताल्लुकेदारों ने प्रकट रूप से इसका अर्थ यह समझ लिया कि अँगरेजों ने अवध का प्रान्त छोड़ दिया है। अब उन्होने लखनऊ दर्बार को यथाविधान अपनी रचनात्मक सरकार स्वीकार कर लिया और यह भी सत्य है कि उस सरकार की सहायता के लिए वे स्वय लखनऊ नही पहुँचे किन्तु फिर मी लखनऊ दर्बार की जिन आज्ञाओं का पालन उन सबों ने आज तक नही किया था, उन सभी आज्ञाओं का पालन वे सब अब करने मे तत्पर हो गये थे। लखनऊ दर्बार ने जितने-जितने सैनिक इन सबों से माँगे थे, उतने-उतने सैनिक को अब इन सबो ने संग्राम के लिए लखनऊ भेज दिये थे।"

इतिहास के विद्वानों का यह मत है कि अवध के ताल्लुकेदारों पर जो यह आश्चर्यजनक प्रभाव पड़ा था उसका समस्त श्रेय उन्नाव और बशीरतगंज मे अँगरेजों को हराने वाले वीरों का ही है। यही एक कारण है कि उन्नाव की ग्रामीण जनता मे साहस, पराक्रम, वीरता स्वाभिमान और निर्भीकता के गुण स्वभाव से ही अटूट थे ऐसा मानना पड़ेगा। लोगों का भी कहना है कि अवध के जमीदारों और ताल्लुकेदारों पर पड़ने वाला वह अभूतपूर्व प्रभाव वास्तव मे उन्नाव और बशीरतगंज की ग्रामीण जनता की वीरता का ही परिणाम था।

इधर जैसे ही जनरल हैवलाक ने कानपुर मे प्रवेश किया वैसे ही उसको सूचना मिली कि नाना साहब ने फिर से बिठूर पर अपना अधिकार जमा लिया है। इस सूचना को पाने पर १७ अगस्त को जनरल हैवलाक ने नाना साहब की सेना पर चढ़ाई कर दी। दोनों ओर के सैनिक युद्ध के लिए तैयार थे ही अतएव एक घमासान युद्ध के बाद दोनों ओर की सेनाओं को पीछे हट जाना पड़ा। इस प्रकार उस युद्ध मे पीछे हटने और पीछे हटने के कारणो पर पूर्ण रूप से विवेचना करने पर जनरल हैवलाक को विश्वस्त-सूत्र से पता चल गया कि यमना के किनारे कालपी मे भी नाना साहब ने एक विशाल सेना को जमा कर रखा है और वह सेना सभी प्रकार से अँगरेजों को जीत सकने मे समर्थ है। इसीलिए कहना पड़ता है कि अगर जनरल हैवलाक लखनऊ की ओर चला गया होता तो नाना साहब के लिए तुरन्त कानपुर मे पुनः अपना अधिकार जमा लेने मे न तो कोई विशेष कठिनाई होती और न अधिक समय ही लगता। जनरल नील के पास तो कुछ था ही नहीं। जैसे ही नाना साहब अपने

सैनिकों के साथ उस पर आक्रमण करते वैसे ही वह मैदान छोड़ देता।

कुछ भी हो, यमुना के किनारे कालपी मे नाना साहब की छिपाई हुई सेना का पता मालूम करते ही जनरल हैवलाक घबरा गया। घबराहट की दशा मे ही उसने तुरन्त इस सदेश को कलकत्ते भेज दिया कि "हम लोग एक भयकर आपत्ति मे पड़े हुए है। अगर और अधिक सेना सहायता के लिए न पहुँची तो अँगरेजी सेना को लखनऊ का विचार छोड़ कर इलाहाबाद चले जाने के अलावा और कोई दूसरा उपाय नहीं है।"

जब तक कालपी मे नाना साहब अँगरेजों को जीतने की तैयारी कर रहा था तब तक जनरल हैवलाक के सदेशे पर चार ही सप्ताह के भीतर सर जेम्स ऊटरम और अधिक सेना लेकर जनरल हैवलाक की सहायता करने के लिए १५ सितम्बर को कलकत्ते से कानपुर पहुँच गया।

सर जेम्स ऊटरस के कानपुर पहुँचते ही जनरल हैवलाक के जी मे जी आया। नये साहस और नये विचारों का सचार भी होने लगा। उसने कानपुर की रक्षा के लिए थोड़ी-सी सेना कानपुर मे ही छोड़ दी। बची हुई सेना को लेकर २० सितम्बर को उसने फिर कानपुर से लखनऊ की ओर प्रस्थान किया। पाठको को स्मरण होगा कि सब से पहले २५ जुलाई को लखनऊ के लिये जनरल हैवलाक ने गगा को पार किया था। दो महीने लगातार प्रयत्न करने पर भी वह उन्नाव की ग्रामीण जनता द्वारा पराजित किये जाने के कारण लखनऊ की ओर बढ़ने मे सफल नहीं हो सका और विवश होकर उसे बार-बार कानपुर

की ओर लौट आना पड़ा। किन्तु इस स्थल पर ध्यान देने योग्य बात यही है कि २५ जुलाई की जैसी अँगरेजी सेना थी वैसी सेना २० सितम्बर की न थी। उस समय की सेना मे और इस समय की सेना मे अर्थात् २५ जुलाई को लखनऊ जाने वाली अँगरेजी सेना मे और २० सितम्बर को लखनऊ जाने वाली अँगरेजी सेना मे बहुत अधिक अंतर था। उस समय जनरल हैवलाक अकेला ही लखनऊ की ओर बढ़ने के लिए कानपुर से चल पड़ा था किन्तु इस समय उसकी सहायता के लिए नील ऊटरम, कूपर और आयर जैसे चार-चार अनुभवी सेनापति भी उसके साथ थे। ढाई हजार अँगरेज, सिखों की एक पलटन और एक से एक अच्छी तोपे भी हैवलाक के साथ थीं।

ऐसी तैयारी के साथ कानपुर से चला था जनरल हैवलाक और इधर अवध के विचार और व्यवस्था ही दूसरे प्रकार की हो चुकी थी। वास्तव मे बात यह थी कि अवध के कई सरहदी ताल्लुकेदारों ने यह समझ लिया था कि कम्पनी की सेना ने सदा के लिए अवध का प्रान्त छोड़ दिया है और अपने इसी विचार के विश्वास पर उन सबों ने इतने ही समय के अन्दर अपने-अपने समस्त सैन्य-दल को लखनऊ भेज दिये थे। इतने पर भी उन्नाव, बशीरतगंज इत्यादि स्थानों पर अवध के निवासियों ने पहले के ही समान एक-एक पग जमीन पर कम्पनी की सेना का विरोध किया। परन्तु विवशता इस बात की थी कि लड़ने वाले तो सभी लखनऊ चले गये थे, शेष जो ग्राम-निवासी थे, वे बिना किसी नेता के लड़ रहे थे और उस दशा मे भी उसके पास हथियारो की भी बड़ी कमी थी। उन ग्राम-निवासियों का अकेलापन और हथियारों का अभाव घातक

सिद्ध होने लगा कि वे बेचारे ग्रामीण कम्पनी की इस विशाल और हथियारों से सुसज्जित तथा सुव्यस्थित सेना का सामना करने पर भी सफल न हो सके। परिणाम यह हुआ कि कम्पनी से विरोध करने वाले जमीदारों और ग्राम के निवासियों की लाशों से समस्त मार्ग पट गया। अँगरेजों ने जिस-जिस गाँव पर स्वाधीनता के हरे झण्डे को फहराते हुए देखा उस-उस गाँव मे आग लगा कर उसे राख का ढेर बना दिया। रास्ते मे जितनी नदियाँ पड़ती थी वे सब दोनों ओर के सैनिक के मरने-कटने और घायल होने के कारण रक्त के रंग से लाल हो गई। इस प्रकार मारते-काटते और आग लगाते हुए अर्थात् किसी न किसी प्रकार मार्ग को चीरते हुए २३ सितम्बर को कम्पनी की सेना लखनऊ के समीप आलमबाग नामक स्थान पर पहुँच गई। यहाँ आने पर हैवलाक ने साँस ली।

आलमबाग लखनऊ का वह स्थान था जहाँ अँगरेजों की सेना पहुँचने से पहले ही विप्लवकारियों की एक पलटन ठहरी थी। यही एक कारण था कि उस दिन अर्थात् २३ सितम्बर को दिन भर रात भर और अगले दिन भयानक रूप से घमासान संग्राम हुआ। ठीक ऐसे ही समय दिल्ली मे अँगरेजों का पुनः अधिकार हो जाने का समाचार लखनऊ पहुँचा और इसी समाचार से अँगरेजों के हौसले अधिक बढ़ गये।

हर्ष और विषाद के बीच मे रात बीतने लगी। इसके बाद २५ सितम्बर को प्रातःकाल हुआ। जब अँगरेजों की सेना ने यह समझ लिया कि आलमबाग के विप्लवकारी सैनिकों को जीत सकना लोहे के चने के तोड़ने से भी अधिक कठिन काम है तब

उन सबों ने आलमबाग से थोड़ी दूर हटकर कुछ चक्कर से रेजीडेन्सी की ओर बढ़ना चाहा। उनके उस अभिप्राय को समझ कर लखनऊ के विप्लवकारी सैनिकों ने मुड़कर उन सबों पर गोले बरसाने आरम्भ कर दिये। फिर भी अँगरेजी सेना गोलों की इस भयानक बौछार मे से वीरता के साथ निकलती हुई चारबाग के पुल तक आ पहुँची।

पुल के दूसरे पार लखनऊ का शहर था। यही एक कारण था कि चारबाग के पुल के ऊपर विप्लवकारियों और अँगरेजों के बीच भयंकर संग्राम हुआ। पुल के इस पार अँगरेजों की सेना थी और पुल के उस पार विप्लवकारियों की सेना थी। दोनों ही ओर से बड़े जोरों के साथ गोले बरसने लगे। दोनों ही ओर के हताहतों की संख्या अधिक ऊँची हो गई। इसी चारबाग के सग्राम मे जनरल हैवलाक का एक पुत्र भी बड़ी वीरता के साथ लड़ रहा था। अँगरेजों की ओर जानों की हानि बहुत अधिक हुई फिर भी अन्त मे अँगरेजी सेना अपनी और विपक्षी की लाशों के ऊपर से पुल को पार कर गई। पुल के दूसरी ओर जाने पर भी एक-एक कदम पर सग्राम होता रहा। इन्हीं संग्रामों मे से एक स्थान पर अर्थात् खास बाजार मे किसी विप्लवकारी की गोली जनरल नील की गर्दन मे आकर लगी और उस गोली के लगते ही जनरल नील तुरन्त धरती पर गिर पड़ा और परलोक को सिधार गया। जनरल नील की मृत्यु अँगरेजी सेना के लिए एक बहुत बड़ा दुर्भाग्य था किन्तु अंत में अँगरेजी सेना बढ़ते-बढ़ते रेजिडेन्सी के अन्दर पहुँच गई।

जैसे ही अँगरेजी सेना ने रजिडेन्सी के अन्दर प्रवेश किया वैसे ही रेजिडेन्सी के अन्दर जितने अँगरेज थे सभी के हर्ष की

सीमा न रही। विप्लवकारियों द्वारा ८७ दिन के लगातार घिरे रहने के कारण रेजिडेन्सी के सात सौ आदमी मर चुके थे। उस समय वहाँ लगभग पांच सौ अँगरेज और चार सौ भारतीय सैनिक मौजूद थे जिनमे से अनेक घायल थे और हैवलाक की सेना मे जो कानपुर से चली थी, रेजिडेन्सी तक पहुँचते पहुँचते ७२२ आदमी मारे जा चुके थे। फिर भी लखनऊ रेजिडेन्सी के हताश अँगरेजों की सहायता के लिए पहुँच जाना जनरल हैवलाक और उसके साथियों के लिए कुछ कम हर्ष की बात न थी किन्तु फिर भी एक बार पुनः जनरल हैवलाक को भयानक रूप से निराश होना पड़ा।

वास्तव मे बात यह थी कि जनरल हैवलाक और उनके साथियों के रेजिडेन्सी पहुँच जाने पर भी विप्लवकारियों द्वारा रेजिडेन्सी घिरा ही रहा। वह समाप्त नही हो सका बल्कि हैवलाक के रेजिडेन्सी मे पहुँचते ही लखनऊ की विप्लवकारी सेना ने फिर एक बार रेजिडेन्सी को उसी प्रकार चारों ओर से घेर लिया जिस प्रकार जनरल हैवलाक के आने से पहले घेर रखा था। परिणाम यह हुआ कि जनरल हैवलाक और उसकी सेना अब स्वय रेजिडेन्सी के अन्दर कैद हो गई और इस प्रकार रेजिडेन्सी के अन्दर कैदियों की संख्या पहले से कहीं अधिक बढ़ गई और लखनऊ का शेष नगर तथा अवध का समस्त प्रदेश पहले के ही समान स्वाधीन रहा।

इन्ही दिनों सर कालिन कैम्पबेल कम्पनी की सेनाओं का नया प्रधान सेनापति। (कमाण्डर-इन-चीफ) नियुक्त होकर १३ अगस्त को कलकत्ते पहुँचा। मद्रास, बम्बई, लंका और चीन से बुलाकर कलकत्ते मे नई-नई अँगरेजी पलटने जमा की गईं।

कासिम बाजार के कारखाने मे नई तोपे डाली गईं। इस प्रकार की तैयारी करने मे नवीन प्रधान सेनापति सर कालिन कैम्पबेल को दो महीने का समय लग गया पूर्ण रूप से तैयारी हो गई तब २७ अक्टूबर सन् १८५७ को जनरल हैवलाक और ऊटरम जैसे सेनापतियों तथा अन्य अँगरेजों को लखनऊ की रेजिडेन्सी वाली कैद से मुक्त कराने और लखनऊ को फिर से विजय करने के लिए कैम्पबेल स्वयं कलकत्ते से लखनऊ की ओर चल पड़ा। साथ ही साथ एक जहाजी बेड़ा भी कर्नल पावल और कप्तान पील के अधीन कलकत्ते से इलाहाबाद की ओर भेजा गया। कहा जाता है कि इस बेड़े को भी कई स्थानों पर विप्लवकारियों से लड़ना पड़ा और इन्हीं लड़ाइयों के स्थानों मे किसी एक स्थान पर कर्नल पावल मारा गया।

इधर ३ नवम्बर को प्रधान सेनापति सर कालिन कैम्पबेल अपने दल बल के साथ कानपुर पहुँचा गया। कानपुर पहुँचते ही कैम्पबेल ने अत्यन्त विशाल पैमाने पर सेना जमा करने का काम आरभ कर दिया और सेना जमा करने का यह काम विशेष रूप से ब्रिगेडियर जनरल ग्राएट के अधीन.और देख-रेख मे होने लगा। धीरे-धीरे कलकत्ते से चलने वाला जहाजी बेड़ा भी इलाहबाद होता हुआ कानपुर पहुँच गया। दिल्ली की अँगरेजी सेना इस समय तक विप्लवकारियों के चगुल से मुक्त हो चुकी थी इसीलिए जनरल ग्रेटहेड इस सेना के साथ दिल्ली से कानपुर तक मार्ग के विप्लवकारियों का दमन करता हुआ कानपुर पहुँच गया।

एक अँगरेज इतिहास लेखक लिखता है कि—"विप्लव के आरंभ से लेकर नवम्बर तक दिल्ली के पूर्व का समस्त प्रदेश

विप्लवकारियों के अधिकार मे था किन्तु उनके उस अधिकार से जनता को कोई कष्ट न पहुँचा था। लोग न केवल खेती बारी करते ही रहे बल्कि अनेक जिलो मे इतने विशाल पैमाने पर करते रहे, जिससे अधिक कि उन्होंने पहले कभी न की थीं। वास्तव मे सिवाय इसके कि विप्लवकारी अपनी आवश्यकताओं को पूरा कर लेते थे, वे देशवासियों पर किसी भी प्रकार का अन्याय करने का साहस न करते थे।"

किन्तु ऐसे शस्य-श्यामल, धन-धान्य से पूर्ण और सुखद प्रान्त को मानवता का विध्वसक जनरल ग्रेटहेड ने दिल्ली से कानपुर तक की यात्रा मे रास्ते के समस्त ग्रामो को जलाने और निरपराध जन-साधारण का संहार करने के निर्मम कार्यों को नष्ट करके अात्याचारियों के संसार मे जनरल नील को भी न्यून प्रमाणित कर दिया। इस छोर से उस छोर तक उनकी दानवी सेना ने ग्रामवासियो का पशुओं के समान शिकार किया। लोग प्राणो की रक्षा करने के लिए भागते फिरते थे और अँगरेज सैनिक उनका पीछा करके गोलियो से उनका शिकार किया करते थे। यदि कोई जगलों मे छिपता था तो उसे हिरण समझ कर मारते थे, यदि कोई पेड़ पर चढ़कर अपने प्राण छिपाता था तो उसे पक्षी समझ कर गोली का निशाना बनाते थे और यदि कोई पानी मे डुबकी लगाकर बचना चाहता तो उसे मछली समझ कर गोलियों से मारते थे। वे यह नहीं समझ रहे थे कि जिन मनुष्यों का वे संहार कर रहे थे वे भी उन्हीं के समान मनुष्य थे। युद्ध के जितने नियम है उनका भी उल्लंघन कर अँगरेज-सैनिक अपने को वीर समझने का प्रयत्न कर रहे थे! अपने अत्याचारी को ही वे अपनी सभ्यता का

आदर्श समझने लगे थे। पापी जितना पाप कर सकता है उससे भी अधिक पाप करना ही वे दानवी ऑंगरेज अपना धर्म मानते थे इसीलिए निरपराध और बेहथियार की जनता पर गोली चलाने मे उन्हें रंचमात्र भी क्लेश नही होता था। इतना कह कर हम इस दुःखद बृत्तान्त को यहीं से समाप्त करते है क्योंकि इससे अधिक हमे इस दुःख उत्पादक बृत्तान्त को विस्तार के साथ कहने की कुछ भी आवश्यकता नहीं है।

इस घटना के बाद का बृत्तान्त इस प्रकार का कहा जाता है कि सब से पहले जनरल ग्रान्ट अपनी नई विशाल सेना के साथ लखनऊ के आलमबाग मे पहुँचा। कानपुर और कालपी के बीच वाले स्थानों मे नाना साहब जो कुछ प्रयत्न कर रहे थे उसके सम्बन्ध मे हम इस स्थल पर कुछ नहीं कहना चाहते क्योंकि उसके लिए हम आगे चलकर कुछ कहना चाहेगे। इस सम्बन्ध में पाठक अधीर न होंगे, ऐसी आशा है। किन्तु इतना अवश्य ध्यान मे रखना होगा कि कैम्पबेल नाना साहब के प्रयत्नों को दबाने का उपाय सोचने लगा था इसीलिए उसने ऑंगरेजों को थोड़ी-सी सेना और कुछ सिखों की सेना तथा कुछ तोपों को जरनल विनढम के अधीन कानपुर की रक्षा के लिए छोड़ दिया था और स्वयं जनरल ग्राण्ट के पीछे-पीछे गगा पार कर ९ नवम्बर सन् १८५७ को आलमबाग पहुँच गया। यह लखनऊ के ऑंगरेजों के लिए विशेष संकट का समय था। विप्लवकारियों की व्यवस्था और युद्ध की प्रणाली इतनी सफल थी कि किसी भी व्यक्ति के लिए रेजिडेन्सी के कैदी ऑंगरेजों के साथ किसी भी प्रकार से पत्र व्यवहार तक कर सकना भी संभव न था। कई दिनों तक बाहर से आकर जमा होनेवाली ऑंगरेजी सेना यों ही

लखनऊ में पड़ी रही। समाचार पहुँचाना और फिर समाचार लाना, वह भी रेजिडेन्सी मे जाकर! बड़ा ही कठिन कार्य था। उपाय सोचते-सोचते अन्त मे उपाय निकाल लिया गया। कैम्पबेल ने कैबेना नामक एक अँगरेज का मुँह काला किया। जब उसका मुंह भली भाँति काले रंग मे रंग दिया गया तब उसे हिन्दुस्तानी कपड़े पहनाए गये और फिर रात मे अपने पक्ष के किसी एक हिन्दुस्तानी गुप्तचर के साथ रेजिडेन्सी मे उसे भेज दिया। किसी प्रकार अपने प्राणों को संकट मे डालकर वे दोनों रेजिडेन्सी में पहुँच गये। कैबेना ने वहाँ से लौटकर कैम्पबेल को रेजिडेन्सी के कैदी अँगरेजों का सारा हाल कह सुनाया।

कैबेना से समस्त वृत्तान्त को सुनकर १४ नवम्बर को केम्पबेल की सेना ने रेजिडेन्सी की ओर बढ़ना शुरू किया और इधर हैवलाक तथा ऊटरम ने भीतर से विप्लवकारी सेना पर भयानक रूप से आक्रमण कर दिया।

उधर रेजिडेन्सी के भीतर से लउनऊ के विप्लवकारी सैनिकों पर आक्रमण हुआ और उधर से कैम्पबेल की सेना ने बाहर की ओर से आक्रमण करना और दबाना आरंभ कर दिया। कम्पनी की सेना मे इस समय हैवलाक, ऊटरम, पील, ग्रेटहेड, दिल्ली प्रसिद्ध हडसन, होपग्राण्ट आयर और प्रधान सेनापति सर कालिन कैम्पबेल जैसे युद्ध विद्या-विशारद सेना-पतियों के अतिरिक्त इंग्लैण्ड और चीन आदि से आई हुई नई अँगरेजी पलटने तथा दिल्ली के अनुभवी अँगरेज, सिख और अन्य पंजाबी पलटने भी थीं। इतनी सब शक्ति के रहने पर भी कम्पनी की सेना अपनी सफलता की आशा पर संदेह ही करती थी।

१४ नवम्बर के संध्या-समय तक कैम्पवेल की सेना दिलखुश बाग पहुँची। १६ नवम्बर को इस सेना ने सिकन्दर बाग पर चढ़ाई की। इसके बाद ही एक अत्यन्त घमासान युद्ध हुआ और उस युद्ध मे अपनी अपनी जीत के लिये विप्लवकारी सैनिकों ने और कम्पनी की ओर से लड़नेवाले सिखों ने उत्तम प्रकार की वीरता दिखाई। सब से पहले एक सिख सिपाही ही गोलों और गोलियों की बौछार के अन्दर से सिकन्दरबाग की दीवार पर चढ़ता हुआ दिखाई पड़ा और उसके दीवार पर चढ़ते ही सामने से उसकी छाती मे एक गोली लगी और वह साहसी सिख सैनिक उसी समय वहीं ढेर हो गया। उसके ढेर होने के बाद जनरल कूपर और जनरल लम्सडेन भी उसी दिवार पर मारे गये किन्तु इतने सब क्रूर वीभत्स और भय-उत्पादक कृत्यों के होने पर भी अन्त मे अपने साथी सैनिकों की लाशों पर से कूदते हुए सिख और अँगरेज दोनों ही सिकन्दर बाग के भीतर प्रवेश कर गये। उन सब के प्रवेश करते ही कम्पनी की दूसरी सेना ने भी एक दूसरी ओर से बाग में प्रवेश किया। सिकन्दरबाग की हिन्दुस्तानी सेना और अँगरेजी सेना मे घमासान युद्ध होने लगा। सिकन्दरबाग की बिप्लवकारी हिन्दुस्तानी सेना ने जिस अनुपम और अद्भुत वीरता के साथ उस दिन सिकन्दरबाग की रक्षा की उसका वर्णन शब्दों द्वारा कर सकना संभव नहीं है। सकेत-मात्र कर देने के लिए हम इतिहास लेखक मालेसन के ही कथन को यहाँ पर उद्धृत कर देना उचित समझते हैं। इतिहास लेखक मालेसन लिखता है, “सिकन्दरबाग नाम के इस बाड़े पर अधिकार करने के लिए जो युद्ध हुआ वह अत्यंत रक्त-पातात्मक था और जीवन को हथेली पर रख कर लड़ा

गया। विप्लवकारियों ने अपने जीवन पर खेल कर पूर्ण वीरता के साथ सग्राम किया। हमारी सेना रास्ता चीरती हुई अन्दर चली गई, फिर भी संग्राम बन्द नही हुआ। प्रत्येक कमरे के लिए, प्रत्येक सीढ़ी के लिए और मीनारों के एक-एक कोने के लिए सग्राम होता रहा। न किसी ने किसी से दया की भिक्षा की आशा की और न किसी ने किसी पर दया की। अन्त मे जब आक्रमण करने वाली सेना ने सिकन्दरबाग, पर अधिकार कर लिया तब दो हजार से ऊपर विप्लवकारी सैनिकों की लाशों के ढेर उनके चारों ओर पड़े हुए थे। कहा जाता है कि जितनी सेना सिकन्दरबाग की रक्षा के लिए नियत थी उसमे से केवल चार आदमी अपनी जगह छोड़ कर निकल गये किन्तु इन चार का बाग छोड़ कर जाना भी सन्देहजनक है।"

इस प्रकार सिकन्दरबाग के संग्राम का वृतान्त है और सभी यह कहते है कि लखनऊ का सिकन्दरबाग उस दिन वास्तविक रक्त का विशाल सरोवर बना हुआ था। सिकन्दरबाग के संग्राम के बाद भी २४ घंटे तक दिलखुशबाग आलमबाग और शाहनजफ मे घमासान संग्राम होते रहे। अन्त मे नौ दिन के लगातार संग्राम के बाद २३ नवम्बर को सर कालिन कैम्पबेल की सेना और रेजिडेन्सी के भीतर की अॅगरेजी सेना दोनों ही एक दूसरे से मिल गईं। कहा जाता है कि यदि दिल्ली का पतन न हुआ होता तो अॅगरेजों के हौसले न बढ़ते और न विप्लवकारी नेताओं का उत्साह भंग होता। अतएव दिल्ली का पतन ही अवध के पतन का मुख्य कारण बन गया।

लखनऊ का समस्त शहर उस समय रक्त के सागर में तैरता हुआ दिखाई पड़ रहा था। रेजिडेन्सी के अॅगरेज कैद से छुटकारा

पा गये किन्तु फिर भी समस्त शहर अभी तक विप्लवकारियों के अधिकार मे था। इन्हीं दिनों अर्थात् २४ नवम्बर को जनरल हैवलाक की मृत्यु हो गई। सर कालिन कैम्पबेल ने रेजिडेन्सी को छोड़कर आलमबाग मे अपनी सेना और तोपों को जमा किया, ऊटरम को वहाँ का सेनापति नियुक्त किया, और लखनऊ शहर पर आक्रमण करने की तैयारियाँ करना आरम्भ कर दिया किन्तु नाना साहब के प्रसिद्ध मराठा सेनापति तात्या टोपे द्वारा कानपुर की अँगरेजी सेना के हटाये जाने के समाचार से वह विचलित हो गया और लखनऊ मे ऊटरम को छोड़ कर सीधा कानपुर के लिए चल पड़ा।

तात्या टोपे और कैम्पबेल के संग्राम

जिस प्रकार रक्त के समुद्र मे तैरता हुआ दिखाई देने वाला लखनऊ शहर सर कालिन कैम्पबेल के आक्रमण से थोड़े से समय के लिए बच गया उसी प्रकार वहाँ की घटनाओं का वर्णन भी रुका जा रहा है क्योंकि हमारा घटनाचक्र ही कुछ इसी प्रकार का होता-सा चला आ रहा है। लखनऊ की रेजिडेन्सी को अपने अधिकार मे कर लेने के बाद कैम्पबेल की इच्छा थी कि समस्त विप्लवकारियों के अधिकार से लखनऊ शहर को छीनकर कम्पनी के अधिकार मे कर लिया जाता और इसीलिए ऊटरम को वहाँ का सेनापति बना कर उसने अपनी सेना और तोपों को आलमबाग मे जमा करना आरम्भ कर दिया था किन्तु अपनी ओटी होत नहिं, हरि ओटी तत्काल' वाली कहावत ही चरितार्थ हो गई। यदि इस कहावत को चरितार्थ न होना होता तो कैम्पबेल को लखनऊ मे समाचार न मिलता कि नाना साहब के मराठा सेनापति तात्या टोपे ने कानपुर पर आक्रमण करके उसे अपने अधिकार मे कर लिया है। ऐसी दशा मे जब कैम्पबेल ही लखनऊ से कानपुर की ओर बढ़ने को तैयार हो गया तब हमे भी लखनऊ को छोड़ कर और जिस समय की घटनाओं का वर्णन कर रहे थे उस समय से कुछ समय थोड़ा पीछे हटकर तात्या टोपे और सर कालिन कैम्पबेल के युद्धों का वर्णन करना होगा।

पाठकों को यह स्मरण होगा ही कि लार्ड कैनिंग ने उत्तरी भारत के विप्लव का दमन करने के लिए इलाहाबाद को अत्यन्त

महत्त्वपूर्ण स्थान समझ लिया था इसीलिए विप्लव के शान्त हो जाने के समय तक के लिए उसने इलाहाबाद को ही अपनी राजधानी नियत किया था। इतना ही नहीं इलाहाबाद को राजधानी नियत करने से पहले ही वह एक विशाल सेना के साथ जनरल नील को बनारस की ओर रवाना कर चुका था। जनरल नील और उसके सैनिकों ने कितने गॉव जलाये, कितने स्त्रियों और कितने बच्चो की हत्याएँ की तथा कितने प्रकार से क्रूर यातनाएँ दे-देकर निरपराध जनता के प्राण लिये, इन सब का वर्णन हम कर ही चुके है और यह भी बतला चुके है कि जनरल नील बनारस होता हुआ किस प्रकार इलाहाबाद आया तथा उसने कितने अत्याचार इलाहाबाद मे भी किये। यही अत्याचारी जनरल नील इलाहाबाद से कानपुर भी गया था और उसकी सहायता के लिए जून के अन्त मे इलाहाबाद पहुॅचने वाला जनरल हैवलाक भी कानपुर की ओर चल पड़ा था। वह भी अत्याचार करने और गॉव को जलाने वाले कामों मे जनरल नील से भी बढ़कर था।

१० जुलाई को जनरल हैवलाक अपनी विशाल सेना के साथ कानपुर के समीप पहुॅच गया था। नाना साहब ने स्वय सेना लेकर हैवलाक का सामना किया था। कदाचित् इन सब घटनाओं को पाठक भूले न होंगे। उसी जनरल हैवलाक की विशाल सेना से पराजित होकर नाना साहब अपने भाई बालासाहब, भतीजे रायसाहब, सेनापति तात्या टोपे, घर की स्त्रियों और खजाने के साथ १७ जुलाई को सबेरे बिठूर से निकल कर फतहपुर की ओर चला गया था और कुछ लोग समझने लगे थे कि वह फतहगढ़ की ओर चला गया है।

कुछ भी हो, यद्यपि नाना साहब जनरल हैवलाक की विशाल सेना से पराजित हो चुका था और यह भी समझ चुका था, कि हैवलाक के सैनिक अधिक युद्ध-विद्या मे कुशल है फिर भी वह हतोत्साह नहीं हुआ था, इसलिए जनरल हैवलाक पर फिर से आक्रमण करने के लिए वह सेना जमा करने लगा था। सब से पहले उसने अपने प्रसिद्ध मराठा सेनापति तात्या टोपे को शिवराजपुर भेजा।

शिवराजपुर पहुॅचकर तात्या टोपे ने कम्पनी की ४२ नम्बर पलटन को अपनी ओर कर लिया। इसी पलटन की सहायता से उसने फिर एक बार बिठूर पर जाकर अधिकार जमा लिया था। इतना ही नहीं, जनरल हैवलाक की जिस विशाल सेना के सामने नाना साहब को एक बार पराजित होना पड़ा था उसी विशाल सेना पर भी आक्रमण कर दिया और उस समय जब कि जनरल हैवलाक अपने दल-बल के साथ लखनऊ जाना चाहता था। परिणाम यह हुआ कि तात्या टोपे के आक्रमण से जनरल हैवलाक विचलित सा हो गया और उसने लखनऊ जाने का विचार को छोड़ दिया और आगे न बढ़ कर पीछे ही हट जाने मे अपना और अपने सैनिकों का हित समझ लिया किन्तु बदला लेने के भाव को न छोड़ सका।

नाना साहब के सेनापति तात्या टोपे से बदला लेने की भावना को जनरल हैवलाक अपने मन को उसी प्रकार सेता रहा जिस प्रकार पक्षी अपने घोंसले मे बैठकर अडे सेते रहते है। तात्या टोपे पर आक्रमण करने के जितने भी उपाय वह सोचता था, सभी व्यर्थ सिद्ध होने लगे थे। अन्त मे १६ अगस्त का दिन आया। किसी प्रकार मन मे साहस का संचार करते हुए उसने

अपनी सेना को तात्या पर आक्रमण करने से लिए प्रोत्साहित किया। उससे उचित प्रोत्साहित होकर उसी दिन उसकी सेना ने तात्या टोपे और उसकी सहायक सेना पर भयानक रूप से अचानक आक्रमण कर दिया। उस अचानक आक्रमण से तात्या टोपे को अपने आप सम्हाल सकने का भी अवसर न मिला, सहायक सैनिकों को कौन सम्हालता! फिर भी थोड़ी देर तक संग्राम हुआ। दोनों ही पक्ष के सैनिक हताहत हुए और अंत मे १६ अगस्त को ही जनरल हैवलाक की सेना ने तात्या टोपे की सेना पर विजय प्राप्त कर ली। परिणाम यह हुआ कि तात्या टोपे को अपनी बची हुई सेना के साथ फिर बिठूर (कानपुर) से भाग जाना पड़ा। बिठूर से भाग कर वह नाना साहब के पास फतहपुर पहुँचा और आदि से लेकर अन्त तक अपने जय और पराजय के समाचारों को कह सुनाया।

अपने सेनापति तात्या टोपे के मुंह से युद्ध के समस्त वृत्तान्तों को सुनकार भी नाना साहब स्थिर बना रहा। इसके बाद नाना साहब के परामर्श से तात्या टोपे गुप्तरीत से फतहपुर को छोड़ कर सीधा ग्वालियर पहुँच गया। ग्वालियर-राज्य की सीमा मे पहुँचते ही उसमे पुनः वीरता के भाव स्वाभाविक ढग से उत्पन्न होने लगे। उसे यह विश्वास होने लगा कि वह अपने शत्रु अँगरेजों को अवश्य पराजित कर सकेगा। भावावेश के कारण नही, बल्कि ग्वालियर-राज्य की परिस्थिति का अवलोकन करने पर उसकी ऐसी धारणा होने लगी थी। अपनी इसी धारणा को लेकर वह सफलता प्राप्त करने के उपायों को सोचने लगा। सोचते सोचते उसका उदास मुख-मडल सहसा हर्ष उत्पन्न होने के कारण प्रसन्न हो गया। वह चुपचाप प्रसन्नता के भावों के साथ

अपने स्थान से उठ पड़ा और ग्वालियर के निकट मुरार की जो छावनी थी, उसमे तुरन्त प्रवेश कर गया।

जिन दिनों तात्या टोपे मुरार की छावनी मे गया था उन्हीं दिनों उस छावनी मे सीधिया की विशाल सेना थी और उस सेना मे पैदल पलटनें सवार तोपखाना था। तात्या टोपे ने जैसे ही यह सब देखा वैसे ही वहाँ के सैनिकों और सेना के अफसरों से मिला। अँग्रेजों के अधिकार से भारत को मुक्त कराना ही उस समय के प्रत्येक सैनिक का धर्म था ऐसा उसने समझाया। इसके साथ ही साथ अपने सभी प्रयत्नो और हार-जीत के युद्धों का भी वर्णन किया। नाना साहब आदि की बाते भी कह सुनाईं। ॲगरेजों के अत्याचारों का भी वर्णन किया। देशी राजाओं के सम्बन्ध मे भी अपने विचार प्रकट किये। परिणाम यह हुआ कि तात्या टोपे ने ग्वालियर के निकट वाली मुरार की छावनी के समस्त सैनिको को विप्लव की ओर तोड़ लिया। वे सब सैनिक तात्य टोपे की बातों से प्रभावित हो गये और उसके आदेश का पालन करने मे ही अपना गौरव समझने लगे।

इस प्रकार उन सब सैनिकों को प्रभावित कर और अपनी भावनओं के अनुकूल बनाकर उन सबों के साथ तात्या टोपे मुरार से कालपी आया। कालपी मे आते ही वह रुक गया। कालपी का किला यमुना के उस पार था और वहाँ से कानपुर ४६ मील की दूरी पर था। इसलिए युद्ध की दृष्टि से कालपी का किला अत्यन्त महत्वपूर्ण स्थान पर था। यही एक कारण था कि ९ नवम्बर को तात्या टोपे ने कालपी के किले को अपने

अधिकार मे कर लिया और नाना साहब आदि को भी इसकी सूचना भेज दी।

अब नाना ने कालपी को ही अपने विप्लवकारियों का केन्द्र बनाया। बालासाहब को वहाँ पर नियुक्त कर दिया गया और कालापी से सेना लेकर तात्या टोपे फिर एक बार कानपुर की ओर बढ़ा। इसमे सन्देह नहीं की धैर्य पराक्रम, शीघ्रता और अन्य भारतवासियों को अपने पक्ष मे करने की अद्भुत शक्ति मे तात्या टोपे अपने समय मे अद्वितीय था।

जनरल विनढम उन दिनों कानपुर में ही था। १९ नवम्बर के दिन सेनापति तात्या टोपे ने विनढम को घेर कर उसके पास बाहर से रसद आदि का पहुँच सकना असभव कर दिया। विनढम अपनी सेना के साथ तात्या टोपे से यद्ध करने के लिए कानपुर से निकल पड़ा। २६ नवम्बर को पांडु नदी के ऊपर तात्या और विनढ़म की सेनाओ मे घमासान युद्ध हुआ। कहा जाता है कि पहली बार मे तात्या टोपे का ही अधिक नुकसान हुआ किन्तु मराठा सेनापति तात्या टोपे की योग्यता को स्वीकार करते हुए इतिहास लेखक मालेसन लिखता है—

“विद्रोही सेना का सेनापति मूर्ख न था। विनढम ने उसे जो हानि पहुँचाई उससे डर जाने के स्थान मे वह अँगरेज सेनापति की दुर्बलता को भली भाँति समझ गया। ××× तात्या टोपे ने उस समय विनढम की स्थिति और उसकी आवश्यकताओं को इतनी अच्छी तरह पढ़ लिया जिस तरह कोई खुली किताब को पढ़ता है। तात्या मे एक सच्चे सेनापति के स्वाभाविक गुण मौजूद थे। उसने विनढम की इन दुर्बलताओं से लाभ उठाने का इरादा कर लिया।”

दूसरे दिन तात्या टोपे की सेना ने विनढम की सेना को तीन ओर से घेर लिया और फिर पीछे हटाना आरंभ कर दिया। यहाँ तक कि बढ़ते-बढ़ते आधा कानपुर सेनापति तात्या टोपे के अधिकार मे आ गया। इसके बाद तीन दिन के लगातार सग्राम के पश्चात् कानपुर का समस्त नगर फिर एक बार तात्या टोपे के अधिकार मे आ गया और विनढम की सेना को हार पर हार खाकर मैदान से भाग जाना पड़ा। अँगरेजी सेना के अनेक अफसर भी इन तीन दिनों के सग्राम मे मारे गए।

तीसरे दिन की लड़ाई और अँगरेजी सेना की पराजय के सम्बन्ध का वर्णन करते हुए एक अँगरेज अफसर ने अपने किसी पत्र मे लिखा था कि, "आज के युद्ध का बृत्तान्त पढ़कर आपको आश्चर्य होगा। इससे आपको मालूम होगा कि किस प्रकार अँगरेजी सेना अपनी विजय-पताकाओं, अपने आदर्श वाक्यों और अपनी प्रसिद्ध वीरता के साथ पीछे हटा दी गई। इन भारतवासियो ने, जिन्हे हम तुच्छ समझ रहे हैं, और चिढ़ाते रहे है, अँगरेजी सेना से उसका कैम्प, उसका सामान और मैदान सब कुछ छीन लिया! शत्रु को अब यह कहने का अधिकार प्राप्त हो गया है कि फिरंगी पिट गये। ये पिटे हुए फिरंगी अपनी खाइयों मे लौट आये, उनके खेमे उलट दिये गए, असबाब छीन लिया गया, सामान ले लिया गया, ऊँट, हाथी, घोड़े, और नौकर उन्हें छोड़ कर भाग गये। यह समस्त घटना अत्यन्त शोकजनक और अपने को ही लज्जित करने वाली है।"

कानपुर की अँगरेजी सेना के इसी पराजय से सर कालिन कैम्पबेल विशेष रूप से चिन्तित हो गया और समस्त लखनऊ

शहर पर अधिकार कर लेने के विचार को छोड़कर तुरन्त लखनऊ से कानपुर की ओर उसे चल देना पड़ा था। कैम्पबेल के लखनऊ छोड़कर कानपुर की ओर आने के समाचार को पाते ही तात्या टोपे ने उसको मार्ग मे ही रोकने के लिए गंगा पर बने हुए पुल को ही तोड़ दिया और गगा के ऊपर तोपे लगा दीं। फिर भी कैम्पबेल तात्या टोपे की तोपों से बचकर और एक दूसरे ही स्थान से गंगा को पार कर ३० नवम्बर को कानपुर के निकट पहुँच गया। इस समय तक नाना साहब भी अपने सेनापति तात्या टोपे की सहायता के लिये कानपुर पहुँच गया था।

इतिहास लेखक मालेसन लिखता है कि—"सेनापति की हैसियत से तात्या टोपे की स्वाभाविक योग्यता बहुत ही अधिक थी।" गंगा के किनारे ही उसने कैम्पबेल की सेना को जाकर घेर लिया। पहिली दिसम्बर से छः दिसम्बर तक अत्यन्त घमासान सग्राम होता रहा। दोनो ओर की सेनाओं की सख्या लगभग बराबर ही थी। तात्या टोपे की दाहिनी ओर ग्वालियर की सेना थी। अंत मे यह सेना अँगरेजों और सिखों के सयुक्त आक्रमणों से घबरा कर पीछे हटने लगी। मैदान सर कालिन कैम्पबेल के हाथ रहा। कानपुर के नगर पर फिर से कम्पनी का अधिकार हो गया।

तात्या टोपे अपनी रही-सही सेना को लेकर कालपी की ओर चला गया। सर कालिन कैम्पबेल ने इस बार बिठूर के महलों को गिरा कर जमीन के बराबर चौरस कर दिया अर्थात् उनके नाम व निशान तक मिटा दिये।

अवध और रुहेलखण्ड में दमन

दिल्ली के पतन के बाद विप्लवकारियों की अधिकांश सेना अवध और रुहेलखण्ड मे इधर-उधर जमा होती जा रही थी। सच कहा जाय तो भारतवर्ष का यही प्रदेश इस समय विप्लव का सबसे अधिक महत्वपूर्ण गढ़ बनता जा रहा था। विप्लव-कारियों से पूर्ण इस प्रदेश को फिर से अपने अधिकार मे लाने के लिए विजय करने से पूर्व आवश्यक था कि अवध के पश्चिम मे दिल्ली से पूर्व के समस्त इलाके को पूर्ण रूप से अपने अधीन कर लिया जाय।

इस आवश्यकता की पूर्ति के लिए कई अँगरेज सेनापति पृथक् पृथक् सैन्य दल लेकर दिल्ली, कानपुर इत्यादि स्थानों से भिन्न-भिन्न दिशाओं की ओर निकल पड़े। ग्रामीण जनता को अपने अधीन करने और उन पर अपने बल का आतंक जमाने के लिए इन अँगरेज सेनापतियों ने स्थान-स्थान पर उसी प्रकार के उपायों का उपयोग किया जिस प्रकार के उपायों का उपयोग नील, हैवलाक और ग्रेटहेड जैसे अँगरेज सेनापतियों ने इनसे पूर्व किया था। दमन के इन समस्त प्रयत्नों में इटावा और फर्रुखा-बाद की घटनाएँ विशेष वर्णन करने योग्य है।

जनरल वालपोल थोड़ी सी सेना और कुछ तोपों को अपने साथ लेकर १८ दिसम्बर को कानपुर से कुछ उत्तर दिशा की ओर बढ़ा। रास्ते मे विप्लवकारियों के साथ कई स्थानों मे छोटे

मोटे संग्राम हुए। इनमे इटावे के समीप मार्ग के ही ऊपर एक छोटा सा मकान था जिसकी छत पर और दीवारों के अन्दर सूराखों मे बन्दूके लगी हुई थी। उस मकान के भीतर केवल २५ विप्लवकारी भारतीय सैनिक थे और बालपोल के साथ एक सुशिक्षित, सुव्यवस्थित तथा अस्त्र-शस्त्रों से सुसज्जित एक सेना और कई तोपे थीं। इतना सब होते हुए भी इन २५ विप्लवकारी भारतीय सैनिकों ने बिना युद्ध किये वालपोल को एक कदम आगे बढ़ने न दिया। उनके पराक्रम और उनकी वीरता के सामने अँगरेज सेनापति वालपोल को भी झुक जाना पड़ा। इस-लिए उसने उन सबों से सुलह करना चाहा किन्तु उन वीरो ने उसके इस प्रस्ताव को स्वीकार न किया। जब सुलह का प्रस्ताव स्वीकार न हुआ तब वालपोल को युद्ध करना ही पड़ा। सब से पहले उन सबों को तोपों से भयभीत करने का प्रयत्न किया गया किन्तु वह सब प्रयत्न अपने उद्देश्य मे सफल न हो सका क्योंकि वे सब विप्लवकारी जिस स्थान पर थे उसी स्थान पर डटे रहे। इटावे के इन २५ वीरों और वहाँ की शेप घटना के विषय मे इतिहास लेखक मालेसन लिखता है—

"ये लोग गिनती मे थोड़े-से थे, इनके पास केवल साधारण बन्दूकें थीं किन्तु उनके अन्दर एक उत्साह था जो आततायियों के उत्साह से भी कहीं अधिक भयकर था—वे अपने पवित्र उद्देश्य के लिए शहीद होने का दृढ़ सकल्प कर चुके थे। × × × उनके मकान के भीतर हाथ से बम फेंके गये। बाहर भूसा जला कर उन लोगों को धुएँ मे घोट देने का प्रयत्न किया गया, जिससे वे निकल आवें किन्तु सब व्यर्थ हुआ। सूराखों के भीतर से विप्लवकारी अपने आक्रमणकारियों के ऊपर लगातार और बड़ी

शीघ्रता से आग बरसाते रहे। इन्होंने उन्हे तीन घण्टे तक रोक रखा। अत मे उस मकान को उड़ा देने का निश्चय किया गया। ××× मकान के उड़ने से उनके रक्षकों को जिस यश की अभिलाषा थी, वह उन्हे प्राप्त हो गई। वे सब शहीद हो गये और सब के सब उसी मकान के खॅडरों मे दफन हो गये।"

इधर फर्रुखाबाद के नवाब ने अपनी स्वाधीनता का एलान कर रखा था इसलिए अँगरेजो की ओर से यह निश्चय हुआ कि तीन ओर से वालपोल, सीटन और स्वय कैम्पबेल के अधीन तीन सैन्यदल पहुॅचकर फर्रुखाबाद की राजधानी फतेहगढ़ को घेर ले। जैसा निश्चय हुआ था उसी के अनुसार कार्य भी किया गया। परिणाम यह हुआ कि फतहगढ़ मे कई दिनों तक घमासान युद्ध होता रहा। रक्त से धरती को रंग देने वाले युद्धों के हो जाने पर अत मे १४ जनवरी सन् १८५८ को अगरेजो ने फतहगढ़ को जीतकर अपने अधिकार मे कर लिया और साथ ही साथ वहाॅ के नवाब को भी कैद कर लिया गया।

इतिहास लेखक फार्ब्स मिचेल लिखता है कि—"फर्रुखाबाद के मुसलमान नवाब को फॉसी देने से पहले उसके समस्त शरीर पर सुअर की चर्बी मल दी गई थी।"

नाना साहब का एक मुख्य सेनापति नादिरखॉ भी इसी स्थान पर गिरफ्तार हुआ और फॉसी पर चढ़ा दिया गया। इतिहास लेखक चार्ल्स बाल लिखता है कि—"फॉसी पर चढ़ते समय नादिर खॉ ने हिन्दुस्थान के लोगों को कसम दी कि तलवार खीचकर और अॅगरेजों को बाहर निकाल कर अपनी स्वधीनता को फिर से स्थापित करें।"

इन्हीं दिनों के आस-पास की बात है कि राजधानी दिल्ली के

अन्दर फिर से नई जान कुछ अंशों मे दिखाई पड़ने लगी। सहसा ऐसी अफवाह उड़ी कि नाना साहब सम्राट बहादुरशाह को कैद से छुटकारा दिलाने के लिए दिल्ली की ओर चला आ रहा है। इस सम्बन्ध मे चार्ल्स बाल लिखता है कि—"इस अफवाह को सत्य मान कर बहादुरशाह के अँगरेज पहरेदारों को गुप्त आज्ञाएँ इस आशय की दे दी गई कि यदि वास्तव मे नाना दिल्ली के समीप पहुँचने लगे तो तुम लोग तुरन्त बूढ़े सम्राट को गोली से उड़ा देना।"

दिल्ली से इलाहाबाद तक यमुना नदी के किनारे का प्रदेश प्रायः सब फिर अँगरेजों के अधिकार मे आ चुका था। इस लिए कैम्पबेल के लिए अब रुहेलखड अवध को जीतना ही शेष रह गया था। इस समय सभी ओर से देखने पर लखनऊ ही विप्लव का सबसे अधिक प्रधान केन्द्र था। १६ फर्वरी सन् १८५८ को कैम्पबेल फिर कानपुर से लखनऊ की ओर बढ़ा। लखनऊ की इस यात्रा के समय उसके साथ २७००० पैदल, लगभग ५०० सवार और १३४ तोपे थी। अँगरेज इतिहास लेखक लिखते है कि इतनी विशाल सेना अवध के मैदानों मे इससे पूर्व और कभी दिखाई न दी थी। इस सेना मे अधिकतर अँगरेज, सिख और कुछ अन्य पंजाबी थे। रसल नाम का एक अँगरेज लिखता है कि इस सेना ने मार्ग मे अनेक गाँव के गाँव बारूद से उड़ा दिये। किन्तु इतने पर भी यह विशाल सेना लखनऊ को फिर से जीतने के लिए प्रर्याप्त नहीं समझी गई। पश्चिम की ओर से यह विशाल सेना और पूर्व की ओर से एक विशाल गोरखा सेना सेनापति जंगबहादुर के अधीन लखनऊ की ओर शीघ्रता के साथ बढ़ी चली आ रही थी।

विप्लव के आरम्भ मे ही अँगरेजों ने नैपाल के दर्बार से सहायता के लिए प्रार्थना की थी। इसके कुछ समय पूर्व अर्थात् नैपाल युद्ध के समय अवध के नवाब ने कम्पनी को लगभग ढाई करोड़ रुपये की सहायता दी थी। उस समय अवध के नवाब द्वारा कम्पनी को दी गई सहायता ही संभव है कि नैपालियों के दिलों मे खटकती रही हो और अवध के निवासियों से बदला चुकाने का उन्हें यह एक उचित अवसर दिखाई दिया हो।

सब से पहले अगस्त सन् १८५७ मे तीन हजार गोरखा सेना पूर्व मे आजमगढ़ और जौनपुर उतर आई किन्तु विप्लवकारियों के नेता मुहम्मद हुसेन, बेनीमाधव और नादिर खॉ ने सफलता के साथ इस सेना से लड़कर पूर्वीय अवध की रक्षा की। लिखा है कि उसके बाद जगबहादुर और अँगरेजों मे कुछ विशष समझौता हो गया।

२३ दिसम्बर सन् १८५७ को ९००० नई गोरखा सेना जगबहादुर के अधीन पूर्व की ओर से लखनऊ की ओर बढ़ी। इसके अतिरिक्त उसी ओर से दो और सैन्यदल कम्पनी की सेना के एक जनरल फ्रैंक्स के अधीन और दूसरी जनरल रोक्राफ्ट के अधीन लखनऊ की ओर पूर्व उत्साह के साथ बढ़े। २५ फरवरी सन १८५८ को ये तीनों विशाल सैन्यदल घाघरा नदी को पार कर अम्बरपुर पहुँचे।

अम्बरपुर मे एक छोटा किला था, जिसमे केवल ३४ भारतीय विप्लवकारी सिपाही थे। इन मुट्ठी भर भारतीय सिपाहियों ने नैपाल की विशाल सेना को जो आगे थीं, युद्ध के लिए आमन्त्रित किया। नैपाली सेना ने अम्बरपुर के उस नन्हे से किले पर आक्रमण किया। उनके उस प्रकार के धर्मयुद्ध विरोधी आक्रमण

का परिणाम यह हुआ कि वे सब ३४ भारतीय वीर अपने देश के दुश्मनों से लड़ते-लड़ते मर गये किन्तु न तो पीठ दिखाई और न अपने स्थान से डिगे ही।

कहा जाता है कि अम्बरपुर के इस युद्ध मे नैपाली सेना के भी सात सैनिक मरे और ४३ सैनिक घायल हुए। इसके बाद अम्बरपुर के किले पर नैपाली सेना का अधिकार हो गया। लखनऊ की ओर बढ़ती हुई शत्रु सेनाओं का समाचार पाकर लखनऊ दर्बार ने गफूरबेग को जनरल फ्रैंक्स से युद्ध करने और उसे रोकने के लिए कुछ सेना देकर तुरन्त भेजा। सुलतानपुर आदि स्थानो पर अनेक भयानक संग्राम हुए। अन्त मे नैपालियों और अँगरेजों की यह सम्मिलित विशाल सेना पूर्वीय अवध पर विजय प्राप्त करती हुई आगे की ओर बढ़ी। मार्ग मे एक दुर्ग दौरारे का था। अपने साथ के सैन्यदल सहित जनरल फ्रैंक्स इस दौरारे के दुर्ग को विजय करने के लिए आगे बढ़ा किन्तु बिना समझे-बूझे दुर्ग को विजय करने के लिए बढ़ने का यह फल हुआ कि जनरल फ्रैंक्स का सारा अभिमान चकनाचूर हो गया। इस दौरारे के दुर्ग के मैदान मे घमासान युद्ध हुआ कि अँगरेज सेनापति को अपनी छठी का दूध याद आने लगा। उसके सभी सैनिक युद्ध करते-करते हताश हो गये और अन्त मे दौरारा से फ्रैंक्स को पराजित होकर पीछे हट जाना पड़ा और उसके इस पराजय के समाचार से कैम्पबेल उस पर विशेष रूप से क्रुद्ध और असन्तुष्ट हुआ। उसने उसे दड देना निश्चित् किया और तुरन्त उसकी पदवी कम कर दी। दौरारे के युद्ध के बाद दूसरी ओर से चक्कर खाकर कम्पनी की सेना लखनऊ जीतने की आशा लेकर आगे की ओर बढ़ती रही।

इन सब घटनाओं और छोटे-बड़े सभी प्रकार के युद्धों के बाद ११ मार्च सन् १८५८ को पश्चिम की ओर से कैम्पबेल की विशाल सेना और पूर्व की ओर से गोरखा और अॅगरेजी सेनाएँ सब लखनऊ के समीप आकर मिल गईं। लखनऊ शहर के अन्दर नवम्बर सन् १८५७ से मार्च १८५८ तक स्वाधीनता का सग्राम लगातार हो रहा था। अवध की अधिकांश जनता और वहाँ के लगभग सभी राजा, जमीदार और ताल्लुकेदार अदम्य उत्साह के साथ स्वाधीनाता के इस संग्राम मे भाग ले रहे थे। लार्ड कैनिंग ने सर जेम्स ऊटरम के नाम एक पत्र मे लिखा है कि—"जो राजा और ताल्लुकेदार इस युद्ध मे भाग ले रहे थे, उनमे से कम से अनेक ऐसे थे जिन्हे स्वयं अॅगरेजी राज्य से हानि के स्थान मे लाभ हुआ था फिर भी ये राजा और ताल्लुकेदार अॅगरेजी-राज्य के इस समय विकट शत्रु थे और नवाब बिरजिस कद्र और बेगम हजरतमहल के लिए अपने सर्वस्व की आहुति दे देने मे भी अपना सौभाग्य समझते थे।" इस सम्बन्ध मे इतिहास लेखक होम्स लिखता है—

"अनेक राजा और छोटे-छोटे सरदार ऐसे थे जो प्रत्येक समय अॅगरेज सरकार के बन्धनों से अपने आपको मुक्त करने के लिए चिन्तित रहते थे। उन्हे स्वय कोई विशेष हानि न पहुँची थी, किन्तु अॅगरेजी सरकार का अस्तित्व ही उन्हें नित्य यह याद दिलाता रहता था कि हम एक पराजित जाति के मनुष्य हैं। ××× भारत की लाखों जनता के दिलों मे विदेशी सरकार की कोई सच्ची राजभक्ति न थी। ××× विप्लव के दिनों मे भारत के निवासियों के व्यवहार का ठीक-ठीक अन्दाजा करने के लिए यह याद रखना आवश्यक है कि इन लोगों का

हमारी जैसे एक विदेशी सरकार की ओर उस प्रकार की राजभक्ति अनुभव करना, जो राजभक्ति कि केवल देशभक्ति के साथ-साथ ही चल सकती है, मानव-प्रकृति के प्रतिकूल होता। ××× उनमे एक भी मनुष्य ऐसा न था जिसे यदि एक बार यह विश्वास हो जाता कि अँगरेजी-राज्य को उखाड़ कर फेंका जा सकता है, तो वह हमारे विरुद्ध न हो जाता !"

रसल का कथन है कि "अवध के निवासी अपने देश और बादशाह के लिए देशभक्ति के भाव से प्रेरित होकर लड़ रहे थे।"

जिस अहमदशाह के सम्बन्ध मे हम इससे पूर्व बहुत कुछ लिख आये हैं वही अहमदशाह लखनऊ नगर के भीतर विप्लव का सब से योग्य नेता था। उसकी योग्यता के सम्बन्ध मे इतिहास लेखता होम्स लिखता है—"फैजाबाद का मौलवी अहमदुल्लाह (अहमदशाह) एक ऐसा व्यक्ति था जो अपने भावों और अपनी योग्यता दोनों की दृष्टि से एक महान् आन्दोलन को चला सकने और एक विशाल सेना का नेतृत्व ग्रहण करने, दोनों के योग्य था।"

इतने योग्य नेता अहमदशाह के रहने पर भी दुर्भाग्य के कारण नित्य नये रूप से अँगरेज प्रबल होने लगे। अवध की भूमि और अवध की जनता के दुर्भाग्य से लखनऊ के अन्दर भी धीरे-धीरे अव्यवस्था का सूत्रपात होने लगा था। जिस प्रकार दिल्ली की सेना मे बख्तखाँ के विरुद्ध कुछ लोग खड़े हो गये थे उसी प्रकार लखनऊ की सेना मे भी अहमदशाह के विरुद्ध कुछ लोग प्रतिस्पर्धा अनुभव करने लगे थे। इसी लिए ऐसे

सङ्कट के समय लखनऊ की सेना मे अहमदशाह की आज्ञाओं का पालन यथेच्छ रूप से नहीं हो रहा था।

कैम्पबेल के लखनऊ पहुँचने से पहले ही सर जेन्स ऊटरम चार हजार सेना के साथ आलमबाग मे मौजूद था। अहमदशाह ने कई बार चाहा कि ऊटरम पर एक भयानक आक्रमण करके उसकी समस्त सेना को समाप्त कर दिया जाय किन्तु दुर्भाग्यवश ऐसे दूरदर्शी नेता अहमदशाह की बात न मानी गई। सभी अपना-अपना स्वतन्त्र राग अलापने लगे। अहमदशाह के विशेष रूप से आक्रमण करने के लिए कहने पर भी उसकी न चल सकी और प्रति-स्पर्धा यहाँ तक बढ़ी कि कुछ लोगों के आग्रह करने पर कहा जाता है कि बेगम ने अहमदशाह को कैद तक कर लिया। किन्तु इतना सब विरोध तो हुआ फिर भी सेना और जनता मे अहमदशाह सब से अधिक लोकप्रिय बना रहा और उसी आदर्श लोक-प्रियता का प्रभाव बेगम पर इतना पड़ा कि शीघ्र ही कैद किये गये अहमदशाह को छोड़ देना पड़ा।

इस घटना के बाद ही कैम्पबेल की सेना लखनऊ पहुँचती है। अहमदशाह ने फिर सेना का नेतृत्व ग्रहण किया। जितनी बार भारतीय सेना ने आलमबाग की अँगरेजी सेना पर आक्रमण किया मौलवी अहमदशाह अपने घोड़े या हाथी के ऊपर सवार प्रायः प्रत्येक बार सबसे युद्ध करता हुआ दिखाई पड़ा। उसके इसी साहस के कारण भारतीय सेना मे भी साहस बना रहता था।

१५ जनवरी सन् १८५८ के दिन जो संग्राम हुआ उसमे मौलवी अहमदशाह के एक हाथ मे गोली लग गई। १७ जनवरी

को विप्लवकारियों का एक और मुख्य सेनापति विदेही हनुमान घायल हो जाने के कारण पकड़ लिया गया। ठीक ऐसे ही आपत्तिकाल मे राजा बालकृष्णसिंह की भी मृत्यु हो गई। इधर जैसे ही हाथ का घाव कुछ अच्छा होने लगा वैसे ही १५ फरवरी को अहमदशाह फिर मैदान मे उतर आया और अँगरेज सेनापतियो को बड़ी वीरता के साथ संग्राम के लिए ललकारने लगा। कुछ समय बाद स्वय बेगम हजरत महल शस्त्रो से सुसज्जित हो घोड़े पर सवार होकर वीरागना के भेष मे युद्ध के मैदान मे उतर आई। इतना सब साहस और वीरता से पूर्ण कार्य होने पर भी पारस्परिक प्रति स्पर्धा और अव्यवस्था ने लखनऊ की विप्लवकारी सेना का साथ न छोड़ा। अदूरदर्शी और मिथ्याभिमानी लोगो ने यह न समझा कि उनकी अज्ञानता और मानसिक द्रोह का परिणाम लखनऊ के भाग्य के लिये कितना भयानक होगा।

जिस समय सर कालिन कैम्पबेल आलमबाग पहुँचा उस समय तक लखनऊ का समस्त नगर विप्लवकारियों के अधिकार मे ही था। शहर के बाहर आलमबाग मे अँगरेजों की सेना थी और शहर के अन्दर विप्लवकारियों की ओर तीस हजार हिन्दुस्तानी सिपाही और पचास हजार सशस्त्र स्वयसेवक जमा थे। एक एक गली और एक एक बाजार मे नाकेबन्दी और मोर्चेबन्दी हो रही थी। प्रत्येक घर की दीवारों मे बन्दूकों के लिए सूराख बने हुए थे। प्रत्यक मोर्चे के ऊपर तोपे लगी हुई थी। महल के चारों तरफ तोपे लगी हुई थीं। नगर के उत्तर की ओर गोमती नदी थी। शेष तीनों ओर बहुत ही मजबूत किलेबन्दी थी।

उस समय सर कालिन कैम्पबेल के अधीन अँगरेजी और हिन्दुस्तानी मिला कर लगभग चालिस हजार सेना थी जिसका प्रत्येक सैनिक सभी प्रकार के युद्धों की शिक्षा पा चुका था और सभी प्रकार के शस्त्र और अस्त्र के चलाने मे अभ्यस्त था। इससे पहले अँगरेजों ने जितने आक्रमण लखनऊ पर किये थे उनमे से कोई भी उत्तर की ओर से नही किया गया था। सब से पहले ६ मार्च को ऊटरम ने उसी ओर से आक्रमण करने की तैयारी आरम्भ कर दी और सर कालिन कैम्पवेल के पहुँचने के बाद उत्तर और पूर्व दोनों ही ओर से आक्रमण होना आरम्भ हो गया। ६ मार्च तक भयानक रूप से घमासान संग्राम होता रहा। अब तीसरी बार लखनऊ नगर की गलियों मे रक्त की धाराएँ प्रवाहित होने लगी। अन्त मे जिस प्रकार दिल्ली का पतन हुआ था उसी प्रकार अवध की राजधानी लखनऊ नगर का भी पतन हो गया।

अँगरेजी सेना ने एक-एक करके दिलखुशबाग, कदम रसूल शाहनजफ, बेगमकोठी आदि मोर्चों पर अपना अधिकार जमा लिया। १० मार्च को वह दानव हडसन, जिसने दिल्ली के शाहजादों का खून पिया था, लखनऊ के इस निर्णायक सग्राम मे मारा गया। १४ मार्च को अँगरेजी सेना ने लखनऊ के महल मे प्रवेश किया।

इतिहास-लेखक विलसन लिखता है कि उस दिन की विजय का मुख्य श्रेय "सिखों और दस नम्बर पलटन" को मिलना चाहिए। यदि सत्य है तो हमारी समझ से सिखों और दस नम्बर पलटन को ही भारत माता को बन्धन का कारण मान लेना चाहिये।

बेगम हजरत महल और नवाब बिरजिस कद्र तथा मौलवी अहमदशाह तीनों ही गुप्त रूप से लखनऊ के नगर से निकल गये। थोड़ा सा हेर फेर कर और साधारण सा चक्कर देकर अहमदशाह ने अपने मुट्ठी भर आदमियों के साथ फिर एक बार दूसरी ओर से लखनऊ मे प्रवेश किया।

लखनऊ के मोहल्ले शहादतगञ्ज मे पहुँच कर अहमदशाह ने नये सिरे से पुनः विजयी अँगरेजी सेना से मोर्चा लिया। इस समय अहमदशाह के पास केवल दो तोपे रह गई थीं और अहमदशाह का सामना करने के लिए दो पलटने कम्पनी के अँगरेज सेनापतियों ने भेजी थी। अँगरेज इतिहास लेखक लिखते है कि—“मौलवी अहमदशाह ने उस दिन अपूर्व वीरता के साथ युद्ध किया, शत्रु के असख्य जानों की हानि पहुँचाई और अन्त मे विजय असम्भव देख वह फिर लखनऊ से निकल गया।” शहादतगञ्ज का संग्राम लखनऊ का वह सग्राम था जिससे वहाँ के सभी संग्रामों का पटाक्षेप होता है। इसके बाद अँगरेजी सेना ने ६ मील तक अहमदशाह का पीछा किया किन्तु फिर भी अहमदशाह उनके हाथ न आया। मैदान साफ हो जाने से लखनऊ के समस्त नगर पर अब कम्पनी का अधिकार हो गया।

अवध की राजधानी लखनऊ नगर के पतन् होने के बाद कम्पनी की सेना ने लखनऊ के रहनेवालों के साथ जिस प्रकार का व्यवहार किया वह सार्वजनिक लूटमार और सार्वजनिक संहार, इन दो शब्दों मे ही इस समय कहा जा सकता है। लेफ्टिनेन्ट माजेन्डी लिखता है कि—“लखनऊ के अन्दर उस समय के कत्ले आम मे किसी तरह की तमीज नहीं की गई।” लोगों की हत्या करने से पूर्व जिस प्रकार की

कठोर यातनाएँ लोगों को दी गई उसके कई उदाहरण रसल ने अपनी पुस्तक मे दे दिये हैं। वह अपनी पुस्तक मे उन सब वीभत्स घटनाओं का वर्णन इस प्रकार लिखता है--

"कुछ सिपाही अभी जीवित थे और उन्हे दया के साथ ही मारा गया किन्तु इनमे से एक को खींचकर मकान से बाहर रेतीले मैदान मे लाया गया। उसे टॉगों से पकड़ कर खींचा गया, एक सुविधा के स्थान पर लाया गया। कुछ ॲगरेज सिपाहियों ने उसके मुँह और शरीर मे सगीने भोंक कर उसे लटका रखा। दूसरे लोग एक छोटी-सी चिता के लिए ईंधन जमा करने लगे। जब सब तैयार हो गया तब उसे जीवित ही भून दिया गया! इस काम के करने वाले ॲगरेज थे और कई अफसर खड़े देखते रहे किन्तु किसी ने हस्तक्षेप नहीं किया। इस नारकी अत्याचार की वीभत्सता उस समय और भी बढ़ गई जब कि उस भाग्यहीन दुःखिया अधजली और जीवित दशा मे भागने का प्रयत्न किया! अकस्मात प्रयत्न करके वह चिता से कूद पड़ा। उसके शरीर का मॉस हड्डियो से लटक रहा था। वह कुछ गज दौड़ा, फिर पकड़ लिया गया वापस लाया गया फिर आग पर रख दिया गया और जब तक राख न हो गया तब तक संगीनों से दबा कर रखा गया।"

यह तो हुआ ॲगरेजों का व्यवहार और इसकी तुलना मे ॲगरेज कैदियों के साथ बेगम हजरत महल का व्यवहार बिलकुल दूसरे ही प्रकार का था। प्रारम्भ के दिनों मे जब कि लखनऊ के अन्दर विप्लवकारियों का पल्ला भारी था और सभी ओर उनकी धाक जमी ,ई थी तब कुछ ॲगरेज पुरुष और स्त्री लखनऊ मे कैद कर लिये थे किन्तु ३ महीने

तक इनके जीवन पर किसी भी प्रकार का आक्रमण नहीं किया गया। जिस समय कम्पनी की सेना ने लखनऊ नगर मे प्रवेश कर दोषी और निर्दोषी सब का एक समान संहार करना आरम्भ किया उस समय थोडे से क्रुद्ध विप्लवकारियों ने महल मे जाकर बेगम हजरत महल से प्रार्थना की कि वे समस्त अँगरेज कैदियों को उनके हवाले तुरन्त कर दे। बेगम हजरतमहल ने उनकी प्रार्थना को स्वीकार करते हुए सात या आठ अँगरेज पुरुषों को उनके हवाले कर दिया। उन सबों ने उन अँगरेजों को तुरन्त गोली से उड़ा दिया। इसके बाद वे क्रुद्ध विप्लवकारी फिर बेगम हजरतमहल के पास गये और जब हठ करते हुए कैदी अँगरेज स्त्रियों को भी मार डालने का विचार प्रकट करने लगे तब बेगम हजरतमहल ने उनके उस आग्रह और प्रार्थना दोनों को ही अस्वीकार कर दिया। इस सम्बन्ध मे इतिहास लेखक चार्ल्स बाल लिखता है—

"स्त्रियों के विषय मे बेगम ने उन लोगों की माँग को पूरा करने से जोरों के साथ इन्कार कर दिया। बेगम ने तुरन्त महल के जनानखाने के अन्दर उन अँगरेज स्त्रियों को अपने संरक्षण मे ले लिया। बेगम का यह कार्य स्त्री-जाति के मान को बढ़ाने वाला था।"

लखनऊ को अपने अधिकार मे कर लेने के बाद कम्पनी की सेना ने महल मे भी प्रवेश कर लूट और कत्लेआम के क्रूर और वीभत्स कर्मों को जारी रखा। महल के जनानखानों के अन्दर अनेक निरपराध स्त्रियाँ मारी गई और शेष स्त्रियाँ कैद कर ली गईं। महल की इन स्त्रियों के दिलों में भी

अपने आन्दोलन की पवित्रता और उसकी अन्तिम विजय मे पूर्ण रूप से विश्वास मौजूद था ।

हमारे इस कथन का समर्थन करने वाली एक छोटी-सी घटना कई अँगरेजी इतिहास की पुस्तकों मे दी हुई है । एक दिन कैदी बेगमों के अँगरेज पहरेदारों ने हँस कर उनसे प्रश्न किया—"क्या आपका यह खयाल नही है कि अब जंग खत्म हो गई ?" बेगमों ने उत्तर दिया—"नहीं, इसके खिलाफ हमे पूरा यकीन है कि आखीर मे तुम्हारी ही हार होगी ।"

इसमे सन्देह नहीं कि बेगमों का विश्वास अपने स्थान पर उचित ही था । वास्तव मे बात यह थी कि लखनऊ के पतन के बाद भी अवध के कई भागों और हिन्दुस्तान के कई अन्य प्रान्तों मे स्वाधीनता का संग्राम बराबर हो ही रहा था इसलिए उन बेगमों का वह विश्वास निराधार न था । जिस प्रकार बेगम हजरत महल वीरांगना थी उस प्रकार की वीरांगनाएँ ये सब बेगमे भी थीं ।

अब हम यहीं से अवध और रुहेलखण्ड के इस वृत्तान्त को रोक देना चाहते है क्योकि बिहार की ओर भी ध्यान देना आवश्यक हो रहा है ।

बिहार का विप्लव और अहमदशाह

सन् १८५७ मे विप्लवकारियों का जैसा व्यापक संगठन अवध और दिल्ली मे था, वैसा संगठन बिहार मे नहीं हो पाया था, फिर भी उस प्रान्त मे विप्लव के कई महत्त्वपूर्ण केन्द्र थे। विशेषतया पटने मे एक विशाल केन्द्र था जिसकी शाखाएँ और उपशाखाएँ प्रान्त मे चारों ओर फैली हुई थी। सन् १८५७ से पहले पटने मे अनेक गुप्त सभाएँ हुआ करती थीं। वहाँ की पुलिस भी इस संगठन मे शामिल थी। इतिहास की पुस्तकों मे लिखा है कि उस समय पटने के केन्द्र के पास धन का कुछ भी अभाव न था। असख्य वैतनिक और अवैतनिक प्रचारक चारों ओर ग्रामीण जनता के बीच विप्लव का प्रचार करते हुए फिरने लगे थे। वहाँ के विप्लवकारी नेताओं का दिल्ली, लखनऊ और कानपुर के नेताओं के साथ गुप्त रूप से पत्र-व्यवहार हुआ करता था।

जिस समय अँगरेज को यह पता चला कि पटने वालों का भी सम्बन्ध अवध के विप्लवकारियों से हो चुका है और वे भी उन्हीं लोगों के समान अँगरेजों को भारत से निकाल देना चाहते हैं तब अँगरेजों ने तुरन्त पटने की रक्षा के लिए लिए सिखों की एक सेना भेज दी। कहा जाता है कि जिस समय अँगरेजों की ओर से पटने की रक्षा करने के लिए ये सब सिख सैनिक पटने गये उस समय वहाँ के लोगों ने उनके प्रति ऐसे घृणित भावों

को प्रकट किया कि लोग उन सिखों की छाया तक से घृणा करने लगे और उनकी छाया उन सबों पर न पड़ जाय इस लिए विशेष रूप से सावधान रहने लगे। बिहार प्रान्त के निवासियों पर भी अँगरेज सन्देह करने लगे। सन्देह करने के साथ ही साथ उन्होंने दमन-चक्र को भी चालू कर दिया। जिला तिरहुत के एक पुलिस के जमादार वारिसअली को विप्लव के सन्देह पर गिरफ्तार कर लिया गया और बिना किसी प्रकार के न्याय के उसे फाँसी भी दे दी गई। वारिसअली के पत्रो मे एक पत्र गया के विप्लवकारी नेता अली करीम के नाम का पकड़ा गया। कम्पनी की सेना का एक दस्ता अली करीम को गिरफ्तार करने के लिए भेजा गया। अली करीम अपने हाथी पर सवार होकर देहात चला गया। कम्पनी की सेना ने उसका पीछा किया किन्तु आसपास के ग्राम वाले अली करीम से मिले हुए थे इसलिए उन सबों ने कम्पनी के सिपाहियों को धोखा देकर गलत रास्ता बता दिया। उन सबों के बताए हुए रास्ते पर चलते-चलते कम्पनी की सेना थक गई और अन्त मे असफल होकर अपने स्थान पर लौट आई।

ऐसे ही समय मे पटने के कमिश्नर टेलर को विदित हुआ कि शहर के तीन प्रभावशाली मौलवी विप्लव के सगठन मे भाग ले रहे है। टेलर ने तुरन्त उन तीनों को ही बातचीत करने के बहाने अपने घर पर बुलाया और जब वे उसके घर आ गये तब उन्हे धोखे से गिरफ्तार कर लिया।

३ जुलाई को पटने मे थोड़ा-सा विप्लव हुआ किन्तु सिख सैनिकों की सहायता से बड़ी सरलता के साथ उस विप्लव को दबा दिया गया। विप्लवकारियों का प्रधान नेता पीरअली फाँसी

पर चढ़ा दिया गया। उस समय के इतिहास की पुस्तको मे लिखा है कि कठोर यातनाएँ दे-देकर पीरअली को मारा गया। कमिश्नर टेलर स्वय लिखता है कि पीरअली ने बड़ी वीरता और धार्मिक भावों के साथ यातनाओं और मृत्यु दोनों का ही सामना किया। दानापुर मे उस समय तीन हिन्दुस्तानी पलटने एक गोरी पलटन और कुछ तोपखाना था। पीरअली की मृत्यु के बाद २५ जुलाई को दानापुर की देशी पलटनों ने स्वाधीनता की घोषणा कर दी। इसके बाद ये पलटने जगदीशपुर की ओर बढ़ी।

जगदीशपुर एक छोटी-सी पुरानी राजपूत रियासत शाहाबाद के जिले मे थी। सम्राट शाहजहाँ के दर्बार से जगदीशपुर की रियासत के मालिक को राजा की उपाधि दी गई थी और उसी समय से पीढ़ी-दर-पीढ़ी बराबर चली आ रही थी। कम्पनी के शासन-काल मे यह रियासत भी लार्ड डलहौजी की अपहरण नीति का शिकार हो चुकी थी। जगदीशपुर का राजा कुँवरसिंह आसपास के इलाके मे अधिक लोक प्रिय था। कुँवरसिंह की आयु उस समय ८० वर्ष से ऊपर थी। फिर भी राजा कुँवरसिंह बिहार के विप्लवकारियों का प्रमुख नेता और सन् १८५७ के सबसे अधिक ज्वलन्त व्यक्तियों मे से था। जिस समय दानापुर की विप्लवकारी सेना जगदीशपुर पहुँची उस समय बूढ़े कुँवरसिंह ने तुरन्त ही अपने अस्त्र शस्त्र उठा लिये और शीघ्रता के साथ अपने महल से निकल कर उस सेना का नेतृत्व ग्रहण कर लिया। इसके बाद विप्लवकारी सेना के साथ कुँवरसिंह आरा पहुँचा। आरा पहुँचकर उसने वहाँ के खजाने को अपने अधिकार मे कर लिया, जेलखाने के कैदी मुक्त कर दिये गये और अँगरेजों के दफ्तरों को गिराकर चौरस मैदान बना दिया गया। इस प्रकार

के कार्यो को समाप्त कर उसने आरा के छोटे-से किले को घेर लिया। उस किले के अन्दर थोडे से अँगरेज और कुछ सिख सिपाही थे। इतिहास की पुस्तकों मे लिखा हुआ है कि किले मे पानी की कमी पड़ गई। किले के अन्दर के सिखों ने अँगरेजों के संकट को देखकर तुरंत २४ घंटे के अन्दर एक नया कुंआ खोद कर तैयार कर दिया। कुँवरसिंह ने कम्पनी की सेना से वादा किया कि यदि आप लोग किला हमारे सुपुर्द कर दे तो आप सब को प्राणदान दे दिया जायगा। किन्तु किले के भीतर की सेना ने स्वीकार न किया। किले के अन्दर के सिख सिपाहियों को कुँवरसिह ने समझा बुझाकर विप्लवकारियों के पक्ष मे करना चाहा किन्तु इस कार्य मे वह सफल न हुआ। क्योंकि सिख-सिपाहियो पर उनकी बातों का कुछ भी प्रभाव न पड़ा। परिणाम यह हुआ कि विप्लवकारी तीन दिनों तक आरा के किले को घेरे रहे और उसे जीतने के लिए लगातार आक्रमण भी करते रहे।

आरा के किले का समाचार पाते ही २९ जुलाई को दानापुर के कप्तान डनबर के अधीन करीब ३०० अँगरेज सैनिक तथा १०० सिख सिपाही आरा के सैनिकों की सहायता के लिए चल पड़े। आरा के समीप ही आम का एक बाग था। उसी आम के बाग मे कुँवरसिंह ने अपने कुछ सिपाही आम के वृक्षों की टहनियों मे छिपा रखे थे। रात का समय था। जिस समय दानापुर की सेना ठीक वृक्षों के नीचे पहुँची, उस समय अधकार मे ही वृक्षों के ऊपर से गोलियाँ बरसनी आरंभ हो गई। सबेरा होते होते ४१५ आदमियो मे से केवल ५० आदमी जीवित बचकर दानापुर की ओर लौट गये और कप्तान डनबर इसी आम के बाग मे परलोक को सिधार गया।

कप्तान डनबर की मृत्यु और सैनिकों की हार के बाद मेजर आयर एक बड़ी सेना और तोपों के साथ आरा के किले से अँगरेजों की सहायता के लिए बढ़ा। २ अगस्त को बीबीगंज के निकट कुंवरसिंह और मेजर आयर का सामाना हो गया। सामना होते ही दोनों ओर की सेनाएँ अपनी-अपनी विजय के लिए संग्राम मे कूद पड़ीं। बड़े ही भयानक रूप से युद्ध होने लगा। किसकी विजय होगी इसे निश्चय कर सकना उस समय कठिन हो रहा था। एक बार अँगरेजी सेना के एक अफसर कप्तान हेस्टिंग्स ने मेजर आयर से आकर कहा कि जीत हमारे हाथों से खिसकती हुई दिखाई देती है किन्तु फिर भी अन्त मे मेजर आयर की ही विजय रही। कुँवरसिंह की सेना को हार कर पीछे हटना पड़ा और आठ दिनों तक विप्लवकारियों द्वारा घिरे रहने के बाद आरा का नगर और किला फिर से अँगरेजों के अधिकार मे आ गया।

बीबीगंज के युद्ध मे हारकर कुंवरसिंह अब जगदीशपुर की ओर लौट आया। मेजर आयर ने अपनी विजयी सेना के साथ उसका पीछा किया इसलिए कई दिनों तक संग्राम होता रहा और अन्त में मेजर आयर ने १४ अगस्त को जगदीशपुर के महल को अपने अधिकार मे कर लिया।

बारह सौ सैनिकों और अपने महल की स्त्रियों को साथ लेकर बूढ़ा कूँवरसिंह जगदीशपुर से निकल गया। उसने अब किसी दूसरे स्थान पर जाकर अँगरेजों के साथ अपना बल आजमाने का निश्चय किया।

यह वह समय था जब कि कुछ गोरी और कुछ गोरखा

सेना आजमगढ़ की ओर से अवध मे प्रवेश कर रही थी। १८ मार्च सन् १८५८ को आस-पास के अन्य विप्लवकारियों को अपने साथ लेकर कुँवरसिंह ने आजमगढ़ से २५ मील की दूरी पर अतरौलिया नामक स्थान पर डेरा जमाया। जिस समय अँगरेजों को यह समाचार मिला उस समय वे सब तुरन्त उससे लड़ने के लिए तैयार होने लगे इसलिए मिलमैन के अधीन कुछ पैदल, कुछ सवार और दो तोपे २१ मार्च सन् १८५८ को कुँवरसिंह को युद्ध मे पराजित करने के लिए पहुँची। उसी दिन अतरौलिया के मैदान मे दोनों ही ओर की सेनाओं का बड़ी वीरता और साहस के साथ आमना-सामना हुआ किन्तु थोड़े ही समय के बाद कुँवरसिंह अपनी सेना के साथ बड़ी शीघ्रता से पीछे की ओर हटने लगा। अँगरेजों की सेना ने यह समझ लिया कि कुँवरसिंह हार कर मैदान से भाग गया। विजय के उत्साह से उत्साहित होकर मिलमैन ने अपनी सेना को एक आम के बगीचे मे ठहरा कर भोजन करने की आज्ञा दे दी और इधर चूँकि कुँवरसिंह उस जगल की एक-एक चप्पा भूमि से परिचत था इसलिए वह भी अपने शत्रुओं के कार्यों को कही से छिपकर देख रहा था। इस बुढ़ापे मे भी वह अत्यन्त फुर्तीला था। ठीक उसी समय, जब कि मिलमैन की सेना भोजन कर रही थी, कुँवरसिंह अपने फुर्तीलेपन के कारण अचानक उस पर आकर टूट पड़ा। थोड़ी देर के संग्राम के बाद मैदान पूर्ण रूप से कुँवर-सिंह के हाथ रहा। मिलमैन के अनेक सिपाही मारे गये और शेष सिपाहियों ने अतरौलिया से भाग कर कोशिला मे आश्रय लिया। कुँवरसिंह ने मिलमैन का पीछा किया। मिलमैन के साथ जितने हिन्दुस्तानी नौकर सभी ने इस समय उसका साथ

छोड़ दिया था। लिखा है कि वे कम्पनी की सेना के बैलों और गाड़ियों समेत इधर-उधर भाग गये और शेष सामान और तोपें कुँवरसिंह के हाथ लगीं। अँगरेजी सेना का अफसर मिलमैन अपने रहे-सहे आदमियों के साथ आजमगढ़ की ओर भाग गया।

ज्यों ही मिलमैन के पराजित होने का समाचार प्राप्त हुआ त्यों ही एक दूसरी अँगरेजी सेना कर्नल डेम्स के अधीन बनारस और मिर्जापुर से चलकर मिलमैन की सहायता के लिए आजमगढ़ पहुँच गई। २८ मार्च को यह सम्मिलित सेना कर्नल डेम्स के अधीन फिर कुँवरसिंह से लड़ने के लिए निकल पड़ी। आजमगढ़ से कुछ दूरी पर कुंवरसिंह और कर्नल डेम्स में घमासान संग्राम हुआ। इस बार भी कुँवरसिंह को ही पूर्ण रूप से विजय प्राप्त हुई। कर्नल डेम्स को युद्ध के मैदान से बाध्य होकर भाग जाना पड़ा। भागते-भागते वह आजमगढ़ पहुँचा और वहाँ के किले में जाकर आश्रय ग्रहण किया। विजयी कुंवरसिंह ने आजमगढ़ नगर में तुरन्त प्रवेश किया।

आजमगढ़ को विजय कर और अपनी सेना के एक दल को आजमगढ़ के किले पर आक्रमण करने के लिए छोड़ कर कुँवरसिंह अब बनारस की ओर बढ़ा। उस समय लार्ड कैनिंग इलहाबाद में था। इतिहास-लेखक मालेसन लिखता है कि कुंवरसिंह की विजय और उसके बनारस पर आक्रमण करने के लिए चढ़ाई करने के समाचार को सुनकर लार्ड कैनिंग घबरा गया था।

उस समय तक कुँवरसिंह अपनी राजधानी जगदीशपुर से १०० मील से ऊपर निकल आया था और अब वह बनारस

शहर के ठीक उत्तर मे था। लखनऊ से भागे हुए विप्लवकारी इस समय कुँवरसिंह की सेना मे आकर शामिल हो गये। लार्ड कैनिंग ने तुरन्त सेनापति लार्ड मार्क कर को सेना और तोपों के साथ कुँवरसिंह को पराजित कर देने के लिए भेज दिया। ६ अप्रैल को लार्ड मार्क की सेना और कुंवरसिंह की सेना मे सग्राम हुआ। लिखा हुआ मिलता है कि उस दिन ८१ वर्ष का बूढ़ा कुँवरसिंह अपने सफेद घोड़े पर सवार ठीक घमासान लड़ाई के अन्दर बिजली के सामान इधर से उधर लपकता हुआ दिखाई दे रहा था। लार्ड मार्क कर अन्त मे हार गया। अपनी तोपों के साथ उसे पीछे हटना पड़ा। लार्ड मार्क कर को अपनी रक्षा का कोई उपाय न सूझा। विवश होकर उस समय युद्ध के मैदान से भागकर वह आजमगढ़ की ओर बढ़ा। कुंवरसिंह ने उसका पीछा किया। सम्भव है कि या तो कुँवरसिंह के विचार इस समय कुछ-कुछ बदलने लगे हों अथवा वह लार्ड मार्क की चालों मे आ गया हो। इतिहास-लेखक मालेसन लिखता है कि कुँवरसिंह का इस समय बनारस आने का विचार छोड़कर आजमगढ़ की ओर लार्ड का पीछा करना उस समय के विचार से सबसे बड़ी भूल थी।

लड़ाई के मैदान से भागकर लार्ड मार्क ने युद्ध मे बचे हुए अपने सैनिकों के साथ आजमगढ़ के किले मे आश्रय लिया। आजमगढ़ का शहर विप्लवकारियों के अधिकार मे था। कुँवर-सिंह ने लार्ड मार्क और उसकी सेना को किले मे कैद कर किले को पूर्ण रूप से घेर लेने का प्रबन्ध करना आरम्भ कर दिया। इधर पश्चिम की ओर से अब सेनापति लगर्ड एक दूसरी अँगरेजी सेना के साथ लार्ड मार्क की सहायता करने के लिए

आज़मगढ़ की ओर बढ़ा। कुँवरसिंह को इसका भी पता लग गया!

कुँवरसिंह ने सबसे पहले आजमगढ़ छोड़कर गाजीपुर पहुँचने और फिर वहाँ से गंगा पार कर जगदीशपुर पहुँचने और वहाँ पहुँचकर फिर अपनी पैतृक रियासत विजय करने का इरादा किया। इसके लिए कुँवरसिंह ने सुन्दर चाल चली।

लगर्ड की सेना तानू नदी के पुल से आजमगढ़ की ओर आने वाली थी। कुँवरसिंह ने अपनी सेना का एक दल लगर्ड की सेना का सामना करने के लिए उस पुल पर भेज दिया और अपनी शेष सेना के साथ कुँवरसिंह गाजीपुर की ओर बढ़ा। उसका भेजा हुआ वह छोटा-सा सैन्य-दल बड़ी वीरता के साथ पुल के ऊपर लगर्ड की सेना का सामना करता रहा। जब कुँवर-सिंह को पता लगा कि मुख्य सेना बहुत दूर निकल गई है तब वह धीरे-धीरे पीछे हट कर उस सेना से जाकर मिल गया। लगर्ड को कुँवरसिंह की इस चाल का पता तक न चला सका। इतिहास लेखक मालेसन ने कुँवरसिंह की इस चाल और तानू नदी के ऊपर लड़ने वाले कुँवरसिंह के सिपाहियों की वीरता, दोनों की ही अधिक प्रशसा की है। इसके बाद लगर्ड की सेना ने बारह मील तक कुँवरसिंह का पीछा किया किन्तु फिर भी कुँवरसिंह हाथ न आ सका।

इतने ही समय में थोड़ा सा चक्कर देकर स्वयं कुँवरसिंह ने अचानक लगर्ड की सेना पर आक्रमण किया। कम्पनी की सेना के कई अफसर और अनेक सैनिक उस आक्रमण मे मारे गये। अन्त मे कम्पनी की सेना को हार कर पीछे हट जाना पड़ा और कुँवरसिंह गंगा की ओर बढ़ा।

कम्पनी की सेना के इस पराजय के समाचार को पाते ही एक दूसरी अँगरेजी सेना सेनापति डगलस के अधीन कुँवरसिंह को परास्त करने के लिए बढ़ी। तवई नामक ग्राम के निकट डगलस और कुँवरसिंह की सेनाओं मे भयङ्कर रूप से घमासान संग्राम हुआ। इस समय कुँवरसिंह ने अपनी सेना के तीन दल किये। एक दल ने डगलस का सामना किया। दूसरे दोनों दल घूम कर आगे बढ़ गये। पहला दल बड़ी वीरता के साथ डगलस की सेना से लड़ता रहा यद्यपि डगलस की सेना की तुलना मे इस दल की संख्या कम ही थी। चार मील तक डगलस इस सेना को दबाता ही चला गया। अन्त मे ज्यों ही डगलस की सेना थककर रुकी त्यों ही वे दूसरे दोनों दल अन्य मार्गों से घूम कर डगलस की सेना पर टूट पड़े। पराजित होकर डगलस को भी पीछे जाना पड़ा।

अब कुँवरसिंह की सम्मिलित सेना गंगा की ओर बढ़ी। डगलस की सेना ने फिर उसका पीछा किया किन्तु कुछ भी लाभ न हुआ। कुँवरसिंह अपनी सेना के साथ आश्चर्यजनक शीघ्र गति से चलकर सिकन्दरपुर पहुँचा। वहाँ पहुँच कर उसने घाघरा नदी को पार किया और फिर मनोहरपुर ग्राम मे जाकर कुछ देर के लिए विश्राम करने को रुक गया। मनोहर ग्राम मे भी डगलस की सेना ने फिर कुँवरसिंह पर आक्रमण किया। इस आक्रमण मे कुँवरसिंह के हाथी, कुछ बारूद और थोड़ी-सी भोजन-सामग्री डगलस के अधिकार मे आ गई। इसके बाद कुँवरसिंह ने फिर अपनी सेना के कई छोटे-छोटे टुकड़े बना लिए और उन सब को अलग रास्तों से चलकर एक नियत स्थान पर मिलने की आज्ञा दी। डगलस के लिए इन पृथक-पृथक

दलों का पीछा कर सकना असम्भव हो गया। कुँवरसिंह की समस्त टुकड़ियाँ आगे चलकर मिल गईं और गंगा की ओर बढ़ चली।

गंगा के किनारे पहुँचकर कुँवरसिंह ने यह अफवाह उड़ा दी कि मेरी सेना बलिया के निकट हाथियों पर गंगा को पार करेगी। अँगरेजी सेना उसी स्थान पर जाकर कुँवरसिंह को रोक के लिए डट गई किन्तु कुँवरसिंह उस स्थान से सात मील नीचे शिवपुर घाट से रात्रि के समय नावों पर बैठकर गंगा को पार करने लगा था। अँगरेजी सेना को जब इस चाल का पता लगा, तब वह शिवपुर पहुँच गई। उस समय तक कुँवरसिंह की समस्त सेना गंगा पार कर चुकी थी। केवल एक नाव शेष रह गई थी। कुँवरसिंह उसी नाव मे था। ठीक जिस समय कुँवर-सिंह की नाव बीच गंगा की धार मे थी उसी समय अँगरेजी-सेना के किसी सिपाही ने ऐसा निशाना लगाकर बन्दूक चलाई कि गोली कुँवरसिंह की दाहिनी कलाई मे ही आकर लगी। ८१ वर्ष के बूढ़े कुँवरसिंह ने जब यह देख लिया कि गोली लगने से दाहिना हाथ बेकार हो चुका है और गोली के कारण समस्त शरीर मे विष फैल जाने का भी डर है तब बायें हाथ से तल-वार खींचकर अपने घायल दाहिने हाथ को स्वयं एक ही वार मे कुँहनी पर से काट कर गंगा की धारा मे फेक दिया और घाव पर कपड़ा लपेट कर कुँवरसिंह ने गंगा को पार किया। अँगरेजी सेना गंगा के उस पार उसका पीछा न कर सकी।

गंगा के उस पार कुछ दूरी पर जगदीशपुर की राजधानी थी। उस दिन से आठ महीने पूर्व कुँवरसिंह को जगदीशपुर

से निकल जाना पड़ा था। इन आठ महीने तक जगदीशपुर अँगरेजों के अधिकार में रहा। २२ अप्रैल को राजा कुंवरसिंह ने फिर जगदीशपुर मे प्रवेश किया। कुँवरसिंह के भाई अमरसिंह ने पहले से ही थोड़े से स्वयसेवकों का एक दल कुंवरसिंह की सहायता के लिए जमा कर रखा था। इसलिए विशेष कोई कठिनाई नहीं रही। वीरता और साहस के प्रताप से राजधानी जगदीशपुर पर फिर से कुंवरसिंह का अधिकार हो गया।

राजधानी जगदीशपुर पर फिर कुंवरसिंह का अधिकार हो जाने के समाचार से आरा के अँगरेज अफसर चौकन्ने हो गये। २३ अप्रैल को लीग्रैण्ड के अधीन कम्पनी की सेना जगदीशपुर पर दुबारा आक्रमण करने के लिए आरा से चल पड़ी। इधर आठ महीने कुंवरसिंह और उसकी सेना का निरंतर युद्ध आक्रमण और कठिन यात्रा करने मे ही बीते थे और जगदीश-पुर पहुँचे भी उसे अभी २४ घण्टे भी नहीं हुए थे, साथ ही साथ कुँवरसिंह का दाहिना हाथ भी कट चुका था और उस समय उसके पास एक हजार से अधिक सेना भी न थी। उधर उसकी तुलना मे लीग्रैण्ड की सेना सुसज्जित और सुव्यवस्थित तथा पूर्ण रूप से विश्राम लाभ किये हुए थी और उसके साथ सभी प्रकार के अच्छे से अच्छे हथियार तथा बड़ी से बड़ी तोपे थीं। कुँवरसिंह के पास उस समय कोई तोप न थी। ऐसी सामरिक विषम परिस्थिति मे भी जगदीशपुर से ड़ेढ़ मील की दूरी पर लीग्रैण्ड और कुँवरसिंह की सेना मे वीरोचित मर्यादा की चरम सीमा तक का संग्राम हुआ। लीग्रैण्ड की सेना मे थोड़े-से अँगरेज सैनिक और अधिकांश सिख सिपाही थे किन्तु

मैदान इस बार भी पूर्ण रूप से कुँवरसिंह के हाथों मे ही रहा। उस दिन की पराजय को बतलाते हुए एक अँगरेज अफसर जो जगदीशपुर के इस संग्राम मे शामिल था, इस प्रकार के विचारों को प्रकट करता है —

"वास्तव मे इसके बाद जो कुछ हुआ उसे लिखते हुए मुझे अत्यन्त लज्जा आती है। लड़ाई का मैदान छोड़कर हमने जंगल से भागना आरम्भ किया। पीछे से शत्रु बराबर हमे पीटता रहा। हमारे सैनिक प्यासे मर रहे थे। एक निकृष्ट गन्दे छोटे-से पोखर को देखकर वे व्याकुल होकर उसकी ओर दौड़ पड़े। इतने मे कुँवरसिंह के सवारों ने हमे पीछे से आकर दबा लिया। इसके बाद हमारे अपमान की कोई सीमा न रही और हमारा संकट चरम-सीमा तक पहुँच गया। यहाँ तक कि हममे से किसो मे लज्जा तक न रही। जिस ओर जिसे कुशल दिखाई पड़ी, वह उसी ओर को भागने लगा। किसी ने भी अफसरों की आज्ञाओं की कोई पर्वाह न की। व्यवस्था और अनुशासन का अन्त हो गया। चारों ओर आहों, शापों और रोने के अतिरिक्त कुछ भी सुनाई न देता था। मार्ग से अँगरेजों के गिरोह के गिरोह गर्मी के मारे गिर-गिर कर मर गये। किसी को दवा मिल सकना भी असम्भव था क्योंकि हमारे अस्पताल पर कुँवरसिंह ने पहले ही अधिकार जमा लिया था। कुछ वहीं गिर कर मर गये और जो शेष रहे उन्हे शत्रु ने काट डाला। हमारे कहार डोलियाँ रख-रख कर भाग गये। सभी घबराये हुए थे, सभी डरे हुए थे। सोलह हाथियों पर केवल हमारे घायल साथी लदे हुए थे। स्वयं जनरल लीग्रैण्ड की छाती मे एक गोली लगी और वह मर गया। हमारे सिपाही अपनी जान लेकर पाँच मील से ऊपर

दौड़ चुके थे! अब उनमें अपनी बन्दूक उठाने तक की शक्ति न रह गई थी। सिखों को वहाँ की धूप सहने की आदत थी। उन्होंने हमसे हाथी छीन लिये और हमसे आगे भाग गये। गोरों का किसी ने साथ न दिया। १९९ गोरों मे से केवल ८० इस भयकर संहार से जीवित बच सके! इस जंगल मे हमारा जाना ऐसा ही हुआ जैसा पशुओं का कसाईखाने मे जाना, हम वहाँ केवल वध होने के लिए गए थे।"

इतिहास-लेखक ह्वाइट लिखता है—"इस अवसर पर ॲगरेजों ने पूरी और बुरी तरह से हार खाई।"

जगदीशपुर के इस युद्ध मे ॲगरेजी सेना की सब तोपें और सारा सामान कुॅवरसिंह के हाथों मे आ गया था। इस प्रकार २३ अप्रैल सन् १८५८ को विजयी कुॅवरसिंह फिर से अपनी पैतृक रियासत पर शासन करने लगा। किन्तु इस समय तक कुॅवरसिंह के हाथ का घाव अच्छा न हुआ। उस घाव के ही कारण २६ अप्रैल सन् १८५८ को अपने महल के अन्दर राजा कुवरसिंह की मृत्यु हुई। कुॅवरसिंह के मृत्यु के समय स्वाधीनता का हरा झण्डा उसकी राजधानी के ऊपर फहरा रहा था। राजा कुॅवरसिंह ही ऐसा प्रतापी और वीर था जो ॲगरेज कम्पनी के अधिकार से अपनी रियासत और प्रजा दोनों को ही पूर्ण रूप से स्वाधीन कर चुका था और स्वाधीनता के हरे झण्डे के ही नीचे स्वाभाविक मृत्यु को प्राप्त हुआ था।

उसके सम्बन्ध मे इतिहास-लेखक होम्स लिखता है—"उस बूढ़े राजपूत की जो बृटिश सत्ता के विरुद्ध इतनी वीरता और इतनी आन के साथ लड़ा, २६ अप्रैल सन् १८५८ को मृत्यु हो गई।"

राजा कुंवरसिंह का व्यक्तिगत चरित्र अत्यन्त पवित्र था। वह बड़े ही संयम से अपने जीवन को बिताता था। यहाँ तक कहा जाता है कि उसके राज्य मे कोई मनुष्य इस भय से कि कहीं कुवरसिंह देख न ले, खुले तौर पर तम्बाकू तक न पीता था। उसकी समस्त प्रजा उसका विशेष रूप से आदर और उससे शुद्ध प्रेम करती थी। युद्ध-कौशल मे वह अपने समय मे सर्वश्रेष्ठ था।

जब जगदीशपुर का ऐसा प्रतापी राजा सुरपुर को सिधार गया तब उसका छोटा भाई अमरसिंह जगदीशपुर की राजगद्दी पर बैठा। अपने बड़े भाई के मरने के बाद अमरसिंह ने चार दिन भी विश्राम नहीं किया। केवल जगदीशपुर की रियासत पर अपना अधिकार बनाये रखने से ही वह संतुष्ट न रहा। उसने तुरन्त अपनी सेना को फिर से जमा किया और आरा पर चढ़ाई कर दी। लीग्रैन्ड की सेना के पराजित हो जाने के बाद जनरल डगलस और जनरल लगर्ड की सेनाएँ भी गगा को पार करके आरा की सहायता के लिए पहुँच चुकी थी। ३ मई को राजा अमरसिंह की सेना के साथ डगलस और लगर्ड की सेनाओं का पहला सग्राम हुआ। उसके बाद विहिया, हतमपुर, दलीलपुर इत्यादि के अनेक स्थानों पर दोनों सेनाओं मे अनेक युद्ध हुए। अमरसिंह भी ठीक उसी प्रकार की युद्ध नीति द्वारा अँगरेजी सेना को बार बार हराता और हानि पहुँचता रहा जिस प्रकार की युद्ध नीति मे कुँवरसिंह निपुण था। निराश होकर जनरल लगर्ड ने इस्तीफा (त्याग-पत्र) दे दिया। लड़ाई का समस्त उत्तरदायित्व अब जनरल डगलस पर पड़ा। डगलस के साथ सात हजार सेना थी। उसने अमरसिंह को परास्त

करने की दृढ़ प्रतिज्ञा कर ली किन्तु जून, जुलाई, अगस्त और सितम्बर के महीने बीत गये फिर भी अमरसिंह परास्त न हो सका। इसी समय में विजयी अमरसिंह ने आरा मे प्रवेश किया और जगदीशपुर की रियासत पर अपना आधिपत्य भी जमाये रखा। जनरल डगलस ने कई बार हार खा कर यह घोषणा करा दी कि जो मनुष्य किसी तरह भी अमरसिंह का मस्तक लाकर मेरे सामने उपस्थित होगा उसे बहुत बड़ा इनाम दिया जायगा किन्तु इससे भी काम न चल सका।

अपनी इस चाल में भी असफल होने पर जनरल डगलस ने सात विशाल सेनाओं द्वारा सात ओर से जगदीशपुर को ही घेर लेने और आक्रमण करने का उपाय निश्चित किया। निश्चित किये हुए इसी उपाय के अनुसार १७ अक्टूबर को डगलस की विशाल सेनाओं ने जगदीशपुर को चारों ओर से घेर लिया। अमरसिंह ने भी देख लिया कि इतने विशाल सैन्यदल पर विजय प्राप्त कर सकना सम्भव नहीं है। वह तुरन्त अपने चुने हुए थोड़े से सिपाहियों के साथ मार्ग चीरता हुआ अँगरेजी सेना के बीच से निकल गया। जगदीशपुर पर फिर से कम्पनी का अधिकार हो गया किन्तु अमरसिंह किसी के भी हाथ न आया।

अँगरेजी सेना के बीच से निकल कर जाते ही कम्पनी की सेना ने अमरसिंह का पीछा किया। १९ अक्टूबर को नौनदी नामक ग्राम में इस सेना ने अमरसिंह को घेर लिया। इस समय अमरसिंह के साथ केवल चार सौ सिपाही थे इन चार सौ मे से तीन सौ ने नौनदी ग्राम के संग्राम मे लड़कर अपनी जान दे दी शेष सौ सिपाहियों ने कम्पनी की सेना को एक बार पीछे हटा दिया। इतने मे और अधिक सेना अँगरेजों की सहायता

के लिए पहुँच गई। उनसे भी अमरसिंह के सौ सिपाहियों ने अपनी जान हथेली पर लेकर युद्ध किया। अन्त मे अमरसिंह और उसके दो और साथी युद्ध के मैदान से निकल गये। शेष ९७ वहीं वीरों की गति को प्राप्त हो गये। नौनदी के संग्राम मे कम्पनी की ओर से मरने वालों की संख्या इससे भी कहीं अधिक थी और घायलों की संख्या कितनी रही होगी यह बतलाना भी कठिन है।

अँगरेजों की सेना ने फिर अमरसिंह का पीछा किया। एक बार थोड़े से सवार अमरसिंह के हाथी तक पहुँच गये। हाथी तो पकड़ लिया गया किन्तु अमरसिंह कूद कर निकल गया। इसके बाद प्राणों की रक्षा करते हुए अमरसिंह ने कैमूर के पहाड़ों मे प्रवेश किया। शत्रु ने वहाँ पर भी उनका पीछा किया किन्तु अमरसिंह ने हार स्वीकार न की इसके बाद राजा अमरसिंह का कोई पता न चला।

इधर जगदीशपुर की स्त्रियों ने भी शत्रु के हाथ में पड़ना उचित नही समझा। लिखा है कि जिस समय महल की डेढ़ सौ स्त्रियों ने यह देखा कि अब शत्रु के हाथों मे पड़ने के सिवा कोई दूसरा उपाय नहीं है तब वे सब तोपों के मुँह के सामने खड़ी हो गईं और स्वयं अपने हाथ से फलीता लगा कर उन सबों ने अपने ऐहिक जीवन के नाटक को चिरकाल के लिए समाप्त कर दिया।

अवध के पड़ोसी प्रान्त बिहार के विप्लव का यह वृत्तान्त समाप्त कर हम फिर अवध रुहेलखण्ड की ओर लौट रहे है। लखनऊ के पतन के बाद विप्लवकारियों का कोई विशेष केन्द्र कहीं भी देश भर मे न रह गया। कम्पनी की सेनाएं इस समय

चारों ओर फैलती जा रही थीं। पलटन पर पलटन इंग्लैण्ड से भर्ती होकर भारत में टिड्डी दल के समान चली आ रही थी। भारतवर्ष के विशाल साम्राज्य को अपने अधिकार से डावाँडोल होते देखकर इङ्गलैण्ड के शासकों ने उस समय अपनी समस्त शक्ति सन् १८५७ वाले भारतीय विप्लव को दमन करने में लगा रखी थीं। पहली अप्रैल सन् १८५८ को कम्पनी की हिन्दुस्तानी सेना और देशी रियासतों की सेनाओं के अतिरिक्त कम्पनी के पास भारतवर्ष में ९६००० गोरी सेना थी। अँगरेज-जाति के बड़े-से-बड़े अनुभवी सेनापति भारत मे मौजूद थे। दूसरी ओर सिखों और गोरखों ने मिलकर अपनी पूरी शक्ति से अँगरेजों का साथ दिया। इधर विप्लवकारियों के अन्दर अव्यवस्था बढ़ती जा रही थी। दिल्ली, कानपुर और लखनऊ जैसे केन्द्र हाथ से निकल चुके थे। इस परिस्थिति मे अवध और रुहेलखंड के नेताओं ने इधर-उधर फैले हुए विप्लवकारियों के नाम आज्ञा प्रकाशित की—

"तुम लोग विधर्मियों की बाजाब्ता (विधर्मियों के विधान अर्थात् कानून को मान कर चलनेवाली) सेनाओं का खुले मैदान मे सामना करने का प्रयत्न न करो, क्योंकि उनमे व्यवस्था हमसे बढ़कर है और उनके पास बड़ी-बड़ी तोपें हैं। उनके आने-जाने पर दृष्टि रखो, नदियों के समस्त घाटों पर अपना पहरा रखो, उनके पत्र-व्यवहार को बीच में रोक दो, उनकी रसद को रोक लो, उनकी डाक और चौकियों को तोड़ दो हमेशा उनके कैम्प के इधर-उधर फिरते रहो। फिरंगियों को बिल्कुल चैन न लेने दो।"

विप्लवकारियों की इस आज्ञा के सम्बन्ध में रसल लिखता

है—"इस सार्वजनिक घोषणा से नेताओं की बुद्धिमत्ता का पता चलता है और यह भी पता चलता है कि इससे अधिक भयकर युद्ध का हमे कभी भी सामना न करना पड़ा था।"

लखनऊ के पतन होने के बाद मौलवी अहमदशाह लखनऊ से लगभग तीस मील दूर बारी नामक स्थान पर था। बेगम हजरत महल छः हजार सैनिक के साथ बिटावली मे थीं। होपग्राण्ट तीस हजार सेना और तोपखाने के साथ लखनऊ से बारी की ओर बढ़ा। मौलवी अहमदशाह को इसका पता चल गया उसने बारी से चार मील दूर एक गॉव मे अपनी पैदल सेना को नियुक्त किया और सवार सेना को किसी दूसरे स्थान मे छिपा दिया। उसकी चाल यह थी कि कम्पनी की सेना इस गॉव पर चढ़ाई करे तो अहमदाशाह की पैदल सेना उसका सामना करे और उसके सवार अचानक पीछे से आकर कम्पनी की सेना को घेर लें। मौलवी अहमदशाह स्वयं अपनी पैदल सेना के साथ रहा। सवारों से कह दिया गया था कि जिस समय तक पैदल सेना के साथ अँगरेजों की लड़ाई न होने लगे उस समय तक तुम सब अपने आपको बराबर छिपाये रखना किन्तु उन सब सवारों ने कुछ भी ध्यान न रखा और भाग्य के निर्णायक क्षण भर अधीर सवारों ने अहमदशाह की आज्ञा के विरुद्ध अँगरेजी सेना को सामने देखते ही अपने स्थान से निकल कर उस पर आक्रमण कर दिया। इस अवहेलना और अव्यवस्था का परिणाम यह हुआ कि थोड़े-से युद्ध के बाद अहमदशाह को उस गॉव से निकल कर भाग जाना पड़ा और बारी के युद्ध का मैदान अँगरेजों के हाथ रहा। यह ऐसा समय था जब कि कम्पनी की सेना के अनेक दल अवध और रुहेलखंड

के विप्लवकारियों को उत्तर की ओर क्रमशः खदेड़ते हुए चले जा रहे थे।

इस घटना और जीत के बाद वालपोल ने १५ अप्रैल को लखनऊ से ५० मील दूर रुइया के किले पर चढ़ाई की। रुइया के तालुकेदार नरपतिसिंह के पास केवल दो सौ पचास साधारण सिपाही थे। वालपोल के साथ कई हजार सेना और तोपें थीं। सामने की ओर से वालपोल के डेढ़ सौ आदमियों ने किले पर चढ़ाई की। किले की दीवारों से गोलियों की बौछार होने लगी। ४६ अँगरेज वहीं पर मर गये और जो शेष रहे उन्हें पीछे हट जाना पड़ा। वालपोल ने अपनी तोपों के साथ किले की दूसरी ओर से गोलेबारी करना आरंभ कर दिया। वालपोल के गोले किले के ऊपर से पार कर दूसरी ओर की अँगरेजी सेना पर जाकर गिरने लगे। वालपोल की इस घबराहट को देखकर जनरल होप आगे बढ़ा और आगे बढ़ते ही मारा गया। समस्त अँगरेजी सेना को बड़े ही अपमान के साथ हार कर किले से पीछे हट जाना पड़ा।

जनरल होप अँगरेजों के मुख्यतम और अनुभवी सेनापतियों मे से था। उसकी मृत्यु से भारत और इंगलैण्ड के अँगरेजों को बड़ा शोक हुआ। इस विजय के बाद भी नरपतिसिंह ने जब देख लिया कि मैं इतनी विशाल अँगरेजी सेना के सामने न तो युद्ध मे टिक सकूँगा और न इस छोटे-से किले मे विलम्ब तक ठहरा सकूँगा, तब वह अपने मुट्ठी भर आदमियों के साथ किले के बाहर निकल गया।

इधर नाना साहब और मौलवी अहमदशाह घूमते-फिरते शाहजहाँपुर पहुँचे। उनके पहुँचते ही कमाण्डर-इन-चीफ सर

कालिन कैम्पबेल ने शाहजहाँपुर पहुँच कर चारों ओर से नगर को घेर लिया। उसका उद्देश्य नाना साहब और मौलवी अहमदशाह को अपने वश मे करना था किन्तु ये दोनों नेता अँगरेजी सेना के बीच से शाहजहाँपुर छोड़ कर निकल गये।

अभी तक खाँनबहादुर खाँ ने रुहेलखण्ड की राजधानी बरेली को स्वतन्त्र कर रखा था। दिल्ली का एक शाहजादा मिर्जा फिरोजशाह, नाना साहब, मौलवी अहमदशाह, बाला साहब, बेगम हजरत महल, राजा तेजसिंह और अन्य अनेक विप्लवकारी नेता इस समय बरेली मे थे। सर कालिन अपनी सेना के साथ बरेली की ओर बढ़ा। इधर विप्लवकारी नेता पहले से ही बरेली छोड़ देने और चारों ओर फैल जाने का निश्चय कर चुके थे। ५ मई को अँगरेजी सेना ने बरेली को घेर लिया। बरेली के असंख्य विप्लवकारी केवल ढाल तलवार लेकर लड़ने के लिए अँगरेजी सेना पर टूट पड़े और भयानक रूप से युद्ध होने लगा। दोनों ही ओर के सैनिक मारे गये। अन्त मे ७ मई सन् १८५८ को खानबहादुर खाँ अन्य विप्लवकारी नेताओं और कुछ सेना के साथ बरेली छोड़ कर निकल गया। इसके बाद अँगरेजी सेना ने बरेली के नगर को अपने अधिकार मे कर लिया।

बरेली के नगर को अपने अधिकार मे लाने के लिए अँगरेजी सेना को छोटे-छोटे कई संग्राम करने पड़े थे। सर कालिन कैम्पबेल भी उन्हीं संग्रामों को जीतने मे अपने सैनिकों के साथ लगा हुआ था। अभी वह बरेली को ही अपने अधिकार मे लाने के प्रयत्न मे था कि इतने मे मौलवी अहमदशाह ने इधर-उधर घूम कर फिर से शाहजहाँपुर पर चढ़ाई कर दी और

परिणाम यह हुआ कि समस्त अँगरेजी सेना परास्त हो गई। इस प्रकार शाहजहाँपुर मे फिर विप्लवकारियों का अधिकार हो गया। इस समाचार को पाते ही कैम्पबेल ने फिर शाहजहाँपुर पर आक्रमण किया। इस बार तीन दिन तक सग्राम होता रहा और मौलवी अहमदशाह के लिए बचकर निकलना भी असंभव हो गया इस लिए चारों ओर से विप्लवकारी सिपाही सहायता के लिए पहुँच गये। इतना ही नहीं बेगम हजरत-महल, शहजादा फिरोजशाह, नाना साहब आदि भी अपनी-अपनी सेनाएं लेकर १५ मई को शाहजहाँपुर पहुँचे। मौलवी अहमदशाह फिर इन सब की सहायता से शाहजहाँजपुर से निकल आया। इसके बाद रुहेलखंड से घूम कर मौलवी अहमदशाह ने पुनः अवध की सीमा मे प्रवेश किया।

मौलवी अहमदशाह किसी भी प्रकार अँगरेजों के चंगुल मे नहीं आता था इस बार अवध मे प्रवेश करते ही अँगरेजों से लड़ने का उसने फिर से नया आयोजन किया और अपनी शक्ति बढ़ाने का उपाय सोचने लगा। रास्ते मे पवन नाम की छोटी-सी हिन्दू रियासत थी। बेगम हजरतमहल की मुहर लगाकर मौलवी अहमदशाह ने एक पत्र पवन के राजा के पास सहायता के लिए भेज दिया। वहाँ के राजा जगन्नाथसिंह ने तुरन्त मौलवी अहमदशाह को अपने यहाँ बुला भेजा। अपने हाथी पर बैठ कर अहमदशाह पवन पहुँचा। राजा जगन्नाथ सिंह और उसके भाई से अहमदशाह की बात चीत हुई। बातचीत हो ही रही थी कि जगन्नाथसिंह के भाई ने धोखे से मौलवी अहमदशाह पर गोली चला दी। इस विश्वास घातक के वार से

अहमदशाह न बच सका। राजा जगन्नाथ सिंह ने तुरन्त अहमदशाह का सिर काट कर उसे एक कपड़े मे लपेटा और स्वयं पास के अँगरेजी कैम्प मे दे आया। इस प्रकार ५ जून सन् १८५८ को मौलवी अहमदशाह का अन्त हुआ। दूसरे दिन मौलवी अहमदशाह का कटा हुआ मस्तक शाहजहाँपुर की कोतवाली के सामने टाँग दिया गया। राजा जगन्नाथ सिंह को इस सेवा के बदले मे कम्पनी की सरकार से पचास हजार रुपये इनाम मे मिले।

कुछ भी हो हमारे पाठक यह भली भाँति समझ गये होंगे कि मौलवी अहमदशाह अपने बुद्धि-बल से उत्तरी भारत मे विप्लवकारियों का सब से बड़ा योग्य नेता बन चुका था और धैर्य, साहस तथा वीरता मे भी अद्वितीय था। उसके सम्बन्ध मे होम्स लिखता है कि मौलवी अहमदशाह उत्तरी भारत मे ॲगरेजों का सब से प्रबल शत्रु था।

एक दूसरा ॲगरेज इतिहास लेखक मालेसन लिखता है—"मौलवी एक बड़ा विचित्र पुरुष था × × × सेनापति की हैसियत से विप्लव मे उसकी योग्यता के अनेक प्रमाण मिले। ××× अभिमान के साथ और कोई भी मनष्य यह नही कह सकता था कि मैंने दो बार सर कालिन कैम्पबेल को मैदान मे परास्त किया। × × × फैजाबाद के मौलवी अहमदशाह की इस प्रकार मृत्यु हुई। यदि एक ऐसे मनुष्य को जिसका जन्म-भूमि की स्वाधीनता का अन्याय से अपहरण कर लिया गया हो, और जो फिर से उस स्वाधीनता को स्थापित करने के लिए योजना करे और युद्ध करे, देशभक्त कहा जा सकता है, तो इसमे लेशमात्र भी सन्देह नहीं हो

सकता कि मौलवी अहमदशाह सच्चा देशभक्त था। किसी की भी गुप्त हत्या करके उसने अपनी तलवार को कलंकित नहीं किया था, निहत्थे और निरपराध मनुष्यों की हत्या को उसने कभी पसन्द भी नहीं किया था, उसने मर्दाना वार, आन के साथ और डटकर खुले मैदान में उन विदेशियों के साथ युद्ध किया जिन्होंने उसका देश छीन लिया था। प्रत्येक देश के वीर और सच्चे लोगों को मौलवी अहमदशाह को आदर के साथ स्मरण करना चाहिए।"

ये विचार एक अँगरेज इतिहास लेखक के हैं। हमे भी इस बात का गर्व होना चाहिए कि हमारे देश मे इस प्रकार के वीर पुरुष हो चुके है, जो प्राणों के रहते हुए पराधीन नहीं हुए। हमारी अपनी भी यही धारणा है कि संसार के स्वाधीनता के शहीदों मे सन् १८५७ के मौलवी अहमदशाह का नाम सदा के लिए आदरणीय रहेगा।

झाँसी की रानी लक्ष्मीबाई

हम अपने पाठकों को इसी पुस्तक के 'झाँसी की रानी और लखनऊ की बेगम' शीर्षक वाले भाग में बतला चुके हैं कि अँगरेजी कम्पनी वालों ने किस-किस प्रकार झाँसी की रानी को कष्ट पहुँचाना आरम्भ कर दिया था और उनके कष्टों से छुटकारा पाने के लिए झाँसी की रानी ने वीरता से पूर्ण कितने प्रकार के प्रयत्न किये थे और अन्त मे किस प्रकार उसने अँगरेजों को जीता था।

जो एक बार युद्ध मे पराजित होता है वह नित्य प्रतिशोध लेने का उपाय सोचता है, और जब तक वह अपने शत्रु को नहीं पराजित कर लेता अथवा स्वयं नहीं नष्ट होता तब तक वह उचित अवसर ही की प्रतीक्षा करता है। इसी विचार-धारा के अनुसार झाँसी की रानी से पराजित होने वाले अँगरेज भी प्रतिशोध लेने की भावना से उचित अवसर की प्रतिक्षा कर रहे थे। विप्लवकारी सैनिकों द्वारा पराजित अँगरेज अफसर और उनके वेतनभोगी सैनिक अपने को बलशाली बनाने के लिये सभी प्रकार के प्रयत्न करने लगे थे।

यमुना नदी के दक्षिण और विन्ध्याचल के उत्तर का समस्त प्रान्त ११ महीने तक विप्लवकारियों के ही अधिकार में रहा और उसका समस्त श्रेय महारानी लक्ष्मीबाई को ही है। महारानी लक्ष्मीबाई के शासन से सभी को पूर्ण रूप से सन्तोष था और

अँगरेजों की आँखों मे महारानी लक्ष्मीबाई काँटों के समान खटक रही थी क्योंकि उसी कारण अँगरेजी सेना की दाल उस प्रदेश मे कहीं भी गलाये नहीं गलती थी।

इसीलिए सर ह्यू रोज के अधीन एक विशाल सेना जिसमे हैदराबाद, भोपाल और अन्य रियासतों की सेनाएँ भी मिली हुई थीं, बड़ी-बड़ी तोपों के साथ उस प्रदेश को फिर से विजय करने के लिए भेजी गई।

सर ह्यू रोज मऊ से ६ जनवरी सन् १८५८ को रवाना हुआ। रायगढ़, सागर, बानापुर, चदेरी, इत्यादि स्थानों पर विजय प्राप्त करती हुई उसकी विशाल सेना २० मार्च को झाँसी के निकट पहुँची। इसमे सन्देह नही कि उस समय समस्त प्रदेश के विप्लव-कारियों का मुख्य केन्द्र झाँसी ही था। नगर के भीतर बानापुर का राजा मर्दानसिंह और अन्य अनेक राजा तथा सरदार रानी की सहायता के लिये मौजूद थे।

कम्पनी की सेना के पहुँचने से पहले ही रानी लक्ष्मीबाई ने झाँसी के चारों ओर दूर-दूर तक के इलाके को जन्य-शून्य करा दिया था, जिससे कि आक्रमण करने वाले शत्रु की सेना को झाँसी पर आक्रमण करते समय रसद इत्यादि न मिल सके। न तो खेतों मे अनाज की एक बाल थी, न कहीं पर घास का तिनका ही था और न कोई ऐसा छायादार वृक्ष ही था जिसके नीचे बैठ कर कोई क्षण भर विश्राम कर सके। किन्तु हमारे और इस देश के लिए दुर्भाग्य के कारण बनने वाले महाराज सींधिया ने और टेहरी टीकमगढ़ के राजा ने कम्पनी की सेना के लिए रसद, घास और अन्य आवश्यक वस्तुओं का इतना अच्छा प्रबन्ध कर दिया था कि उस सेना को किसी भी प्रकार की कोई कठिनाई न हुई।

जब अँगरेजों की सेना झाँसी की ओर बढ़ने लगी तब झाँसी की रानी लक्ष्मीबाई ने स्वयं विप्लवकारियों का सेनापतित्व ग्रहण किया। प्रत्येक मोर्चे को उसने अपनी देख-रेख मे तैयार कराया और अपने किले की सभी दीवारों पर तोपें चढ़वाई। सर ह्यू रोज स्वयं लिखता है कि रानी लक्ष्मीबाई के साथ झाँसी की सैकड़ों स्त्रियाँ तोपखानों और मैगजीनों मे आती जाती और काम करती दिखाई दे रही थी। २४ मार्च को सबेरे सब से पहले झाँसी की 'घनगर्ज' नाम की एक तोप ने अँगरेजों की सेना के ऊपर गोले बरसाने का काम आरम्भ कर दिया। उसके बाद आठ दिन तक निरन्तर संग्राम होता रहा। एक दर्शक जो उस समय झाँसी मे मौजूद था; झाँसी के इस संग्राम के सम्बन्ध मे लिखता है।

"२५ तारीख से घोर युद्ध आरम्भ हुआ। अँगरेजों ने समस्त दिन और समस्त रात्रि गोले बरसाये। रात्रि के समय किले और नगर के ऊपर तोपों के गोले भयंकर दिखाई देते थे। पचास अथवा तीस सेर का गोला ऐसा मालूम होता था जैसे एक छोटी सी गेंद, किन्तु अँगारे की तरह लाल। ××× २६ तारीख के दोपहर को कम्पनी की सेना ने नगर के दक्षिणी फाटक पर इतने जोर से गोले बरसाये कि उस ओर की झाँसी की तोपे ठडी हो गई किसी को भी वहाँ खड़े रहने का साहस न हो सका। ××× इस पर पश्चिमी फाटक के तोपची ने अपनी तोप का मुँह उस ओर फेर कर शत्रु के ऊपर गोले बरसाने आरम्भ किये। तीसरे गोले ने अँगरेजी सेना के सबसे अच्छे तोपची को उड़ा दिया। इस पर अँगरेजी तोप ठडी हो गई। रानी लक्ष्मीबाई ने प्रसन्न होकर अपनी ओर से तोपची को जिसका:

नाम गुलामगौस खाँ था, सोने का कड़ा इनाम में दिया। ××× पांचवें या छठे दिन चार-पाँच घण्टे तक रानी की तोपों ने चमत्कार दिखाया। उस दिन अँगरेजों की ओर असख्य आदमी मारे गये और अनेक तोपे ठंढी हो गई। फिर अँगरेजी तोपे अधिक उत्साह से चलने लगीं। झांसी की सेना का दिल टूटने लगा और उनकी तोपे ठढी होने लगीं। सातवे दिन शाम को शत्रु के गोलों ने नगर के बाईं ओर की दीवार का एक भाग गिरा दिया और उस ओर की तोप ठंढी हो गई। कोई वहाँ पर खड़ा न रह सकता था किन्तु रात्रि के समय ११ मिस्त्री कम्बल ओढ़े दीवार तक पहुँचे और सबेरा होते-होते उस भाग की मरम्मत कर दी। सूर्य निकलने से पूर्व झांसी की तोप फिर अपना काम करने लगी। × × × कम्पनी की ओर इससे बहुत भारी नुकसान हुआ, यहाँ तक कि उनकी तोपें बहुत देर के लिए निकम्मी हो गईं। आठवे दिन प्रातःकाल कम्पनी की सेना शकर किले की ओर बढ़ी। दूरबीनों की सहायता से अँगरेजों ने किले के भीतर पानी के सोतो पर गोले बरसाने आरम्भ किये। ६-७ आदमी पानी लेने के लिए पहुँचे, जिनमे से चार वहीं पर मर गये, शेष अपने बर्तन छोड़ कर भाग आये। चार घंटे तक किसी को नहाने-धोने तक के लिए पानी न मिल सका। इस पर पश्चिमी और दक्षिणी फाटकों के तोपचियों ने कम्पनी की सेना के ऊपर लगातार गोलेबारी शुरू की और कम्पनी की जो तोपे शंकर किले पर आक्रमण कर रहीं थीं, उनका मुंह फेर दिया। तब जाकर लोगों को नहाने और पीने के लिए पानी मिल सका। इमली के वृक्षों के नीचे बारूद का एक कारखाना था। ××× एक गोला इस कारखाने पर पड़ा जिससे ३० आदमी और ८

स्त्रियां मर गईं। उसी दिन सबसे अधिक चिल्लाहट हुई। उस दिन का संग्राम भीषण था। बन्दूकों की आवाज दिलों को दहलाती थी, तोपें जोरों के साथ चल रही थी। जगह-जगह तुरही और बिगुल की आवाज सुनाई देती थी। आसमान धुए और धूल से भरा हुआ था। नगर की दीवार के ऊपर कई तोपची और अनेक सिपाही मारे गये। उनकी जगह दूसरे नियुक्त कर दिये गये। रानी लक्ष्मीबाई उस दिन बड़े परिश्रम के साथ कार्य करती रही। वह प्रत्येक वस्तु को स्वय देखती थी, आवश्यक आज्ञाएं जारी करती थी और दीवार मे जहाँ कमजोरी देखती थी, तुरन्त मरम्मत कराती। रानी की इस उपस्थिति से सिपाहियों की हिम्मत बेहद बढ़ गई। वे बराबर लड़ते रहे।"

किन्तु कम्पनी की विशाल सेना और उनके सामान के सामने झांसी की सेना का अकेले अधिक विलम्ब तक ठहर सकना असम्भव था।

उस समय तात्या टोपे अपनी सेना के साथ यमुना नदी के उत्तर मे था। यमुना पार कर के वह अब चरखारी के राजा के यहाँ पहुँचा। उसके पहुँचने पर भी चरखारी के राजा ने स्वाधीनता संग्राम मे भाग लेने से इन्कार कर दिया था। इस पर तात्या टोपे ने चरखारी पर आक्रमण किया। उसने राजा से २४ तोपें छीनीं और तीन लाख रुपये युद्ध के खर्च के लिए वसूल किये। इसके बाद तात्या कालपी पहुँचा।

कालपी में उसे रानी लक्ष्मीबाई का एक पत्र मिला जिसमे रानी ने उससे झांसी की सहायता के लिए पहुँचने की प्रार्थना की थी। पत्र को पाते ही तात्या झांसी की ओर बढ़ा। लिखा

हुआ मिलता है कि तात्या के अधीन एक विशाल सेना थी। कम्पनी की सेना एक बार संकट मे पड़ गई, सामने की ओर रानी लक्ष्मीबाई और पीछे कीओर तात्या टोपे की सेना। फिर भी कम्पनी की सेना ने इस समय बड़े साहस से काम लिया और विदित होता है कि तात्या टोपे की सेना ने बड़ी कायरता दिखाई। १ अप्रैल को अँगरेजी सेना ने साहस के साथ पीछे की ओर मुड़कर तात्या की सेना पर आक्रमण किया। तात्या. के लगभग डेढ़ हजार आदमी मारे गये और उनकी तोपे अँगरेजों के अधिकार में आ गईं।

अब तो झाँसी की दशा और भी अधिक निराशाजनक हो गई फिर भी रानी लक्ष्मीबाई ने साहस को नहीं खोया। ३ अप्रैल को अँगरेजी सेना ने झाँसी पर एक बार और आक्रमण किया। यही अन्तिम बार का आक्रमण.था। सभी ओर से एक ही साथ आक्रमण होने लगा। रानी अपने घोड़े के ऊपर सवार सिपाहियों और अफसरों के हौसले बढ़ाती हुई, उनमे जेवर और इनाम बाँटती हुई, बिजली के समान इधर से उधर फिर रही थी। शत्रु ने सब से पहले नगर के उत्तर की ओर सदर दरवाजे पर जोर दिया। आठ स्थानों पर सीढ़ियाँ लग गई। रानी की तोपों ने अपना काम जारी रखा। अँगरेज अफसर डिक और मिचेलजान ने सीढ़ियों पर चढ़ कर अपने साथियों को ललकारा, किन्तु तुरन्त दो गोलियों ने इन दोनों बहादुर अँगरेजों को वहीं पर ढेर कर दिया। बोनस और फाक्स ने उनके स्थान को ग्रहण किया और वे दोनों भी मार डाले गये। आठों सीढ़ियाँ टूट कर गिर पड़ी। इतिहास लेखक लो लिखता है कि झाँसी की दीवारों से गोलों और गोलियों की बौछार

उस दिन बहुत ही भयानक थी, जिसके कारण अँगरेजी सेना को पीछे हट जाना पड़ा।

किन्तु फिर भी जब कि उत्तर की ओर सदर दरवाजे की यह दशा थी कहा जाता है कि किसी भारतीय विश्वासघातक की सहायता से कम्पनी की सेना दक्षिणी दरवाजे से नगर मे घुस आई। इसके बाद कम्पनी की सेना एक स्थान के बाद दूसरे स्थान को विजय करती हुई महल की ओर बढ़ी। किले की दीवार के ऊपर से रानी ने नगर-निवासियों के संहार और उनकी दुर्दशा को देखा। वह तुरन्त एक हजार सैनिकों के साथ अँगरेजी सेना की ओर लपकी। दोनों ओर से बन्दूकों को फेक कर तलवारों की लड़ाई होने लगी। दोनों ओर असंख्य सैनिक मारे गये। कुछ दूर तक कम्पनी की सेना को फिर पीछे हटना पड़ा।

ठीक ऐसे ही समय मे किसी ने आकर रानी को यह सूचना दी कि सदर दरवाजे का रक्षक सरदार खुदाबख्श और तोपखाने का अफसर सरदार गुलाम गौस खॉ, दोनों ही मारे गये, जिसका तात्पर्य यह था कि उत्तर की ओर का दरवाजा अब शत्रु के लिए खुल गया। इस सूचना को सुनते ही रानी का दिल टूट गया। उसने एक बार किले के मैगजीन मे अपने हाथ से आग लगाकर उसके साथ प्राण दे देने का विचार किया। किन्तु फिर अधिक सोच समझ कर उसने झॉसी से बाहर कहीं और पहुँचकर स्वाधीनता-संग्राम मे सहायता देने का निश्चय किया। इसके बाद ही झॉसी के नगर पर अँगरेजी सेना का अधिकार हो गया।

रानी लक्ष्मीबाई ने उसी दिन रात को सदा के लिए झॉसी

छोड़ दिया। हथियार बाँधे हुए, मर्दाना भेष मे, अपने दत्तक पुत्र दामोदर को कमर से कसे हुए वह किले की दीवार के ऊपर से एक हाथी की पीठ पर कूद पड़ी, फिर वह अपने प्यारे सफेद घोड़े पर सवार हुई, १० या १५ सवार भी उसने अपने साथ लिये और कालपी की ओर चल पड़ी।

उसी समय लेफ्टिनेन्ट बोकर ने कुछ चुने हुए सवार लेकर रानी का पीछा किया। रानी और उसके साथियों ने अपने घोड़ों को सरपट छोड़ दिया। बोकर और उसके साथी सवार बराबर पीछा करते रहे। सबेरा होते-होते रानी एक क्षण भरके लिए भाण्डेर नामक ग्राम के समीप रुकी। गांव से दूध लेकर उसने दामोदर को पिलाया। अँगरेजी सैन्यदल यहाँ भी पीछा करता हुआ आ पहुँचा। रानी तुरन्त अपने साथियों के साथ फिर घोड़े पर चढ़कर कालपी की ओर बढ़ी। लेफ्टिनेन्ट बोकर का घोड़ा रानी के घोड़े के पास आ पहुँचा। रानी ने तुरन्त अपनी तलवार खीच ली। रानी लक्ष्मीबाई की तलवार के एक ही वार मे घायल हो बोकर अपने घोड़े से गिर पड़ा। इतने मे ही रानी के साथ के सवारों मे और बोकर के साथ के सवारों मे तलवार के हाथ होने लगे। अन्त मे घायल बोकर और उसके साथी सवार हार कर पीछे रह गये। रानी और उसके साथियों ने फिर अपने घोड़ों को सरपट छोड़ दिया। सुबह से दोपहर हो गया और फिर दोपहर से तीसरा पहर हुआ किन्तु कहीं भी रानी को ठहरने का अवकाश न मिल सका। चलते-चलते शाम हो गई, धीरे-धीरे नीले आसमान मे तारे छिटकने लगे किन्तु फिर भी रानी न रुकी। अन्त मे लगभग आधी रात के समय अपने बच्चे दामोदर को कमर से बाँधे हुए झाँसी से कालपी

तक १०२ मील से ऊपर का रास्ता तय करके रानी लक्ष्मीबाई ने कालपी में प्रवेश किया। कालपी पहुँचते ही रानी का प्यारा घोड़ा मर गया। शेष रात रानी ने कालपी में विश्राम किया। प्रातःकाल होने पर नाना साहब के भतीजे राव साहब, सेनापति तात्या टोपे और लक्ष्मीबाई में परस्पर बातें हुईं।

जिस प्रकार सर ह्यू रोज मऊ से झाँसी की ओर रवाना हुआ था उसी प्रकार जनरल ह्विटलाक १७ फर्वरी सन् १८५८ को जबलपुर से सागर इत्यादि फिर से विजय करने के लिए निकला था। ह्विटलाक के साथ भी पर्याप्त गोरी और देशी पलटनें थीं। ओरछा का राजा ह्विटलाक के साथ हो गया। सागर के बाद ह्विटलाक बाँदा की ओर बढ़ा। बाँदा के नवाब ने अनेक अँगरेजों को अपने महल में आश्रय दे रखा था, उनके साथ उसका व्यवहार बहुत ही उदार था किन्तु यह सब होते हुए भी वह अपने प्रान्त के विप्लवकारियों का एक मुख्य नेता था। आरम्भ में ही उसने बाँदा से अँगरेजी-राज्य के चिन्ह उखाड़ कर सम्राट् बहादुरशाह का हरा झण्डा नगर के ऊपर फहरा दिया था।

इसलिए ह्विटलाक को अपनी ओर बढ़ते देखकर नवाब सामना करने को तैयार हो गया। कई लड़ाइयाँ हुईं और अन्त में नवाब को ही हारना पड़ा। विजयी ह्विटलाक ने १९ अप्रैल को बाँदा में प्रवेश किया। नगर छोड़कर अपनी थोड़ी-सी सेना के साथ नवाब कालपी की ओर निकल गया।

नवाब को जीत लेने और बाँदा में प्रवेश करने के बाद ह्विटलाक ने करवी के राव माधोराव पर चढ़ाई की। उस समय माधोराव दस वर्ष का बालक था। उसकी नाबालिगी के

के दिनों में रियासत का प्रबन्ध कम्पनी द्वारा नियुक्त किये हुए एक कारबारी के हाथों मे था। इतना ही नहीं, करवी के राव ने सन् १८५७ के विप्लव में किसी प्रकार का भाग भी नहीं लिया था। जिस समय उसने ह्विटलाक के आने का समाचार सुना उसी समय वह उसके स्वागत के लिए आगे बढ़ा। बिना किसी प्रकार के रोक-टोक के ह्विटलाक और उसकी सेना ने नगर मे प्रवेश किया और राजधानी के महल मे पहुँचते ही बालक माधोराव को गिरफ्तार कर लिया, महल को गिरा दिया; राजधानी को लूट लिया और रियासत को कम्पनी के राज्य मे मिला लिया। करवी की इस घटना के सम्बन्ध मे इतिहास-लेखक मालेसन लिखता है—

"ह्विटलाक की सेना के ऊपर वहाँ किसी ने एक गोली भी नहीं चलाई थी फिर भी ह्विटलाक ने इरादा कर लिया कि बालक राव के साथ इस प्रकार का व्यवहार किया जाय जैसा किसी ऐसे मनुष्य के साथ किया जाता है जो अँगरेजी सेना के विरुद्ध लड़ा हो। इस बेइमानी और अन्याय का कारण यह था कि करवी के महल मे माल भरा हुआ था जिससे सिपाहियों को अनेक कठिन संग्रामों और गर्मी की कष्टकर यात्राओं के लिए इनाम दिये जा सकते थे। करवी के महल के तहखानों और खजानों में सोना, चाँदी, जवाहरात और कीमती हीरे भरे हुए थे। × × × ह्विटलाक को इस धन का लोभ था।"

करवी की ऐसी दुर्दशा करने के बाद ह्विटलाक महोबा पहुँचा। वहाँ से उसने सभी ओर अपनी सेना भेज कर आस-पास के विप्लवकारियों का दमन करना आरम्भ कर दिया। रानी लक्ष्मीबाई, रावसाहब, तात्या टोपे, बाँदा का

नवाब, शाहगढ़ और बानापुर के राजा तथा अन्य अनेक विप्लवकारी नेता उस समय अपनी-अपनी सेना के साथ कालपी मे मौजूद थे।

इस विशाल सैन्यदल के लिए शत्रु पर विजय प्राप्त कर लेना कोई विशेष कठिन कार्य न था किन्तु इन सब विप्लवकारियों मे कोई ऐसा योग्य और प्रभावशाली व्यक्ति न था जो शेष सब को अपने अनुशासन अथवा आज्ञा के अधीन कर सकता। निस्सन्देह झाँसी की रानी लक्ष्मीबाई उन सबों मे अधिक योग्य थी किन्तु वह स्त्री थी और उस समय उसकी उम्र केवल २२ वर्ष की थी। तात्या टोपे वीर और दक्ष सेनापति था किन्तु वह एक साधारण घराने मे उत्पन्न हुआ था। वह एक ऐसा समय था जब कि प्राचीन प्रतिष्ठित वंश के नरेशों का किसी स्त्री के या साधारण परिवार मे उत्पन्न हुए मनुष्य के अधीन काम करना इतना सरल न था जितना कि इस समय सरल समझा जा रहा है।

यहाँ पर भी यह वही दोष था जो दिल्ली के पतन का मुख्य कारण हो चुका था और अवध के विप्लवकारियों को भी इसी दोष के कारण अपने प्रयत्नों में असफल होना पड़ा। इतना सब होते हुए भी रानी लक्ष्मीबाई थोड़ी-सी सेना लेकर कालपी से ४२ मील दूर तक कंचगाँव पहुँची। कंचगाँव मे फिर सर ह्यूरोज की सेना से लक्ष्मीबाई की सेना का आमना-सामना हुआ और उधर विप्लवकारी नेताओं में मतभेद और अव्यवस्था बनी ही रही। किसी ने भी रानी लक्ष्मीबाई की भरपूर सहायता नहीं की। उसका कुपरिणाम यह हुआ कि कचगाँव मे फिर विप्लवकारियों को पराजित होना पड़ा। इतिहास-लेखक मालेसन

बड़ी प्रशंसा के साथ लिखता है कि पराजय के बाद विप्लव-कारी सेना आश्चर्यजनक व्यवस्था के साथ कालपी की ओर लौट आई। किन्तु इस स्थल पर हमें यही कहना पड़ता है कि यह व्यवस्था उनमें पराजय के बाद पैदा हुई होगी अथवा ऐसा भी हो सकता है कि रानी लक्ष्मीबाई की योग्यता के कारण ही व्यवस्था बनी रही होगी।

कचगाँव में विजयी होते ही सर ह्यू रोज ने तुरन्त कालपी पर चढ़ाई कर दी। रानी लक्ष्मीबाई ने फिर अपनी पराजित सेना को प्रोत्साहित किया। वह अपने सवारों के साथ स्वय सर ह्यू रोज का सामना करने के लिए आगे बढ़ी। भयानक और प्रचण्ड रूप से कालपी के मैदान में संग्राम होने लगा। उस संग्राम में भी रानी लक्ष्मीबाई ऐसी वीरता के साथ लड़ी कि एक बार अँगरेजी सेना के दाहिने भाग को पीछे हट जाना पड़ा। कम्पनी के तोपची अपनी तोपें छोड़ कर भाग गये। लक्ष्मीबाई अपने घोड़े पर सब से आगे थी। इसके बाद सर ह्यू रोज बाईं ओर से मुड़कर लक्ष्मीबाई का सामना करने के लिए आगे बढ़ा। अन्त में मैदान सर ह्यू रोज के हाथों रहा। २४ मई को कम्पनी की सेना ने कालपी में प्रवेश किया कालपी के किले में अगरेजों को लगभग सात सौ मन बारूद और अनेक अस्त्र-शस्त्र तथा अन्य बहुत सा सामान मिल गया। रानी लक्ष्मीबाई राव साहब और बाँदा के नवाब तथा थोड़ी-सी सेना के साथ कालपी छोड़कर निकल गई।

हम मानते हैं कि कालपी के संग्राम में विप्लवकारियों की हार से भारत पर दुर्दिन के बादल और भी भयानक रूप से छा जाने लगे किन्तु साथ हमें यह भी स्वीकार करना पड़ता है

कि सर ह्यू रोज जो इस समय तक लगभग एक हजार मील की कठिन यात्रा कर, पहाड़ों, जंगलों और नदियों को पार कर, बड़ी-बड़ी सेनाओं पर विजय प्राप्त कर चुका था और नर्मदा से यमुना तक का प्रदेश कम्पनी के लिए फिर से विजय कर चुका था, कम्पनी के अत्यन्त योग्य और बीर सेनापतियों मे से था।

कालपी के युद्ध मे पराजित होने के बाद विप्लवकारियों के पास न तो सामान था, न कोई योग्य सेना ही थी और न कोई सुदृढ़ किला ही उनकी रक्षा के लिए था फिर भी रानी लक्ष्मीबाई और तात्या टोपे मे साहस ज्यों का त्यों बना ही रहा। गुप्त रूप से कालपी से निकल कर तात्या टोपे ग्वालियर पहुँचा। ग्वालियर मे उसने महाराजा सींधिया की सेना और प्रजा को अपनी ओर कर लिया। नई सेना को साथ लेकर वह फिर पीछे की ओर मुड़ा। गोपालपुर मे तात्या, लक्ष्मीबाई, बाँदा के नवाब और रावसाहब की फिर भेंट हुई। लक्ष्मीबाई, ने अब रावसाहब को सब से पहिले ग्वालियर विजय करने की सलाह दी जिससे कि विप्लवकारियों का फिर से एक नया केन्द्र बन सके। २८ मई सन् १८५८ को सब विप्लवकारी सेना अपने अपने नेताओं के साथ ग्वालियर के समीप पहुँच गई। विप्लवकारी नेताओं ने मिलकर महाराजा सींधिया के पास निम्नलिखित पत्र को भेज दिया—

"हम लोग आपके समीप मित्र के भाव से आ रहे हैं आप हमारे और अपने पूर्व सम्बन्ध को स्मरण कीजिए। हमे आपसे सहायता की आशा है ताकि हम दक्षिण की ओर बढ़ सके।"

इसी प्रकार की कुछ और बातें उस पत्र में थी। किन्तु

जयाजीराव सींधिया इन लोगों की ओर मित्रता के भावों को दिखाने के स्थान पर १ जून सन् १८५७ को अपनी सेना और तोपों के सामने उनका सामना करने के लिए निकल पड़ा। सींधिया के इस भाव को देख कर तीन सौ सवारों के साथ रानी लक्ष्मी बाई सीधिया की तोपों पर टूट पड़ी। उधर सींधिया की अधिकॉश सेना पहले ही तात्या को बचन दे चुकी थी। ये लोग तुरन्त अपने अफसरों के साथ विप्लवकारियों की ओर आकर मिल गये। ऐसे ही अवसर पर ग्वालियर की समस्त तोपे ठंडी हो गई।

ग्वालियर के राजा जयाजीराव और उसके मंत्री दिनकर-राव को मैदान छोड़कर आगरे की ओर भाग जाना पड़ा। ग्वालियर की प्रजा ने हर्ष और उल्लास के साथ विजयी विप्लव-कारियों का स्वागत किया। ग्वालियर की सेना ने पेशवा नाना साहब के प्रतिनिधि रावसाहब को ही पेशवा मानकर तोपों की सलामी दी। सींधिया के अर्थ-मत्री अमरचन्द भाटिया ने सींधिया का सारा खजाना विप्लवकारी नेताओं के हाथो मे दे दिया।

३ जून सन् १८५८ को फूलबाग मे एक बहुत बड़ा जलसा और दरबार हुआ। समस्त सामन्तों, सरदारों और अमीरों ने भी अपना-अपना स्थान ग्रहण किया। अरब, रुहेला, राजपूत और मराठा पलटंने अपनी अपनी वर्दियॉ पहने दरबार मे जमा हो गई। पेशवा का शिरयाना और कलगी तुर्रा रावसाहब के मस्तक पर रखा गया। समस्त दरबार ने रावसाहब को पेशवा स्वीकार किया पेशवा के मंत्री भी नियुक्त किये गये। तात्या टोपे प्रधान सेनापति के पद पर नियुक्त कर दिया गया। बीस लाख रुपये सेना मे बॉट दिये गये और अत मे तोपों की सलामी हुई।

इस प्रकार तात्या टोपे और झाँसी की रानी लक्ष्मीबाई ने दिल्ली, कानपुर और लखनऊ के स्थान पर सन् १८५७-५८ के विप्लवकारियों को एक नया और महत्वपूर्ण केन्द्र प्रदान किया। तात्या टोपे और झाँसी की रानी लक्ष्मीबाई के इस कारनामे का वर्णन करते हुए इतिहास-लेखक मालेसन लिखता है—

"इस प्रकार जो बात असंभव मालूम होती थी, वह हो गई। × × × सर ह्यू रोज समझ गया कि अब विलम्ब करने से कितना बड़ा नुकसान अवश्यम्भावी है। यदि ग्वालियर तुरन्त विप्लवकारियों के हाथों से नहीं छीन लिया गया तो कोई यह पहले से नही कह सकता कि परिणाम कितना अधिक बुरा हो सकता है। यदि विप्लवकारियों को अवकाश मिल गया तो तात्या टोपे जिसका राजनैतिक और सैनिक बल ग्वालियर पर अधिकार हो जाने के कारण बेहद बढ़ गया है और जिसके पास इस समय ग्वालियर के समस्त जन वहाँ का धन और सामान मौजूद है। कालपी की पराजित सेना के अवशेषों पर एक नई सेना खड़ी कर लेगा और समस्त भारत के अन्दर एक मराठा विप्लव उत्पन्न कर देगा। तात्या टोपे इस काम मे बड़ा चतुर था। ऐसी दशा मे सम्भव है कि वह पेशवा झडा फहराकर दक्षिण मे महाराष्ट्र के जिलों को भड़का दे। उन जिलों में अँगरेजी सेना शेष नहीं रह गई है। यदि मध्य भारत मे विप्लवकारियों को प्रर्याप्त सफलता मिल गई तो संभव है कि दक्षिण के निवासी फिर से पेशवा की उस सत्ता के लिए खड़े हो जायँ जिसके लिए उनके पुर्वज संग्राम कर चुके थे। और अपना रक्त बहा चुके थे।"

इधर ज्यों ही ग्वालियर विप्लवकारियों के अधिकार मे आ गया और वहाँ उन सबों ने अपना शासन स्थापित कर लिया त्यों ही रानी लक्ष्मीबाई ने इस बात पर जोर दिया कि और सब काम छोड़ कर सेना को तुरन्त इकट्ठी और व्यवस्थित कर मैदान मे लाया जाय। राव साहब और अन्य नेताओं ने रानी की इस सलाह को उपेक्षा की दृष्टि से देखा और विशेष ध्यान नहीं दिया। निमन्त्रणों और उत्सवों मे अमूल्य समय नष्ट किया जाने लगा। इतने मे सर ह्यू रोज अपनी सेना के साथ आ पहुँचा और बड़े ही वेग के साथ ग्वालियर पर टूट पड़ा। सर ह्यू रोज ने महाराज सीधिया को अपने साथ रखा और इस बात की घोषणा करा दी कि कम्पनी की सेना केवल सीधिया को ग्वालियर की गद्दी पर फिर से स्थापित करने के लिये आक्रमण करने आई है।

इस पर कम्पनी की सेना और सर ह्यू रोज का सामना करने के लिए तात्या टोपे आगे बढ़ा। इस आक्रमण से पहले ही एक बार ग्वालियर की सेना कम्पनी की सेना से उत्तर भारत के युद्ध मे हार खा चुकी थी। इसलिए थोड़ी ही देर के सग्राम मे ग्वालियर की सेना मे उथल-पुथल मच गई। रावसाहब घबरा गया लक्ष्मीबाई ने फिर एक बार बिखरी हुई सेना मे नये जीवन का संचार किया। उसने फिर से सेना की दृढ़ व्यूह रचना की और ग्वालियर नगर के पूर्वीय फाटक की रक्षा का भार स्वयं अपने कधों पर ले लिया।

इस प्रकार झाँसी की रानी लक्ष्मीबाई पुनः सग्राम के मैदान मे उतर पड़ी। उस समय उसके साथ उसकी दो सहेलियाँ

मन्दरा और काशी घोड़ों पर सवार वीरता के साथ शत्रुओं पर शस्त्र चला रही थीं। कम्पनी की सेना का प्रसिद्ध सेनापति जनरल स्मिथ अब लक्ष्मीबाई का सामना करने के लिए बढ़ा। कई बार स्मिथ की सेना ने पूर्वीय फाटक पर आक्रकण किया किन्तु प्रत्येक बार उसे हार कर पीछे हट जाना पड़ा। कई बार रानी लक्ष्मीबाई ने फाटक से निकल कर बाहर की सेना पर हमला किया और अनेक शत्रुओं को मैदान मे समाप्त कर फिर अपने फाटक को आ सम्भाला। इतिहास की पुस्तकों मे लिखा हुआ मिलता है कि लक्ष्मीबाई उस दिन सवेरे से शाम तक घोड़े पर सवार बिजली के समान इधर से उधर जाती हुई दिखाई देती रही। अन्त मे जनरल स्मिथ को उस ओर का प्रयत्न छोड़ कर पीछे हट जाना पड़ा। १७ जून सन् १८५८ का मैदान झाँसी की रानी लक्ष्मीबाई के ही हाथों रहा। १८ जून को जनरल स्मिथ और अधिक सेना लेकर फिर उसी फाटक पर पहुँचा। उस दिन अँगरेजी सेना ने कई ओर से ग्वालियर के किले पर हमला किया। जनरल स्मिथ के साथ सेनापति सर ह्यू रोज भी रानी लक्ष्मीबाई का सामना करने के लिए पूर्वीव फाटक के सामने दिखाई दिया। बहुत सवेरे, जब कि लक्ष्मीबाई अपनी दोनों सहेलियों के साथ शर्बत पी रही थी, सूचना मिली, कि कम्पनी की सेना बढ़ी चली आ रही है। तुरन्त शर्बत का कटोरा फेंक कर रानी लक्ष्मीबाई अपनी सहेलियों के साथ आगे बढ़ी। उस दिन रानी लक्ष्मीबाई मर्दाना भेष मे थी। एक अँगरेज दर्शक लिखता है—

"तुरन्त सुन्दर रानी मैदान मे पहुँच गई। सर ह्यू रोज की सेना के मुकाबले मे उसने दृढ़ता के साथ अपनी सेना को

खड़ा किया। प्रचंड वेग के साथ उसने बार-बार सर ह्यू रोज की सेना पर आक्रमण किया। रानी की सेना कई स्थानों मे शत्रु के गोलों से बिंध गई। उसके सैनिकों की संख्या निरन्तर कम होती चली गई। फिर भी रानी सर्वदा सब के आगे दिखाई देती थी। बार बार वह अपनी बिखरी सेना को जमा करती रही और पग-पग पर अलौकिक वीरता का परिचय देती रही। किन्तु इस सब से भी काम न चला। स्वयं सर ह्यू रोज ने अपने साँडनी सवारों के साथ आगे बढ़कर रानी लक्ष्मीबाई की अतिम व्यूह रचना को तोड़ डाला। इस पर भी वीर और निर्भीक रानी अपने स्थान पर डटी रही।"

उस समय जब कि रानी लक्ष्मीबाई अपने इस अलौकिक वीरता के साथ सर ह्यू रोज का सामना कर रही थी, तब शेष अँगरेजी सेना अन्य विप्लवकारी दलों को चीरती हुई पीछे की ओर से रानी पर आकर टूट पड़ी। अब तो रानी दोनों ही ओर से घिर गई। ग्वालियर की तोपें ठंढी हो गईं। मुख्य सेना तितर-बितर हो गई। विजयी अँगरेजी सेना चारों ओर से रानी के अधिक समीप बढ़ी चली आ रही थी। रानी के केवल उनकी दोनों सहेलियाँ और १५ या २० सवार बाकी रह गये। रानी ने अपने घोड़े को सरपट छोड़ा और शत्रु की सेना को चीरते हुए दूसरे ओर की विप्लवकारी सेना से जाकर मिलना चाहा। उसी समय अँगरेज सवारों ने उसका पीछा किया। लक्ष्मीबाई अपनी तलवार से मार्ग काटती हुई आगे बढ़ी।

अचानक एक गोली उसकी सहेली मन्दरा के आकर लगी। घोड़े से गिर कर मन्दरा चिरकाल के लिए सुरपुर को सिधार गई। तुरन्त रानी ने मुड़कर अपनी तलवार से उस गोरे सवार

पर वार किया, जिसकी गोली ने मन्दरा को सुरपुर भेजा था। सवार कट कर गिर पड़ा, रानी फिर आगे बढ़ी। सामने एक छोटा-सा नाला था। एक छलॉग के बाद ऍंगरेज सवारों का रानी लक्ष्मीबाई को छू सकना असम्भव हो जाता किन्तु दुर्भाग्य-वश रानी का घोड़ा नया था। पिछले संग्रामों मे भयानक युद्ध करते-करते उसके कई प्यारे घोड़े उसकी सवारी मे समाप्त हो चुके थे। घोड़ा बजाय छलॉग मारने के नाले के इस पार चक्कर खाने लगा। ऍंगरेज सवार अब और अधिक निकट आ पहुँचे। रानी चारों ओर से घिर गई और उस समय वह बिलकुल अकेली ही थी। सहायता के लिए उसके साथ कोई नहीं था यहॉ तक कि घोड़ा भी धोखा दे चुका था।

कुछ भी हो, रानी मे साहस अटूट था और वीरता के भावों की भी कमी न थी। इसलिए उसने अकेले ही उन सब का अपनी तलवार से सामना किया। शत्रु की ओर के एक सवार ने पीछे से आकर रानी के सिर पर वार किया। उसके वार करते ही रानी के मस्तक का दहिना भाग अलग हो गया। दाहिनी ऑख भी निकल कर बाहर आ गई, फिर भी लक्ष्मी-बाई घोड़े पर डटी हुई अपनी तलवार चलाती रही। इतने मे एक वार रानी की छाती पर हुआ। सिर और छाती दोनों से खून का फव्वारा छूटने लगा। अचेत होते होते रानी ने अपनी तलवार से उस गोरे सवार को जिसने सामने से रानी पर वार किया था, काट कर गिरा दिया! किन्तु इसके बाद लक्ष्मीबाई की भुजा मे और अधिक बल न रह गया। सारी शक्ति धीरे-धीरे क्षीण होने लगी। उस समय रानी लक्ष्मीबाई का एक विश्वासपात्र सेवक रामचन्द्रराव देशमुख रानी के

समीप ही था। घटना-स्थल के निकट बाबा गंगादास की कुटिया थी। रानी को उठाकर रामचन्द्रराव उस कुटिया मे ले गया। बाबा गगादास ने रानी को पीने के लिए ठंढा पानी दिया और उसे अपनी कुटिया मे लिटा दिया। थोड़े ही समय के अन्दर रानी लक्ष्मीबाई का शरीर ठंडा पड़ गया और इस संसार मे अपने जीवन की अमर कहानी और वीरता से पूर्ण निर्मल कीर्ति को छोड़ कर परमधाम को शान्ति लाभ करने के लिए चली गई।

रानी की अन्तिम इच्छा के अनुसार रामचन्द्रराव ने शत्रु से छिपाकर घास की एक छोटी-सी चिता बनाई और उस पर रानी लक्ष्मीबाई के मृत शरीर को लिटा दिया। थोड़ी देर मे ही आग की लपटों मे लक्ष्मीबाई के शरीर की केवल अस्थियाँ शेष रह गईं और यह सब सांसारिक कथानक रह गया।

इसमे सन्देह नहीं कि झाँसी की रानी लक्ष्मीबाई का व्यक्तिगत समस्त जीवन जितना पवित्र और कलंकहीन था, उसकी परलोक-यात्रा भी उतनी ही प्रशसनीय और विरोचित थी। संसार के इतिहास और सामरिक क्षेत्रों मे कदाचित् विरले ही उदाहरण इस प्रकार की वीर और पवित्र स्त्रियों के मिलेगे जिन्होंने इतनी कम आयु मे इस प्रकार शुद्ध जीवन व्यतीत करने के वाद झाँसी की रानी लक्ष्मीबाई के समान अलौकिक वीरता और असाधारण युद्ध कौशल के साथ कसी भी देश की स्वाधीनता के लिए संग्राम किया हो अथवा इस प्रकार अपने आदर्श के लिए लड़ते लड़ते युद्ध क्षेत्र मे परमधाम को लाभ कर लिया हो।

इतिहास लेखक विन्सेण्ट स्मिथ ने जो भारतवर्ष के आदर्शों

या भारतवर्ष के रहनेवालों के मनुष्योचित अधिकारों का अधिक पक्षपाती नहीं है, महारानी लक्ष्मीबाई को "स्वाधीनता-संग्राम के नेताओं में सब से अधिक योग्य नेता" स्वीकार किया है। आज भी भारतीय जनता "खूब लड़ी मर्दानी, वह तो झाँसी वाली रानी थी।" हिन्दी साहित्य की प्रसिद्ध कवियत्री सुभद्रा कुमारी चौहान के इन्हीं वाक्यों के साथ नित्य झाँसी की रानी लक्ष्मीबाई को बड़ी श्रद्धा के भावों से स्मरण करती रहती है।

मध्यप्रान्त और दक्षिणी भारत की घटनाएँ

अभी तक जिन सब घटनाओं का वर्णन करते हुए हम चले आ रहे हैं उन सब से यह प्रमाणित है कि सन् १८५७ के विप्लव का मुख्य क्षेत्र उत्तरी भारत ही था। यदि विन्ध्याचल से लेकर दक्षिण भारत का समस्त भाग उसी प्रकार इस विप्लव मे संगठित हो जाता जिस प्रकार उत्तरी भारत का भाग संगठित हो चुका था तो मद्रास और बम्बई वाली अँगरेजी सेनाओं का उत्तरी भारत की ओर बढ़ कर बिहार, बनारस, इलाहाबाद, अवध और रुहेलखण्ड के वीर विप्लवकारियों को फिर से विजय कर सकना असम्भव हो जाता और सन् १८५७ के विप्लव का अन्तिम परिणाम कुछ दूसरा ही होता। यह सत्य है कि उत्तरी भारत के विप्लव-प्रचारक दक्षिण भारत मे पहुँच चुके थे और उनके प्रचार से वहाँ के अनेक स्थानों में कुछ हुआ भी किन्तु वह सब इतने कम समय मे और इतने अव्यवस्थित ढंग से हुआ कि अँगरेजों के लिए उसे दबा देना अत्यन्त सरल हो गया और वहाँ के विप्लवकारियों को उससे किसी भी प्रकार का विशेष लाभ न पहुँच सका।

लन्दन के अन्दर रंगो बापू जी और अजीमुल्ला खाँ की भेंट का वर्णन हम इसी पुस्तक के प्रारम्भ में ही कर चुके हैं। पाठक भी कदाचित् इसे भूले न होंगे। वही रंगो बापूजी सतारा में बैठ कर नाना साहब के साथ पत्र व्यवहार करता रहा और वहीं से दक्षिण भारत के अनेक सरदारों और नरेशों को विप्लव

के पक्ष मे करने का विशेष रूप से प्रयत्न करता रहा। परिणाम यह हुआ कि १३ जुलाई सन् १८५७ को कोल्हापुर की देशी पलटन अँगरेजों के विरुद्ध बिगड़ खड़ी हुई। सिपाहियों ने अपने कई अँगरेज अफसरों को मार डाला और खजाने पर अधिकार जमा लिया किन्तु इस घटना के थोड़े ही महीनों के भीतर अँगरेजों ने वहाँ के विप्लवकारियों को दबा लिया और जितने विप्लवकारी थे सभी शान्त होकर बैठ गये। १५ दिसम्बर को महाराजा के छोटे भाई चिमना साहब की सहायता से कोल्हापुर के नगर मे फिर से विप्लव होने लगा। नगर के फाटक बन्द कर दिये गये, नगर की दीवारों पर तोपे चढ़ा दी गई और स्वाधीनता का डंका सभी ओर बजवा दिया गया। इतने ही पर वहाँ अँगरेजी सेना पहुँच गई और भयानक घमासान संग्राम होने लगा। बड़ी देर तक संग्राम होता रहा और अन्त मे विजय अंगरेजों की ही रही। विजयी होते ही अँगरेज दानवता का प्रदर्शन करने लगे और उसी प्रदर्शन को सफल बनाने के लिये कोल्हापुर के निवासियों को तोपों के मुँह के पास खड़ा करके उड़ाने लगे। कितने मरे, कितने घायल हुए और कितने निरपराध तोपों के मुँह से उड़ाये गये, इसका वर्णन कर सकना कठिन है।

जिस प्रकार कोल्हापुर की देशी पलटन मे विप्लव के लक्षण आने लगे थे उसी प्रकार अगस्त सन् १८५७ में बेलगाँव की देशी पलटन मे विप्लव के लक्षण दिखाई देने लगे थे किन्तु तुरन्त ही वहाँ के विप्लवकारी नेताओं को तोप के मुँह से उड़ा दिया गया। बेलगाँव और धारवाड़ को भी शान्त कर दिया। इधर रंगो बापूजी का एक बेटा फाँसी पर लटका दिया गया। सतारा राजकुल के दो व्यक्तियों को निर्वासित कर दिया गया। रंगो

बापूजी सतारा से हट गया। उसको पकड़ने के लिए बड़े-बड़े इनामों की घोषणा की गई और अनेक गुप्तचर नियुक्त किये गये किन्तु फिर भी उसका पता न चल सका।

विप्लव के दिनों मे ही बम्बई की कई देशी पलटनों ने निश्चय कर रखा था कि पहले बम्बई शहर मे विप्लव के कार्यों को आरम्भ किया जाय और फिर पूना पर आक्रमण करके वहाँ पर अपना अधिकार जमा लिया जाय। यदि पूर्णरूप से अधिकार जम गया तो नाना साहब को पेशवा मानकर उसकी घोषणा कर दी जाय। इसी प्रकार के परामर्शों मे ही बम्बई के सिपाही बहुत सा समय नष्ट करने लगे और ऑगरेजों को उनके सभी इरादों का पता चलता गया। ऐसी दशा मे वही हुआ जो होना चाहिये था अर्थात् कुछ सिपाहियों को फॉसी दे दी गई, कुछ को देश से निर्वासित कर दिया गया और विप्लव की जो अग्नि जलने वाली थी उसे जलने से पहले ही शान्त कर दिया।

नागपुर के समीप की छावनी मे कुछ देशी सिपाहियों ने १३ जून सन् १८५७ के दिन विप्लव करने का निश्चय कर लिया था। वहाँ के और आस-पास के बड़े-बड़े नागरिक और दूसरे वर्ग के मुख्य-मुख्य व्यक्ति विप्लव की इस योजना मे सम्मिलित होने का वचन भी दे चुके थे। सभी प्रकार की तैयारियाँ हो चुकी थीं किन्तु १६ जून से पहले ही नागपुर पहुँच कर मद्रास की देशी पलटनों ने विप्लवकारियों को ऐसा दबाया कि वे कुछ कर भी न सके और बड़ी सरलता से ठीक कर लिये गये।

जबलपुर प्रान्त का गोंड राजा शंकरसिंह और उसका पुत्र ये दोनों ही सच्चे देशभक्त, स्वाधीनता के प्रेमी और विप्लव के पक्के साथी थे। उन्होंने जबलपुर की ५२ नम्बर देशी पलटन

को बड़ी ही बुद्धिमानी के साथ अपनी ओर कर लिया था किन्तु दुर्भाग्य से कुछ ऐसे देशद्रोही गुप्तचर पीछे लग गये थे, जिनके कारण अँगरेजों को सारा हाल मालूम होता चला गया। जब जबलपुर की देशी पलटन और वहाँ का गोंड राजा तथा राजकुमार विप्लव की भयानक अग्नि जलानेवाले थे तब अँगरेजों ने गोंडराजा और उसके पुत्र को तुरन्त कैद कर लिया। इसके बाद वही दानवता का नंगा चित्र जनता के सामने दिखाने का प्रयत्न किया जिसे वे भारत के सभी स्थानों मे दिखाते चले आ रहे थे अर्थात् १८ सितम्बर सन् १८५७ के दिन अँगरेजों ने राजा शंकर-सिंह और उसके पुत्र को तोप के मुंह से उड़ा दिया। इस क्रूर और वीभत्स घटना का प्रभाव ऐसा पड़ा कि ५२ नम्बर की देशी पलटन बिगड़ खड़ी हुई। परिणाम यही हुआ कि वहाँ का एक अँगरेज अफसर तुरन्त मार डाला गया और ५२ नम्बर पलटन के थोड़े-से सिपाहियों ने अन्य स्थानों पर जाकर विप्लव मे भाग लिया। दिल्ली के शाहजादे फीरोजशाह ने रियासत धार मे, महीदपुर मे, गोरिना मे और इसी प्रकार अन्य कई स्थानों मे विप्लव की योजनाएँ की किन्तु कहीं भी विशेष सफलता न हो सकी।

अब हम चाहते हैं कि पाठक दक्षिण हैदराबाद की ओर भी कुछ देर के लिए घूम पड़ें। सन् १८५७ के विप्लव मे यहाँ का निजाम अफजलुद्दौला और उसका वजीर सर सालारजंग किस विचारधारा का था, यह भी जान लेना आवश्यक है।

रियासत हैदराबाद की नीति सदा से विचित्र रही है। इसे नित्य इस बात का अभिमान रहा है कि भारतवर्ष मे मेरे समान दूसरा कोई नहीं है। उसके इस अभिमान का कारण यही है

है कि यह रियासत जन-संख्या के विचार से अब भारतवर्ष की रियासतों मे सब से बड़ी है और सब से अधिक धनवान भी है। इस रियासत का क्षेत्रफल ८२६९८ वर्ग मील है। यहाँ की ८२ प्रतिशत जनता अब भी हिन्दू है और राजवश मुसलमान हैं। शासक 'निजाम' के नाम से प्रसिद्ध है। क्षेत्रफल के विचार से इस देश की सबसे बड़ी रियासत काश्मीर है किन्तु काश्मीर का अधिक भाग पहाड़ी है इसलिए वहाँ की आबादी हैदराबाद की आबादी से कहीं कम है। थोड़े मे यों समझ लेना चाहिए कि काश्मीर की आबादी से हैदराबाद की आबादी चौगनी है और हैदराबाद की भूमि उपजाऊ और धन-धान्य से पूर्ण होने के कारण यह भारतवर्ष की प्रमुख रियासत हो गई है। यह रियासत तीन भागों मे विभक्त है। आन्ध्र, महाराष्ट्र और कर्नाटक। ये तीनों भाग भाषा और संस्कृत के विचार से आज भी एक दूसरे से सर्वथा भिन्न है किन्तु समीप के प्रान्तों के इसी प्रकार के भागों से इनका गहरा और प्राकृतिक सम्बन्ध है अतएव इस स्थल पर समझ लेना चाहिए कि रियासत हैदराबाद भिन्न-भिन्न प्रकार के तीन भागों का समुदाय मात्र है।

जनता से नहीं है। रियासत की अधिकतर आबादी हिन्दुओं की ही है इसलिए यहाँ का निजाम-वश अँगरेजों की ही मित्रता के पक्ष में रहा है और यहाँ पर सर्वदा अँगरेज अफसरों का बोलबाला रहा है। सन् १८५३ में निजाम ने बरार प्रान्त, उस्मानाबाद और रायपुर जिले कम्पनी को इसलिए दिये थे कि इनकी आमदनी से हैदराबाद मे रहनेवाली कम्पनी की सेना का खर्च चले और जो रकम बच रहे वह निजाम को दे दी जाया करे। सन् १८५७ के विप्लव मे निजाम ने अँगरेजों की बड़ी सहायता की थी और सहायता करने के कारण ही उस्मानाबाद और रायपुर के जिले उसे लौटा दिये गये थे। इन्हीं सब कारणों से हमे यह स्वीकार करना पड़ेगा कि १८५७ के विप्लव की सफलता और असफलता का उतरदायी तथा अत्यन्त महत्वपूर्ण स्थान दक्षिणी भारत का हैदराबाद अवश्य था।

एक अँगरेज इतिहास लेखक लिखता है—“तीन महीने तक हिन्दुस्तान का भाग्य निजाम अफजलुद्दौला और उसके वजीर सर सालारजंग के हाथों मे था।” इसमे संदेह की कुछ भी बात नहीं है कि यदि हैदराबाद का निजाम उस समय के स्वाधीनता प्रेमी विप्लवकारियों का साथ दे जाता तो समस्त दक्षिण भारत मे विप्लव की भयंकर अग्नि जल उठती जिसे शान्त कर सकना अँगरेजों के लिए असंभव हो जाता।

जून और जुलाई सन् १८५७ मे दक्षिण हैदराबाद के नगर-निवासियों के अन्दर विप्लव की और अधिक उत्तेजना के भाव दिखाई पड़े। बड़े-बड़े मौलवियों ने अँगरेजों के विरुद्ध फतवे निकाले। विप्लव का समर्थन करने और जनता के भावो को विप्लव के अनुकुल बनाने के लिए असंख्य पत्र-पत्रिकाएँ बाँटी

गईं। मस्जिदों मे बड़ी-बड़ी सभाएँ हुई और कुछ मुसलमान सिपाही विप्लव की अग्नि को उत्तेजित करने के लिए मैदान मे उतर भी आये किन्तु दक्षिण हैदराबाद के निजाम अफजलुद्दौला और उसके वजीर सालारजग ने भारत माता के वीर सपूतों को गुलामों के जजीर मे जकड़ देने के लिए दानवी कृत्य करने वाले अँगरेजो का ही सच्चा: साथ दिया। हॉ हॉ, कहीं भी कोई विप्लवकारी अथवा विप्लव के आन्दोलन को चलाने वाला कोई नेता वहॉ मिल गया तुरंत उसे पकड़ कर अँगरेजों के हवाले कर दिया और कभी-कभी ऐसा भी किया कि कम्पनी की दानवी सेना की सहायता से स्वय विप्लवकारी सिपाहियों को कटवा डाला और अपने हैदराबाद राज्य को बचाये रखा।

इसी दक्षिण हैदराबाद के समीप एक दूसरी छोटी सी रियासत थी। वह उस समय जोरापुर की रियासत के नाम से प्रसिद्ध थी। रियासत जोरापुर का राजा छोटी उम्र का होने पर भी विप्लव के पक्ष मे था। अँगरेजों से लड़ने के लिए उसने अरब और रुहेले पठानों की एक सेना जमा कर ली थी। फर्वरी सन् १८५८ मे वह हैदराबाद आया। सर सालारजंग ने उसे गिरफ्तार कर लिया और तुरंत अगरेजों के हवाले कर दिया। गिरफ्तारी के बाद भी इस बालक राजा का व्यवहार अत्यंत प्रशसनीय और वीरोचित रहा। एक अगरेज अफसर मीडोज टेलर के साथ वह अधिक मेल-जोल रखता था और उसे 'अप्पा' कहा करता था। जेलखाने मे मीडोज टेलर उससे मिलने गया। राजा पहले के ही समान बड़े आदर से मिला। मीडोज टेलर ने उससे बड़ी देर तक बाते की और बातों ही बातों मे उससे अन्य विप्लवकारी नेताओं के नाम पूछे। इस सम्बन्ध मे मीडोज

लिखता है—राजा ने बड़े अभिमान के साथ अकड़कर कहा, "नहीं अप्पा, यह मैं कभी नहीं बतलाऊंगा! आप मुझे इस बात की सलाह देते है कि मै रेजीडेन्सी से जाकर मिलूं किन्तु मै यह नहीं करूंगा। कदाचित् उसे यह आशा होगी कि मैं अपने प्राणों की भिक्षा मॉगूंगा किन्तु अप्पा! मैं दूसरे की भिक्षा पर कायर के समान जीना पसंद नहीं करता और न मै कभी अपने देशवासियों का नाम प्रकट करूंगा।"

इस घटना के बाद वही अँगरेज अफसर मीडोज टेलर एक दिन फिर राजा के पास मिलने के लिए गया। जाते ही उसने उस बालक राजा से कहा, "यदि तुम दूसरे विप्लवकारी नेताओं के नाम बतला दोगे तो तुम्हे क्षमा कर दिया जायगा।" मीडोज टेलर के ऐसा कहते ही उस बालक राजा ने कहा, "××× क्या? जब कि मै मृत्यु के मुख मे जाने को तैयार हूँ तब क्या मै विश्वासघात करके अपने देश निवासियों के नाम प्रकट करूंगा। नहीं, नहीं तोप, फॉसी कालापानी इनमे से कोई भी इतना भयकर नहीं है जितना कि विश्वासघात!" बालक राजा के उत्तर निस्सन्देह प्रशंसनीय और विशेष रूप से वीरोचित मर्यादा के अनुसार ही थे। मीडोज टेलर ने राजा को सूचना दी, तुम्हे प्राणदंड दिया जायगा।" इस सूचना को सुन लेने पर भी उस वीर बालक राजा ने उत्तर देते हुए कहा—"किन्तु अप्पा! मुझे एक प्रार्थना करनी है। मुझे फॉसी न देना, मै चोर नहीं हूँ। मुझे तोप के मुंह से उड़ाना। फिर देखना कि मैं कितनी शान्ति के साथ तोप के मुह पर खड़ा रह सकता हूँ।"

उस वीर बालक राजा के उन उत्तरों से मीडोज टेलर मुग्ध हो गया। अन्य दानवी अँगरेजों का अनुकरण करना वह भूल

गया। उसने हैदराबाद के रेजिडेन्ट से उस वीर बालक राजा के लिए विशेष रूप से अनुरोध किया। किसी भी प्रकार उसे प्राणदंड न दिया जाय इस बात का आग्रह भी किया। उसके विशेष रूप से कहने-सुनने का फल इतना ही हुआ कि उस वीर बालक राजा को प्राणदण्ड के स्थान पर कालेपानी की सजा दी गई। जब उस वीर बालक राजा को कालेपानी लिये जा रहे थे, तब उस वीर बालक राजा ने अपने किसी अँगरेज पहरेदार से खेल-खेल मे पिस्तौल ले ली और अवसर पाकर अपने ऊपर गोली दाग ली। इस घटना से पूर्व उसने एक दिन कहा था—"मै कालेपानी से मृत्यु को अधिक पसन्द करता हूँ! कैद और कालापानी? मेरी प्रजा मे तो तुच्छ पहाड़ी भी जेल मे रहना पसन्द न करेगा। फिर मैं तो उन सब का राजा हूँ।"

इस वीर बालक राजा का वृत्तान्त और उसके शब्द जो कुछ भी हमने इस पुस्तक मे दिये है वे सब उसी वीर बालक राजा के मिलने वाले उसी अँगरेज अफसर मीडोज टेलर की लिखी हुई अँगरेजी पुस्तक "स्टोरी आफ लाइफ" नाम की पुस्तक से ही लिये गये है।

जोरापुर के वीर बालक राजा की घटना के बाद एक दूसरी घटना का वर्णन कर देना भी आवश्यक हो रहा है। वह घटना भी किसी भी प्रकार उक्त घटना से कम रोमाञ्चकारी नहीं है। इस घटना से पाठकों को यह भली भाँति ज्ञात हो जायगा कि किस प्रकार अपना ही भाई अपने लिए शत्रु का रूप धारण कर लेता है और व्यक्तिगत स्वार्थ की संकुचित सीमा से ही वह उज्ज्वल होने वाले राष्ट्र के भविष्य को घोर अधकारमय बना देता है।

जोरापुर के राजा का एक साथी था। वह भी नारगुण्ड नाम की रियासत का राजा था। वह भास्करराव बाबा साहब के नाम से प्रसिद्ध था। बाबा साहब की रानी वीरता के भावों से ओत-प्रोत थी। स्वाभिमान और स्वाधीनता ये दोनों ही उसके जीवन के मुख्य ध्येय थे। वह किसी विदेशी शक्ति के अधीन जीवित रहना अपना और अपने वश का न मिटने वाला कलंक समझती थी। इसीलिए वह अँगरेजों के लिए साक्षात् मृत्यु का स्वरूप बनने को तैयार रहा करती थी। वह नित्य अपने स्वामी भास्करराव बाबा साहब को अँगरेजों के विरुद्ध हथियार उठाने के लिए उत्तेजित किया करती थी किन्तु बाबा साहब भी उसकी बातों को एक कान से सुनते थे और दूसरे कान से निकाल देते थे। कुछ दिनों के बाद रानी ने हठपूर्वक राजा से अँगरेजों को मार भगाने के लिए कहा। लिखा है कि बहुत दिनों तक सोचने विचारने मे ही राजा का समय बीत गया। अन्त मे रानी के विशेष रूप से आग्रह करने पर २५ मई सन् १८५८ को बाबा साहब ने भी अँगरेजों के विरुद्ध संग्राम की घोषणा कर दी। बाबा साहब के सैनिक हथियार बाँधकर तैयार हो गये। इधर बाबा साहब की युद्ध-घोषणा को सुनते ही कम्पनी की एक सेना को लेकर मानसन नाम का एक अँगरेज तुरन्त नारगुण्ड की ओर चल पड़ा। उधर बाबा साहब ने भी अपने कुछ सिपाहियों के साथ मानसन को रात्रि के समय नारगुण्ड के समीप एक जगल मे जाकर घेर लिया। फिर क्या था? दोनों ही ओर के सैनिकों ने अपने-अपने हथियार सम्हाल लिये। जगल मे ही भयानक रूप से संग्राम होने लगा और परिणाम यह हुआ कि मानसन संग्राम मे ही मार डाला गया और उसका सिर तुरन्त

काट लिया गया बचे हुए धड़ को जला दिया गया। कम्पनी की जितनी सेना बाबा साहब को जीतने के लिए आई हुई थी उसमे से अनेक सैनिक मारे गये और जो शेष रहे वे सब अपने-अपने प्राणों को लेकर भाग गये। दूसरे दिन सबेरा होते ही मानसान का कटा हुआ मस्तक नारगुण्ड की दीवार पर लटका दिया गया। समस्त नारगुण्ड रियासत मे बाबा साहब की वीरता और विजय की प्रशंसा होने लगी किन्तु बाबा साहब का सौतेला भाई इस प्रशसा से खिन्न होने लगा। वह गुप्त रूप से अँगरेजों के साथ मिल गया और किस प्रकार अँगरेज बाबा साहब को परास्त कर सकेंगे, उसका भेद बतलाने लगा। उससे सारा भेद मालूम होने पर अँगरेजी सेना ने नारगुण्ड पर फिर से आक्रमण किया। इस बार के आक्रमण मे बाबा साहब की सेना हार गई। बाबा साहब स्वयं निकल कर भाग गया। किन्तु थोड़े ही दिनों के बाद बाबा साहब गिरफ्तार कर लिया गया और १२ जून सन् १८५८ को वह फाँसी पर लटका दिया गया। उसकी रानी और माता दोनों ने मालप्रभा नदी में कूद कर चिर-शान्ति लाभ कर ली।

स्वाधीनता के पुजारी कोमल द्रुग के भीमराव ने खानदेश के भीलों और उनकी स्त्री ने तीर-कमान लेकर अँगरेजों से युद्ध किया था किन्तु ये सब प्रयत्न समय निकल जाने के बाद ही हुए इसीलिए सरलता से दमन कर दिये गये। इसी प्रकार समय निकल जाने पर रंगून और बरमा के अन्य प्रान्तों मे थोड़ा-सा विप्लव हुआ था किन्तु कुछ भी लाभ न हो सका।

नाना साहब और बेगम हजरत महल

मध्य-प्रान्त और दक्षिणी भारत की घटनाओं का वर्णन समाप्त कर हम फिर उसी अवध की ओर आते हैं जिसे हम यह मान चुके है कि सन् १८५७ के विप्लव का वही एकमात्र सब से बड़ा क्षेत्र था। यहाँ पर ध्यान देने योग्य विशेष बात यह है कि मौलवी अहमदशाह की हत्या कराने से पहले ही लार्ड कैनिंग ने समस्त अवध मे यह घोषणा करा दी थी कि जो लोग हथियार रख देगे उन्हे कम्पनी की ओर से क्षमा कर दिया जायगा और जिन लोगों की जागीरे आदि जब्त कर ली गई हैं वे सब लौटा दी जायँगी। किन्तु फिर भी इस घोषणा का कोई विशेष सन्तोषजनक प्रभाव विप्लवकारी जनता पर पड़ता हुआ दिखाई न पड़ा। इसके बाद ही ५ जून सन् १८५८ को अहमदशाह की हत्या की गई। इस अमानुषिक हत्याकाण्ड से अवध-निवासियों का क्रोधानल फिर एक बार भयानक रूप से भड़क उठा। परिणाम यह हुआ कि निजामअली खॉ ने पीली-भीत पर आक्रमण कर दिया। पीलीभीत मे कम्पनी की जितनी भी सेना थी उससे सम्हलते भी न बना। खानबहादुर खॉ ने तुरन्त चार हजार सैनिकों की सेना तैयार कर ली। उनमे वीरता के भावों को लाकर फिर से ॲगरेजों के विरुद्ध लड़ने का साहस संचार किया। हतोत्साह के कारण जितनी कायरता आ चुकी थी, उसे बात की बात मे दूर कर दिया और फिर उसी

सेना को लेकर खानबहादुर खॉ फिर से स्वाधीनता-संग्राम के मैदान मे उतर आया।

जब निजामअली खॉ और खाँनबहादुर खॉ के मैदान मे उतरने का समाचार फर्रुखाबाद पहुँचा तब वहॉ भी पॉच हजार सिपाही नये साहस और नये उत्साह के साथ फिर से जमा हो गये। स्वाधीनता-लाभ करने के लिए पागल बननेवाला विप्लव-कारी जी-जान से अँगरेजों के विरुद्ध हथियार बॉधकर मैदान मे युद्ध की पतीक्षा करने लगे। नाना साहब, बाला साहब विलायत-शाह और अलीखॉ मेवाती के अधीन हजारों विप्लवकारी सैनिक आ-आकर जमा होने लगे। उन सबो के लिए अगरेजों का भारत मे रह जाना ही बड़े दुःख का विषय हो रहा था। जितनी शीघ्रता से सम्भव हो सके उतनी ही शीघ्रता से भारत से अंगरेजों को निकाल देना उनके जीवन का मुख्य उद्देश्य हो रहा था। घाघरा नदी के किनारे चौक घाट मे बेगम हजरत महल और सरदार मामू खॉ की सेना इकट्ठी हो चुकी थी। वह एक क्षण भी विलम्ब करने को तैयार न थी। जिस प्रकार आंखों के लिये शूल दुःख देने वाले माने गये हैं उसी प्रकार उन सबों की आंखों मे अगरेज खटक रहे थे। शाहजादा फीरोजशाह भी इस समय अवध मे ही था। इन सब के अतिरिक्त रुइया का राजा नरपतसिंह, राजा रामबख्श, बहुनाथसिंह, चन्दासिंह, गुलाबसिंह, भूपालसिंह हनुमन्तसिंह आदि अनेक बड़े-बड़े जमींदार अपने-अपने सैन्यदल लेकर अवध को फिर से अंगरेजों के अधिकार से छीन लेने के प्रयत्नों मे लग गये। बूढ़े राजा बेनीमाधव ने फिर से लखनऊ पर चढ़ाई करने की तैयारी

आरम्भ कर दी। इसमे तनिक भी सन्देह नहीं है कि उन सबों मे नई उत्तेजना आ चुकी थी।

जिस समय अँगरेजो ने विप्लवकारियों और उनके नेताओं की इन सब तैयारियों का समाचार सुना उस समय वे सब किंकर्त्तव्य-विमूढ़ से हो गये। उनकी समझ मे यही न आया कि विप्लवकारियो मे यह सब वीरता का भाव किस प्रकार फिर से आ गया। कौन ऐसी शक्ति उन सबों की सहायता करने लगी है जिससे कि वे सब फिर से अँगरेजों को तुच्छ समझकर लड़ने का विचार करने लगे है! बड़े ही आश्चर्य का विषय है। १३ महीने तक तो लगातार संग्राम होते रहे और छः महीने ऊपर तक लखनऊ मे ही रक्त की नदियाँ बहती रही। किसी प्रकार प्राणो की रक्षा करने वाले और लखनऊ छोड़कर भाग जानेवाले विप्लवकारी नेता अब क्या सोचकर फिर से युद्ध का प्रयत्न करने लगे है! क्या अब भी उन सबों मे कोई ऐसा पुरुष रह गया है जिसने अँगरेजों से हार न खाई हो और जो इस समय वीरता के साथ लखनऊ पर आक्रमण करने का साहस कर रहा है! कुछ भी हो, विप्लवकारियों की सेना इस बार लखनऊ के समीप नवाबगंज मे आकर जमा हुई। १३ जून सन् १८५८ को सेनापति होपग्राण्ट के अधीन कम्पनी की सेना ने, जिसमे कई हिन्दुस्तानी पलटनें शामिल थीं, अचानक इन सब विप्लवकारियों पर आक्रमण किया। उस दिन के सग्राम का वृत्तान्त सेनापति होपग्राण्ट इस प्रकार लिखता है।

"हम लोगों पर उनके आक्रमण असफल रहे, किन्तु वे आक्रमण अत्यन्त शक्तिशाली थे और हमें उनका सामना करने के लिए कठिन परिश्रम करना पड़ा। असंख्य सुन्दर और साहसी

जमींदारों ने दो तोपें खुले मैदान मे लाकर पीछे की ओर से हम पर आक्रमण किया। मैंने हिन्दुस्तान मे बहुत से मैदान संग्राम के देखे हैं और बहुत से बहादुरों को इस दृढ़ता के साथ लड़ते देखा है कि या तो विजय प्राप्त करेंगे या मर मिटेंगे किन्तु मैंने इन जमीदारों के व्यवहार से बढ़कर शानदार कभी कोई दृश्य नहीं देखा। पहले उन्होंने हमारी एक सवार पलटन पर आक्रमण किया। हमारे सवार उनके सामने न ठहर सके और इतने विचलित हो गये कि हमारी दो तोपे जो उस पलटन के साथ थीं बड़े संकट मे पड़ गई। मैंने एक दूसरी सात नम्बर पलटन को आगे बढ़ने का आदेश दिया। उनके साथ चार और तोपे थी। ये तोपे शत्रु से पॉच सौ गज की दूरी पर लगा दी गई उन पर गोले बरसाने आरंभ किये गये। वे इस बुरी तरह कट-कट कर गिरने लगे जिस प्रकार हसिये से घास। उनका नेता एक लम्बा-चौड़ा आदमी था उसके गले मे एक घेघा था। वह तनिक भी नहीं घबराया। उसने अपनी तोपों के पास दो हरे झण्डे गड़वा कर उनके नीचे अपने आदमियों को इकट्ठा किया किन्तु हमारे गोले इतनी बुरी तरह बरस रहे थे कि जो लोग तोपें के पास तक पहुॅचते थे, वहीं मर कर गिर पड़ते थे। इनके बाद दो और नई पलटने हमारी सहायता के लिए पहुॅच गई। तब हम बाकी बचे शत्रुओं को पीछे हटा सके। इस पर भी वे अपनी तलवारे और भाले हमारी ओर घुमाते जाते थे। केवल उन दोनों तोपों के आस-पास हमे १२५ लाशे मिली। तीन घंटे के घमासान संग्राम के बाद विजय हमारी ओर रही।"

समस्त अवध मे इसी प्रकार के घमासान संग्राम चारों ओर होने लगे। जिस प्रकार ॲगरेजी सेना के सैनिक वीरता के साथ

लड़कर भारत को गुलाम बनाना चाहते थे उसी प्रकार विप्लव-कारी सेना के सैनिक वीरता के साथ लड़कर भारत को स्वाधीन बनाना चाहते थे। समय और परिस्थिति की अनुकूलता और प्रतिकूलता पर किसी का भी वश नहीं है अथवा उस समय भारत का भविष्य कुछ और ही हो जाता। कुछ भी हो भारतीय वीर अपना कार्य कर ही रहे थे।

अक्टूबर सन् १८५८ में कमाण्डर-इन-चीफ (प्रधान सेना-पति) सर कालिन कैम्पबेल ने नये सिरे से असंख्य अँगरेजी और हिन्दुस्तानी पलटनों को जमा किया और चारों ओर से अवध के विप्लवकारियों को घेर कर ऐसा प्रबल आक्रमण किया कि वे सब अधिक समय तक युद्ध के मैदान में न ठहर सके। दक्षिण की ओर भागने का रास्ता था ही नहीं इसलिए उत्तर की ही ओर भागने लगे। वे उत्तर की ओर भागते जाते थे और अँगरेजी सेना उनका पीछा करती जा रही थी। ऐसा ज्ञात होता था मानों अँगरेजी सेना उन्हे खदेड़े लिये जा रही हो। विप्लव-कारी भागते जाते थे और कभी कभी कहीं रुककर युद्ध भी करते जाते थे। इतना ही नहीं, कहीं-कहीं वे अँगरेजी सेना को ऐसा खदेड़ते थे कि उसे रास्ता ही नहीं मिलता था। कहना पड़ता है कि नये सिरे से अवध के निवासियों ने एक-एक इञ्च जमीन के लिए विकट से विकट संग्राम किये। अपने कर्त्तव्य से वे डिगे नहीं।

राजा बेनीमाधव के निवास स्थान शंकरपुर पर तीन सेनाओं ने एक ही साथ तीन ओर से चढ़ाई की। उस समय अँगरेजों की शक्ति बहुत कुछ बढ़ी-चढ़ी हुई थी और शंकरपुर के राजा

बेनीमाधव के पास सेना और सामान दोनों की ही कमी थी फिर भी स्वाधीनता का पुजारी वीर राजा बेनीमाधव ने अँगरेजों की अधीनता स्वीकार नही की। कमाण्डर-इन-चीफ सर कालिन कैम्पबेल ने राजा बेनीमाधव के पास सन्देशा भेजा, "अब आप को विजय की आशा करना व्यर्थ है। यदि आप वृथा रक्तपात नही चाहते तो अँगरेज सरकार की अधीनता स्वीकार कर लीजिए। आपको क्षमा कर दिया जायगा और आपकी समस्त जमींदारी आपको लौटा दी जायगी।"

राजा बेनीमाधव ने तुरन्त उत्तर दिया, "इसके बाद किले की रक्षा कर सकना मेरे लिये असम्भव है, इसलिए मै किले को छोड़ रहा हूँ। किन्तु मैं अपना शरीर कदापि आपके सुपुर्द न करूंगा। क्योंकि मेरा शरीर मेरा अपना नहीं, बल्कि मेरे बादशाह का है।"

इनमे सन्देह नहीं कि 'बादशाह' शब्द से राजा बेनीमाधव का तात्पर्य अवध नरेश नवाब बिरजिस कद्र और दिल्ली के सम्राट बहादुरशाह से था। देश-भक्ति और राजभक्ति के साथ साथ स्वाभिमान और स्वाधीनता के भावों का कितना अपूर्व ज्वलन्त उदाहरण है! अवध! तू धन्य है!

सन् १८५७ के विप्लव को आरम्भ हुए पूरा डेढ़ वर्ष बीत चुका था। इस समय वह घटना हुई जो भारतीय बृटिश राज्य के प्रारम्भ मे एक विशेष सीमा चिन्ह मानी जाती है। विप्लव के प्रारम्भ मे ही यह भविष्यवाणी हो चुकी थी कि भारत से अँगरेज कम्पनी का राज्य उठ जायगा। इसमे कुछ भी सन्देह नहीं कि यह भविष्यवाणी सच हुई क्योंकि पहली नवम्बर सन्

१८५८ से कम्पनी का राज्य भारतवर्ष से हटा लिया गया। इग्लैण्ड के शासकों ने उस समय कम्पनी की एक सौ साल की सत्ता को समाप्त कर देना ही अपनी कुशल के लिए विशेष रूप से आवश्यक समझा इसलिए पहली नवम्बर से ईस्ट-इण्डिया कम्पनी के स्थान पर इङ्गलैण्ड की मलका विक्टोरिया का राज्य भारत पर स्थापित कर दिया गया।

उस समय लार्ड कैनिंग इलाहाबाद मे था। पहली नवम्बर को 'भारतीय नरेशों और भारतीय प्रजा के नाम' मलका विक्टोरिया की एक घोषणा भारतवर्ष मे प्रकाशित की गई। उसी दिन लार्ड कैनिंग ने स्वयं इलाहाबाद मे दारागंज के समीप क़िले के नीचे इस घोषणा को असंख्य मनुष्यों के सामने पढ़ कर सुनाया। इस घोषणा मे मलका विक्टोरिया की ओर से भारत के निवासियों को सूचना दी गई कि—

"कम्पनी का राज्य अब से समाप्त हुआ और उसके स्थान पर भारत के शासन की बाग हमने (अर्थात् मलका विक्टोरिया) अपने हाथों में ले ली है, सिवाय उन लोगों के जो हमारी अँगरेजी प्रजा की हत्या मे भाग लेने के अपराधी है, शेष जो लोग भी हथियार रख देगे उन सब को क्षमा कर दिया जायगा। भारत के निवासियों की गोद लेने की प्रथा भविष्य मे उचित समझी जायगी और दत्तक पुत्रों को पिता की सम्पत्ति और गद्दी का अधिकारी माना जायगा। किसी के धार्मिक विश्वासों या धार्मिक रीति रिवाज मे किसी प्रकार का हस्तक्षेप न किया जायगा। देशी नरेशों के साथ कम्पनी ने इस समय तक जितनी सन्धियाँ की हैं उन सब शर्तों का भविष्य मे ईमानदारी के साथ पालन किया जायगा। इसके बाद किसी भारतीय नरेश की

रियासत या उसका कोई अधिकार नहीं छीना जायगा। समस्त भारत निवासियों के साथ ठीक उसी प्रकार व्यवहार किया जायगा जिस प्रकार का व्यवहार अँगरेजों के साथ किया जा रहा है। इसी प्रकार की और भी अन्य सूचनाएँ थीं।

किन्तु अभिमान के साथ कहना पड़ता है कि कम से कम उस समय अवध के निवासियों पर मलका विक्टोरिया की इस घोषणा का कुछ भी प्रभाव सन्तोष-जनक रूप से न पड़ा। इंग्लैण्ड की मलका की ओर से इस घोषणा के प्रकाशित होते ही बेगम हज़रत महल की ओर से एक घोषणा इसके जवाब मे अवध की समस्त प्रजा के नाम प्रकाशित हुई। यह घोषणा हिन्दुस्तानी भाषा में थी किन्तु उसी रूप मे यह हमें नहीं मिल सकी है। यहाँ हम जो कुछ दे रहे हैं वह सब अँगरेजी से ही अनुवाद करके दे रहे है क्योंकि उस समय के जितने पत्र और घोषणा आदि है सभी का अनुवाद अँगरेजी मे ही हो चुका था और अब वे सब पत्र आदि नहीं मिल रहे हैं। बेगम हज़रत महल ने अपनी उस घोषणा मे लिखा था कि,

"××× पहली नवम्बर सन् १८५८ की घोषणा जो हमारे सामने आई है बिलकुल स्पष्ट है।×××इसलिए हम××× बहुत सोच समझ कर अपनी यह घोषणा प्रकाशित करते हैं जिससे कि पूर्वीय घोषणा के मुख्य-मुख्य असली उद्देश्य प्रकट हो जायँ और हमारी प्रजा सावधान हो जाय।

उस घोषणा मे लिखा है कि भारतवर्ष का देश जो अभी तक कम्पनी के शासन मे था अब मलका ने अपने शासन मे ले लिया है और भविष्य से मलका के कानून को माना जायगा।

हमारी धर्मनिष्ट प्रजा को इस पर भरोसा नहीं करना चाहिए क्योंकि कम्पनी के कानून, कम्पनी के अँगरेज कर्मचारी, कम्पनी के गवर्नर जनरल और कम्पनी की अदालतें आदि सब ज्यों की त्यों बनी रहेंगी। तो फिर वह नई बात कौन सी हुई जिससे जनता को लाभ हो या जिस पर वह विश्वास कर सके।

उस घोषणा में लिखा है कि कम्पनी ने जो वादे और सधियाँ की हैं मलका उन्हें स्वीकार कर लेगी। लोगों को चाहिए कि इस चाल को ध्यान से देख ले। कम्पनी ने समस्त भारतवर्ष पर अधिकार कर लिया है और अगर यह बात बनी रही तो फिर इसमें नई बात क्या हुई? कम्पनी ने भरतपुर के राजा को पहले अपना बेटा बतलाया और फिर उसका इलाका ले लिया। लाहौर के राजा को वे लन्दन ले गये और फिर कभी उसे भारत लौटने न दिया। नवाब शम्सुद्दीन खाँ को एक ओर उन्होंने फाँसी पर लटका दिया और दूसरी ओर से सलाम किया। पेशवा को उन्होंने पूना और सतारा से निकाल दिया और आजीवन बिठूर में कैद कर दिया। बनारस के राजा को उन्होंने आगरे में कैद कर दिया। बिहार, उड़ीसा और बंगाल के नरेशों का उन्होंने नाम व निशान तक नहीं छोड़ा। स्वयं हमारे कदीम इलाके कन्होंने हमसे यह बहाना करके ले लिये कि फौज को तनखाहें देनी हैं और हमारे साथ जो सन्धि की उसकी सातवीं धारा में उन्होंने यह कसम खाई कि हम आपसे और अधिक कुछ न लेंगे। इसलिए यदि जो-जो प्रबन्ध कम्पनी ने कर रखे हैं वे सब स्वीकार किये जायं तो इससे पहले की दशा में और अब इस नई दशा में क्या अन्तर हुआ? ये सब तो

पुरानी बाते हैं किन्तु हाल में भी कसमों और संधि-पत्रों को तोड़कर और यह बात जानते हुए भी कि अँगरेजों ने हमसे करोड़ों रुपये कर्ज ले रखे थे उन्होंने बिना किसी कारण के, केवल यह बहाना लेकर कि आपका व्यवहार अच्छा नहीं है और आपकी प्रजा असंतुष्ट है, हमारा देश और करोड़ों रुपये का माल हमसे छीन लिया। यदि हमारी प्रजा हमारे पूर्वाधिकारी नवाब वाजिअलीशाह से असंतुष्ट थी तो वह हमसे सतुष्ट कैसे हुई! और कभी किसी भी नरेश के लिए प्रजा ने अपने जान और माल को इस तरह न्योछावर करके अपनी राज-भक्ति का परिचय नहीं दिया जिस तरह कि हमारी प्रजा ने हमारे साथ किया है! फिर क्या कमी है कि वे हमारा देश हमे वापस नहीं देते ? इसके अतिरिक्त उस घोषणा मे लिखा है कि मलका को अपना इलाका बढ़ाने की इच्छा नहीं है, फिर भी वह इन देशी रियासतों को अपने राज्य मे मिला लेने से दूर नही रह सकती। ×××

उस घोषणा मे लिखा है कि ईसाई धर्म सच्चा है किन्तु और किसी धर्मवालों के साथ अनुचित व्यवहार नहीं किया जायगा और सब के साथ एक समान कानूनो व्यवहार किया जायगा। न्याय-शासन से किसी धर्म के सच्चे अथवा झूठे होने से क्या सबन्ध है? ××× सुअर खाना और शराब पीना, चर्बी के कारतूस दाँत से काटना और आटे तथा मिठाइयों मे सुअर की चर्बी मिलाना, सड़कें बनाने के बहाने मदिरों और मस्जिदों को गिराना, गिरजा बनाना, गलियों और कूचों मे ईसाई मत का प्रचार करने के लिए पादरियों को भेजना ×××

इन सब बातों के होते हुए लोग कैसे विश्वास कर सकते हैं कि उनके धर्म मे हस्तक्षेप न किया जायगा ? ×××

उस घोषणा मे लिखा है कि ××× जिन लोगों ने हत्याएँ की है अथवा हत्याओं मे सहायता पहुँचायी है उन पर किसी प्रकार भी दया न की जायगी, शेष सब को क्षमा कर दिया जायगा। एक मूर्ख मनुष्य भी समझ सकता है कि इस घोषणा के अनुसार दोषी और निर्दोषी कोई मनुष्य भी नही बच सकता। ××× एक बात उसमे स्पष्ट कही गई है, वह यह है कि किसी भी दोषी मनुष्य को न छोड़ा जायगा, इसलिए जिस गॉव अथवा इलाके मे हमारी सेना ठहरी है उसके निवासी नही बच सकते। उस घोषणा को पढ़ कर जिसमे कि स्पष्ट शत्रुता के भाव भरे हुए हैं हमे अपनी प्यारी प्रजा की दशा पर अधिक दुःख है। अब हम एक स्पष्ट और विश्वस्त आदेश प्रकाशित करते हैं कि हमारी प्रजा से जिन जिन लोगों ने मूर्खता करके गॉव के मुखियों की हैसियत से अपने लिए ॲगरेजों के सामने पेश किया है वे १ जनवरी सन् १८५९ से पहले हमारे कैम्प मे आकर उपस्थित हों। निस्सन्देह उनका अपराध क्षमा कर दिया जायगा। ××× आज तक कभी किसी ने नहीं देखा कि ॲगरेजों ने किसी का अपराध क्षमा किया हो। हमारी प्रजा मे से कोई ॲगरेजों की घोषणा के धोखे मे न आये। यह सब चार्ल्स बाल की पुस्तक से लिया गया है।

इस घोषणा के प्रकाशित होने के छः महीने बाद तक अवध के अन्दर स्वाधीनता का संग्राम निरन्तर होता रहा। इस सम्बन्ध मे चार्ल्स बाल लिखता है—"मलका विक्टोरिया की घोषणा के बाद भी अवध के अन्दर आश्चर्य-जनक संग्राम

निरंतर होता रहा। विप्लवकारियों के इन सब दलों के साथ उनके देशवासियों की सहानुभूति थी और इस सहानुभूति से उन्हे इतना अधिक बल और इतनी अधिक उत्तेजना प्राप्त हुई जिसका कि अनुमान भी नहीं किया जा सकता। ये विप्लव-कारी बिना किसी प्रबन्ध के जहाँ चाहे चले जा सकते थे। साथ मे भोजन सामाग्री ले जाने की भी आवश्यकता नहीं होती थी क्योंकि लोग सब जगह उन्हे भोजन पहुँचा देते थे। वे बिना पहरे के अपना सामान जहाँ चाहे छोड़ सकते थे, क्योंकि लोग उनके सामान पर आक्रमण नहीं करते थे उन्हें सदा अपनी और अँगरेजों की स्थिति का ठीक-ठीक पता रहता था क्योंकि लोग उन्हे घण्टे-घण्टे भर के अन्दर आकर सूचना देते रहते थे। हम उनसे अपनी कोई योजना छिपाकर नहीं रख सकते थे, क्योंकि हमारी प्रत्येक खाने की मेज के पास और अँगरेजी सेना के प्रायः प्रत्येक खेमे मे उनसे गुप्त सहानुभूति रखने वाले लोग खड़े रहते थे। हमारे लिए उन पर अचानक आक्रमण कर सकना एक अलौकिक-सी बात थी, क्योंकि हमारे चलने की अफवाह एक मनुष्य से दूसरे मनुष्य को, हमारे सवारों से अधिक तेजी के साथ उन तक पहुँच जाती थी।"

इन्हीं सब कारणों से मलका विक्टोरिया की घोषणा के ६ महीने के बाद तक भी वीरता और स्वाभिमान के भावों से ओत-प्रोत अवध का विप्लवकारी प्रान्त अँगरेजों के वश मे न आ सका था। समय-समय पर शंकरपुर, डौड़ियाखेड़ा* रायबरेली

---

*डौड़ियाखेड़ा—अँगरेज इतिहास लेखक सर जान के, जस्टिस मैक्कार्थी, मैडले चार्लस बाल और मालेसन आदि ने अवध के उन

उसी पत्र में अँगरेजों के अन्यायों को दिखाते हुए लिखा था कि, सीतापुर इत्यादि स्थानों पर बराबर संग्राम होते रहे। अन्त मे अप्रैल सन् १८५९ तक अवध के समस्त विप्लवकारी नैपाल की सीमा के उस पार निकाल दिये गये।

इस सम्बन्ध मे ऐसा कहा जाता है कि लगभग साठ हजार पुरुष, स्त्री और बच्चों ने नाना साहब, बाला साहब, बेगम हजरत महल और नवाब बिरजिस कद्र के साथ नैपाल मे प्रवेश किया। नाना साहब और महाराजा जंगबहादुर मे कुछ समय तक पत्र-व्यवहार होता रहा। नाना साहब ने पहले नैपाल दर्बार से अँगरेजों के विरुद्ध सहायता के लिए प्रार्थना की उसके बाद केवल भारतीय निर्वासितों के लिए नैपाल मे रहने की स्वीकृति चाही। महाराजा जंगबहादुर ने इसमे से कोई भी बात स्वीकार न की, बल्कि अँगरेजी सेना को नैपाल मे प्रवेश करने और इन भारतीय निर्वासितों का संहार करने की आज्ञा प्रदान कर दी। इन निर्वासित भारतीयों मे से अनेक हथियार फेंक कर भारत लौट आये और अनेक जंगलों तथा पहाड़ों मे समा गये। ऐसे ही समय मे नाना साहब और जनरल होप ग्राण्ट के बीच थोड़ा सा पत्र-व्यवहार हुआ। जब कोई विशेष लाभ न हुआ

स्थानों का नाम जहाँ कि विप्लवकारी नेता रहते थे, चाहे जिस प्रकार तोड़-मरोड़ कर लिखा हो किन्तु चूँकि इस पुस्तक का लेखक अवध का ही है और वहाँ के कई स्थानों से परिचित भी है इसलिए ढुढिया खेड़ा न लिखकर डौंड़ियाखेड़ा लिख रहा है। यह स्थान ज़िला उन्नाव में गंगा के तट पर है। सन् १८५७ के विप्लव से इसका नाम भी प्रसिद्ध हो चुका है। परगना डौंड़ियाखेड़ा अब भी प्रसिद्ध है।

तब नाना साहब ने अन्तिम पत्र होप ग्राण्ट के समीप भेजा और उसी पत्र मे अँगरेजों के अन्यायों को दिखाते हुए लिखा था कि,

"आपको हिन्दुस्तान पर अधिकार करने का और मुझे दंडनीय घोषित करने का क्या अधिकार है ? हिन्दुस्तान पर राज्य करने का अधिकार आपको किसने प्रदान किया ? क्या आप फिरंगी लोग बादशाह है और हम इस अपने देश मे रह कर भी चोर हैं ?"

इस पत्र-व्यवहार के बाद पता नहीं कि नाना सहाब का क्या हुआ। बेगम हजरत महल और उसके पुत्र बिरजिस कद्र को कुछ दिनों के बाद नैपाल दर्बार ने अपने यहाँ आश्रय प्रदान किया।

अवध प्रान्त के इस विप्लव के सम्बन्ध मे इतिहास लेखक मालेसन लिखता है—"जिस विप्लव को उन सिपाहियों ने आरम्भ किया था, जिनमे से कि अधिकांश अवध के ही निवासी थे, उस विप्लव मे समस्त अवध-निवासियों ने सम्मिलित होकर स्वाधीनता के लिए संग्राम किया। ××× हिन्दुस्तान के किसी दूसरे भाग ने इतनी दृढ़ता के साथ डटकर और इतनी अधिक देर तक हमारा सामना नहीं किया जितना कि अवध ने। इस समस्त युद्ध मे उस अन्याय को याद करके जो अन्याय सन् १८५६ मे उनके साथ किया गया था, अवध-निवासियों के हृदय अधिकाधिक सबल और उनका संकल्प अधिकाधिक दृढ़ होता रहता था। ××× अन्त मे जब कमाण्डर-इन-चीफ सर कालिन कैम्पबेल लार्ड (क्लाइड) ने समस्त अवध मे से बचे हुए विप्लव-कारियों को बीन-बीन कर नैपाल के जंगलों मे आश्रय लेने के लिए विवश कर दिया तब इन लोगों ने प्रायः हार मानने की

अपेक्षा भूखों मर जाना अधिक पसन्द किया। किसानों ने, ताल्लुकेदारों ने, जमींदारों ने, व्यापरियों ने बहुत दिनों के निरन्तर युद्ध के बाद केवल उस समय हार स्वीकार की जिस समय कि उन्होंने देख लिया कि अब सब कुछ हो चुका।"

अवध के पतन की घटनाओं का अन्त अब यहीं से होता है। इस सम्बन्ध में और कुछ लिखना व्यर्थ है। पाठक स्वयं विचार कर देख सकते हैं कि समस्त भारतवर्ष से विदेशी शासन को हटा देने के लिए जो महान् और व्यापक प्रयत्न किये गये वे सब किस प्रकार निष्फल गये और भारतवर्ष में अँगरेजी शासन की जड़ कुछ समय के लिए अधिक दृढ़ हो गई।

तात्या टोपे का अन्त

जहाँ तक सम्भव हो सका है, वहाँ तक हमने सन् १८५७ के समस्त वृत्तान्त का वर्णन कर दिया है। यदि कुछ शेष रह गया है तो वह तात्या टोपे का ही अंतिम वर्णन रह गया है अतएव इस विषय की ओर भी ध्यान देना आवश्यक हो रहा है। इसमे संदेह नहीं कि पाठक यह जानना चाहते होंगे कि प्रसिद्ध मराठा सेनापति तात्या टोपे के अंतिम प्रयत्न कैसे थे ? विषय को पूर्ण करने के लिए हम भी तात्या टोपे के अन्तिम प्रयत्नों का वर्णन करने का प्रयत्न करना उचित समझ रहे हैं।

पाठक यह जानते ही होंगे कि नाना साहब, बाला साहब और झाँसी की रानी लक्ष्मीबाई यही सब तात्या टोपे के मुख्य साथी थे किन्तु इनमे से अब कोई शेष नहीं रह गया था तथा भारत मे फिर से अंगरेजी सत्ता स्थापित हो चुकी थी। साथ ही साथ न तो तात्या टोपे के पास अब कोई कुशल सेना थी और न युद्ध करने के योग्य विशेष सामान ही था। कुछ भी हो, तात्या टोपे वीर, साहसी और योद्धा था, इसलिये उसने आशा न छोड़ी। २० जून सन् १८५८ को ग्वालियर से निकल कर तात्या टोपे ने राव साहब, बाँदा के नवाब और मुट्ठी भर बचे हुये सैनिकों के साथ नर्मदा की ओर बढ़ना चाहा। उस समय तात्या टोपे का उद्देश्य नर्मदा नदी को पार कर पेशवा के नाम पर दक्षिण भारत के नरेशों और उनकी प्रजा को फिर से विप्लव के लिए तैयार

करने का था। २२ जून को अँगरेजी सेना ने उसे जौरा अलीपुर में जा घेरा। अँगरेजों की सेना से घिर जाने पर भी तात्या टोपे वहाँ से बच कर निकल गया। इस समय किसी भी प्रकार नर्मदा को पार कर जाना ही उसका ध्येय था और अँगरेज यह चाहते थे कि वह किसी भी प्रकार नर्मदा को पार न कर सके।

समय और परिस्थिति पर विचार करते हुए वीर मराठा सेनापति तात्या टोपे ने सब से पहले भरतपुर की ओर जाने का विचार किया। उसके उस विचार को समझ लेने पर तुरन्त एक शक्तिशाली अँगरेजी सेना उसको फाँसने के लिए भरतपुर की ओर न बढ़ कर जयपुर की ओर मुड़ गयी। जयपुर की प्रजा और सेना दोनों ही उससे सहानुभूति रखती थी। उन सबों को तैयार रहने के लिए तात्या टोपे ने सूचना दे दी। इधर अँगरेजों को भी इसका पता चल गया। फिर क्या था! नसीराबाद से जयपुर के लिए तुरन्त एक प्रबल अँगरेजी सेना भेज दी। तात्या भी तुरन्त सावधान हो गया और अब वह दक्षिण की ओर मुड़ा।

कर्नल होम्स के अधीन एक सेना ने उसका पीछा किया। युद्धविद्या में पारंगत तात्या टोपे ने दूसरी चाल चली। अँगरेजी सेना उसका पीछा करती ही रही और वह उससे आँख बचाकर टोंक पहुँच गया। टोंक पहुँचते ही टोंक के नवाब ने नगर के फाटकों को बन्द करा लिया। किसी प्रकार वहाँ तक पहुँच जाने पर भी उसे रक्षा का स्थान न मिल सका। स्थान मिलना तो दूर रहा, उस पर दूसरा ही संकट आ पहुँचा। टोंक के नवाब ने चार तोपों के साथ अपनी कुछ सेना उसका सामाना करने के

लिए भेज दिया और किसी भी प्रकार तात्या टोपे को टोंक से निकाल देने का आदेश भी कर दिया। वह सब सेना तुरंत तात्या टोपे का सामना करने के लिए चल पड़ी किन्तु आश्चर्य की बात यह हुई कि नवाब के आदेश का उल्लंघन कर वह सेना सामने आते ही तात्या टोपे से जाकर मिल गई और युद्ध का सारा सामान उसके हाथों मे दे दिया। अपनी उस नई सेना और सामान के साथ तात्या टोपे अब इन्द्रगढ़ की ओर बढ़ा। उन दिनों वर्षा जोरों के साथ हो रही थी और पीछे से कर्नल होम्स अपनी सेना के साथ उसकी ओर बढ़ा चला आ रहा था और राजपूताने की ओर से सेनापति राबर्टस के अधीन एक दूसरी सेना तात्या टोपे पर आक्रमण करने के लिए बढ़ी आ रही थी। उस समय चम्बल नदी तात्या टोपे के सामने थी और खूब चढ़ी हुई थी।

उन तीनों आपत्तियों से बचकर तात्या टोपे पूर्व और उत्तर के कोने की ओर बढ़ा उसका विचार बूँदी पहुँचने का हो रहा था। चलते-चलते नीमच नसीराबाद प्रान्त मे वह भीलवाड़ा नामक एक ग्राम मे जाकर ठहरा। इस समाचार को पाते ही ७ अगस्त सन् १८५८ को जनरल रावर्टस ने तात्या टोपे पर चढ़ाई की। दिन भर घमासान संग्राम होता रहा। रात्रि के समय अपनी सैना और तोपों के साथ तात्या टोपे उदयपुर रियासत मे कोटरा ग्राम की ओर निकल गया। कोटरा मे भी १४ अगस्त को फिर अगरेजी सेना ने उसे घेर लिया। घिर जाने पर फिर घोर युद्ध हुआ किन्तु इस बार तात्या टोपे को अपनी तोपें मैदान मे छोड़ कर पीछे हट जाना पड़ा। ज्यों-ज्यों वह पीछे हट रहा था त्यों-त्यों अँगरेजी सेना उसका पीछा करती जा रही

थी। किसी ओर से मार्ग न पाकर वह वीर मराठा सेनापति फिर चम्बल की ओर बढ़ा।

इसी समय एक अँगरेजी सेना पीछे से तात्या की ओर बढ़ी चली आ रही थी, दूसरी सेना दाहिनी ओर से बड़ी शीघ्रता के साथ बढ़ी चली आ रही थी, और तीसरी सेना ठीक उसके सामने पहले से ही चम्बल के किनारे तैयार खड़ी थी। फिर भी वह वीर योद्धा साहस के साथ आगे बढ़ा और पूर्ण राजनीति का अवलम्बन कर किसी को धोखा देते हुए और किसी से अपने को बचाते हुए चम्बल तक पहुँच गया। इतना ही नहीं, आश्चर्य-जनक फुर्ती के साथ अँगरेजी सेना से कुछ ही दूरी पर चम्बल नदी को पार कर गया। अब तो वह चम्बल नदी तात्या टोपे और अँगरेजी सेना के बीच में पड़ गई। चूँकि उस समय तात्या टोपे के पास न रसद थी और न तोपें थीं इसलिए वह कहीं भी न रुक कर सीधे झालरापट्टन की ओर बढ़ा और उधर वहाँ का राजा अपनी सेना और तोपों के साथ उस पर आक्रमण करने के लिए निकला किन्तु उसका सामना होते ही झालरापट्टन की समस्त सेना थोड़ी देर के लिए रुक गई और फिर तात्या टोपे से जाकर मिल गई। अब तो तात्या टोपे को सेना, सामान और रसद आदि सब कुछ मिल गया। जिस समय वह झालरापट्टन की ओर बढ़ रहा था उस समय उसके पास एक भी तोप न थी किन्तु अब उसके पास ३२ तोपें हो गईं। विजयी तात्या ने तुरन्त झालरापट्टन के राजा से युद्ध के खर्च के लिए पन्द्रह लाख रुपये वसूल किये। पाँच दिनों तक तात्या वहीं ठहरा रहा। उसने अपनी सेना को वेतन दिया। रावसाहब और बाँदे का नवाब बराबर तात्या के साथ थे। तीनों ने मिलकर फिर नर्बदा नदी को

पार करने का विचार किया। इन लोगों को रोकने और फाँसने के लिए अँगरेजों ने अपनी समस्त सेनाओं का एक विस्तृत जाल-सा बिछा दिया किन्तु इससे अब होता क्या है? क्योंकि तात्या टोपे के पास भी इस समय सामना कर सकने के लिए प्रर्याप्त युद्ध की सामग्री थी। वह अब इन्दौर की ओर बढ़ा।

यह वह समय था जब कि छः बड़े-बड़े अँगरेज सेनापति राबर्टस, होम्स, पार्क, मिचेल, होप और लौरबार्ट सभी ओर से तात्या को घेर लेने का प्रयत्न कर रहे थे। कई बार तात्या और उसकी सेना अँगरेज की सेना को सामने दिखाई तक दे जाती थी किन्तु उस दशा मे ही तात्या बच कर निकल जाता था। उसे घेर सकना अँगरेजी सेना के लिए कठिन होने लगा किन्तु इतना सब होने पर भी अँगरेजी सेना निरंतर पीछा करने लगी। सहसा रायगढ़ के निकट मिचेल की सेना तात्या टोपे पर बड़े ही भयानक रूप से टूट पड़ी। थोड़ी देर तक सग्राम होता रहा फिर तीस तोंपे मैदान मे छोड़ कर तात्या टोपे अपने को बचाता हुआ निकल गया। रास्ते मे एक स्थान पर उसे चार तोपे और मिल गईं।

इन सब घटनाओं के बाद उत्तर की ओर बढ़कर तात्या ने सींधिया के नगर ईशगढ़ पर आक्रमण किया और वहाँ से आठ और तोपें प्राप्त कीं। जिसे किसी भी प्रकार हो, वह नर्बदा नदी को पार करने की धुन मे था और अँगरेजों की विशाल सेना चारों ओर से घेर कर उसे रोकना चाहती थी तात्या टोपे की इस समय वाली समस्त यात्राओं, चालों, विजयों और पराजयों की घटनाओं का वर्णन कर सकना असम्भव है। उसके सम्बन्ध मे एक अँगरेज लेखक इस प्रकार लिखता है—

"इसके बाद तात्या के बचने और भाग जाने का वह आश्चर्य-जनक सिलसिला आरम्भ होता है जो दस महीने तक निरन्तर चलता रहा और जिससे मालूम होता था कि हमारी विजय निष्फल हो गई। इस सिलसिले के कारण तात्या का नाम समस्त यूरोप मे हमारे अधिकाँश अँगरेज सेनापतियों के नामों की तुलना मे भी कही अधिक प्रसिद्ध हो गया। तात्या के सामने समस्या सरल न थी। × × × उसे अपनी अव्यवस्थित सेना को लगातार इतनी शीघ्रातिशीघ्र गति से ले जाना पड़ता था कि जिससे न केवल उसका पीछा करने वाली सेनाएँ ही, बल्कि वे सेनाएँ भी जो कभी दाहिनी ओर से और कभी बाई ओर से अचानक उस पर आक्रमण करने लगती थीं, वे सभी हाथ मलती रह जाती थीं। एक ओर वह इस प्रकार पागल के समान अपनी सेना को भगाता हुआ लिये जाता था, दूसरी ओर वह दर्जनों शहरों पर अधिकार कर लेता था, अपने साथ नया सामान जमा कर लेता था, इधर-उधर से नई तोपें साथ ले लेता था और इन सब के अतिरिक्त अपनी सेना के लिए इस प्रकार के नये रगरूट स्वयसेवक के रूप में भर्ती करता जाता था जिन्हे कि साठ मील रोजाना के हिसाब से लगातार भागना पड़ा था। अपने थोड़े साधनों से तात्या ने जो कुछ कर दिखाया, उससे सिद्ध होता है कि उसकी योग्यता साधारण न थी। × × × वह उस श्रेणी का मनुष्य था जिस श्रेणी का कि हैदरअली था। कहा जाता है कि तात्या नागपुर से होकर मद्रास पहुँचना चाहता था। यदि वह वास्तव मे मद्रास पहुँच जाता तो वह हमारे लिए उतना ही भयानक सिद्ध होता जितना कि हैदरअली किसी समय हो चुका था। उसके लिए नर्मदा इतनी ही बड़ी

रुकावट साबित हुई जितनी कि इग्लिश चैनल नैपोलियन के लिए। तात्या सब कुछ कर सका किन्तु नर्बदा को पार न कर सका। ××× प्रारम्भ में अँगरेजी सेनाए इतने ही धीरे-धीरे आगे बढ़ीं जितने धीरे चलने की उन्हे आदत थी किन्तु फिर लाचार होकर उन्होंने शीघ्र गति से चलना सीख लिया। जनरल पार्क और कर्नल नेपियर की अन्तावली कोई-कोई यात्राएं इतनी ही तेज थीं जितनी तात्या की औसत आधी यात्राएं। फिर भी तात्या बच कर निकल जाता रहा। गर्मियाँ निकल गईं, सारी बरसात निकल गई, सारी सर्दी निकल गई और फिर समस्त गर्मी निकल गई, किन्तु फिर भी तात्या निकला चला जा रहा था। उसके साथ कभी दो हजार थके हुए अनुयायी होते थे और कभी पन्द्रह हजार।"

इतना सब हो जाने के बाद तात्या टोपे ने अपनी सेना के दो टुकड़े कर डाले। एक को अपने अधीन रखा और दूसरे को राव साहब के अधीन कर दिया। दोनों दल दो ओर से आगे बढ़े। कई स्थानों मे अँगरेजी सेना से सग्राम करते हुए वे दोनों दल ललितपुर मे जाकर फिर मिल गये यहाँ पर दक्षिण मे मिचेल की सेना, पूर्व मे कर्नल लिडेल की सेना, उत्तर मे कर्नल मीड की सेना, पश्चिम मे कर्नल पार्क की सेना और चम्बल की ओर से जनरल राबर्टस की सेना—पाँच ओर से पाँच अँगरेजी सेनाओं ने तात्या टोपे को घेर लिया। अँगरेजी सेना को धोखा देने के लिए तात्या ने अब दक्षिण की यात्रा छोड़कर शीघ्रता के साथ उत्तर की ओर बढ़ना आरम्भ कर दिया। अँगरेजों ने भी समझ लिया कि तात्या ने दक्षिण जाने का विचार छोड़ दिया ऐसा समझ लेने पर वे सब अपने प्रयत्नों मे शिथिल पड़

गये। उन सबों के शिथिल पड़ते ही तात्या उत्तर मे जहाँ तक पहुँच पाया था, वहीं रुक गया। जब उसे विश्वस्त-शूत्र से ज्ञात हो गया कि अँगरेजी सेना के सभी अफसर उसकी ओर से निश्चित हो चुके हैं और उसे घेरने के प्रयत्नों को भी शिथिल करने लगे है तब वह उत्तर की ओर थोड़ा-सा और बढ़कर अचानक मुड़ पड़ा और बड़ी शीघ्रता के साथ बेतवा नदी को पार कर गया।

जैसे ही वह बेतवा नदी को पार कर आगे की ओर बढ़ा वैसे ही कजूरी नास के एक स्थान पर अँगरेजी सेना ने उसे घेर लिया। फिर क्या था ? तुरन्त सग्राम होने लगा और किसी प्रकार वहाँ से बच कर वह रायगढ़ पहुँचा और फिर सीधा तीर की तरह दक्षिण की ओर लपका। उसकी इन सब चालों से अँगरेज घबरा गये। जनरल पार्क एक ओर से लपका, मिचेल पीछे से लपका और बेचर सामने से तात्या टोपे की ओर बढ़ा किन्तु वह अपनी सेना सहित नर्बदा नदी के तट पर पहुँच गया और होशगाबाद के समीप बड़े-से बड़े युद्ध-विद्या-विशारदों को चकित कर अपनी समस्त सेना के साथ नर्बदा नदी को सकुशल पार कर गया।

इस घटना के सम्बन्ध मे इतिहास लेखक मालेसन लिखता है—"जिस दृढ़ता और धैर्य के साथ तात्या ने अपनी इस योजना को सफल बनाया उसकी प्रशसा करनी ही पड़ती है।"

लन्दन 'टाइम्स' के सम्वाद-दाता ने लिखा—"हमारा अत्यन्त अद्भुत मित्र तात्या टोपे इतना कष्ट देने वाला और

चालाक शत्रु है कि उसकी प्रशंसा नहीं की जा सकती। पिछले जून के महीने से उसने मध्य भारत मे तहलका मचा रखा है, उसने हमारे स्थानों को रौंद डाला है, खजाने को लूट लिया है और हमारे मैगजीनों को खाली कर दिया है। उसने सेनाएँ जमा कर ली हैं और खो दी है। लड़ाइयाँ लड़ी हैं और हार खाई हैं। देशी-नरेशों से तोपें छीन ली हैं और उन तोपों को खो दिया है। फिर और तोपे प्राप्त की हैं, उन्हें भी खो दिया है। इसके बाद उसकी यातनाएँ बिजली के समान प्रतीत होती है। अठवाड़ों वह तीस-तीस और चालीस-चालीस मील प्रति दिन चला है कभी नर्मदा के इस पार और कभी उस पार। कभी वह हमारे सैन्य दलों के बीच से निकल गया है, कभी पीछे से और कभी सामने से।×××कभी पहाड़ों पर से कभी नदियों पर से, कभी खाइयों मे से और कभी घाटियों मे से, कभी दल-दलों मे से, कभी आगे से और कभी पीछे से, कभी एक ओर से और कभी घूम कर, ×××फिर भी वह हाथ न आया।"

इस प्रकार अँगरेजी सेना से लड़ता और बचता हुआ अंत मे अक्टूबर सन् १८५८ मे टात्या टोपे अपनी सेना सहित राव साहब और बाँदा के नवाब को साथ लिये हुए नागपुर के निकट पहुँच गया। लार्ड कैनिंग और उसके साथी विशेष रूप से घबरा गये। उस दशा में उन सब को क्या करना चाहिए था, यही उनकी समझ मे नहीं आ रहा था। तात्या टोपे के नागपुर के निकट पहुँच जाने के समाचार से अँगरेज फिर से अपनी असफलता का स्वप्न देखने लगे और उनके लिए भविष्य कितना वीभत्स और भयानक होगा इसकी भी जो कुछ कल्पना कर सके

उससे भी अधिक भयभीत होने लगे। इस सम्बन्ध मे इतिहास लेखक मालेसन इस प्रकार लिखता है—

"जिस मनुष्य को महाराष्ट्र—अन्तिम पेशवा का न्याय-युक्त उत्तराधिकारी स्वीकार करता था उसी का भतीजा (तात्या टोपे) सेना के साथ महाराष्ट्र की भूमि पर जा पहुँचा। ××× निजाम हमारा वफादार था किन्तु वह समय बड़ा विचित्र था। ××× इससे पहले भी इस प्रकार की मिसाले हो चुकीं थी जब कि यदि किसी नरेश ने राष्ट्र के भावों के विरुद्ध कार्य किया तो प्रजा ने अपने उस नरेश के विरुद्ध विद्रोह खड़ा कर दिया। सींधिया के विरुद्ध भी इस प्रकार का विद्रोह हो चुका था। हमे यह भय होना आवश्यक था कि कही ऐसा न हो कि तात्या की सेना समस्त महाराष्ट्र को हमारे विरुद्ध शस्त्र उठा लेने के लिए उत्तेजित कर दे और फिर जब समस्त महाराष्ट्र जाति विदेशियों के विरुद्ध हथियार उठा ले तब इसे देख कर दक्षिण (अर्थात् निजाम-हैदराबाद के इलाके) के लोग भी रोके न रुक सके।"

इसी-प्रकार की सैकड़ों बातें सोच-सोच कर उस समय के लार्ड कैनिंग और अनेक अँगरेज अफसर दिन-रात चिन्तित रहा करते थे। दिन मे न तो उन सबों को भूख लगती थी और न रात मे नींद आती थी। प्रत्येक समय उन सबों के नेत्रों के सामने तात्या टोपे का चित्र ही घूमा करता था। भविष्य किधर पलटा खाता है इसे समझ सकने मे उस समय के बड़े बड़े राज-नीतिज्ञ असमर्थ हो रहे थे। अँगरेजों के सामने तो केवल यही एक प्रश्न था कि यदि तात्या टोपे के साथ समस्त महाराष्ट्र जाति हो गई और उनसे उत्तेजित होकर अँगरेजों के विरुद्ध

हथियार उठा लिया तो फिर भारत में रहने वाले अँगरेजों का क्या होगा? इसी प्रश्न को लेकर वे परस्पर परामर्श करते और भयभीत होते थे यह सभी के निकट स्पष्ट होने लगा था कि तात्या को अपने आधीन कर सकना अँगरेजों के लिए बड़ी ही कठिन समस्या है।

इसमे सन्देह नहीं कि यदि यही घटना एक साल पहले होती तो फिर यह भी सम्भव था कि शेष भारतीय इतिहास की गति दूसरी ओर ही पलट जाती किन्तु इस स्थल पर यह भी मानना पड़ेगा कि उस समय के पिछले एक वर्ष के अन्दर भारतवासियों का उत्साह विशेष रूप से भंग हो चुका था। उत्तरी भारत मे जिस तात्या को लोग स्वयं आ-आकर बड़ी प्रसन्नता के साथ रसद पहुँचाते थे उस तात्या के समीप नागपुर की महाराष्ट्र जनता अब आने तक से भी डरने लगी।

तात्या टोपे ने वहाँ की परिस्थिति को समझ लिया फिर कुछ दिनों तक उसकी सेना वहीं ठहरी रही। इतने मे ही अँगरेज सेना ने फिर उसे चारों ओर से घेरना आरम्भ कर दिया। उस समय तात्या के दक्षिण और उत्तर दोनों ही दिशाओं मे अँगरेजों की विशाल सेनाएँ थीं। उत्तर की ओर से अँगरेजी सेना नर्बदा पार कर बढ़ी चली आ रही थी और इधर नागपुर से तात्या को कोई सहायता न मिल सकी। जब बचाव का कोई दूसरा उपाय समझ मे न आया तब फिर विवश होकर तात्या ने बड़ौदा की ओर बढ़ने का विचार किया।

अपने इस विचार को लेकर जैसे ही तात्या टोपे आगे बढ़ा वैसे ही उसे बड़ा आश्चर्य हुआ। उसने देखा कि नर्बदा के प्रत्येक घाट पर दोनों ओर अँगरेजों की सेना पड़ी हुई है। फिर भी

साहस करता हुआ वह आगे की ओर बढ़ा और उसके बढ़ते ही मेजर सण्डरलैन्ड भी अपनी सेना के साथ उसकी ओर लपका। दोनों ही ओर से सैनिक लड़ने लगे। थोड़ी देर तक संग्राम होता रहा अन्त मे तात्या टोपे ने अपनी सेना को आज्ञा दी कि सब तोपें पीछे छोड़ कर नर्बदा नदी मे कूद पड़े। तात्या और उसकी सेना एक पल भर मे नर्बदा के दूसरे पार दिखाई देने लगी। इतिहास लेखक मालेसन लिखता है—"संसार की किसी भी सेना ने कभी कहीं पर इतनी शीघ्रता के साथ कूच नहीं किया जितनी शीघ्रता के साथ कि तात्या की भारतीय सेना इस समय कूच कर रही थी।"

नर्बदा को पार कर तात्या अपनी सेना के साथ राजपुरा पहुँचा वहाँ के सरदार से उसने घोड़े और कुछ धन वसूल किया।। दूसरे दिन वह छोटा उदयपुर पहुँचा। यहाँ से बड़ौदा केवल ५० मील की दूरी पर था। इतने मे पार्क के अधीन अँगरेजी सेना छोटा उदयपुर आ पहुँची। तात्या को बड़ौदा जाने का विचार छोड़ देना पड़ा। अब वह फिर उत्तर की ओर बढ़ा। ठीक ऐसे ही समय मे निराश होकर बाँदा के नवाब ने मलका विक्टोरिया की घोषणा के अनुसार हथियार रख दिये। तात्या और राव साहब अकेले रह गये। मालेसन लिखता है—"किन्तु ये दोनों नेता इस कठिन आपत्ति के समय भी इतने शान्त, वीर और चतुर बने रहे जितने कि वे पहले किसी भी समय रह चुके थे।"

निस्सन्देह उन दोनों ने उस समय भी बड़े साहस के साथ अपने कदम बढ़ाये। बाँदा के नवाब के हथियार रख देने पर भी

वे अपने विचार पर अटल बने रहे। अँगरेजों ने कदाचित् यह समझ लिया कि तात्या टोपे और राव साहब भी अपने साथी बाँदा के नवाब का ही अनुकरण करेंगे किन्तु उन्होंने वैसा नहीं किया। तात्या टोपे ने उदयपुर की ओर बढ़ना चाहा। जैसे ही वह उदयपुर की ओर बढ़ने लगा वैसे ही अँगरेजों की कई सेनाएं उस पर प्रबल वेग से टूट पड़ीं। तुरंत वह मुड़कर समीप के जगल मे प्रवेश कर गया। किन्तु वहाँ भी उसके लिए बच सकना असम्भव-सा दिखाई देने लगा। क्योंकि वहाँ भी जगलों मे अँगरेजी सेना डटी हुई थी। जिधर तात्या जाता था उधर ही उसे अँगरेज सैनिक मिल जाते थे। किसी प्रकार रात्रि का समय आया। जब रात अधिक हुई और जगल मे उसे फाँसने वाले अँगरेज सैनिकों को दूर की वस्तु अंधकार के कारण न दिखाई पड़ने लगी तब वह उन सबके सामने से ही छाया के समान निकल गया। अँगरेज सैनिक उसे देखकर भी न देख सके।

इस घटना के बाद एक दिन तात्या टोपे और राव साहब लगभग चार बजे शाम को प्रतापगढ़ की ओर बढ़े। सामने से आकर मेजर राक ने उन दोनों का मार्ग रोक लिया। मेजर राक की सेना को परास्त करता हुआ तात्या आगे निकल गया और २५ दिसम्बर सन् १८५८ को तात्या बाँसवाड़ा के जगल से निकला। वहाँ भी उसे अँगरेज सैनिकों ने घेर लेना चाहा। जंगल मे अँगरेज सैनिकों को देखकर तात्या रुक गया और रात्रि के अन्धकार मे एक अँगरेज को मारकर और उसकी सेना को तितर-बितर कर वह वहाँ से निकल कर एक सुरक्षित स्थान मे आकर ठहर गया। ठीक इसी समय दिल्ली के राजकुल का प्रसिद्ध शाहजादा फीरोजशाह, जो अवध के संग्रामों मे भाग ले

चुका था अपनी सेना के साथ तात्या की सहायता के लिए चला आ रहा था। जिस प्रकार शाहजादे फीरोजशाह ने अपनी सेना के साथ गंगा और यमुना को पार किया और फिर तात्या से जाकर भेंट की, उसका कथानक भी बड़ा विचित्र है। १३ जनवरी सन् १८५९ को इन्द्रगढ़ मे फीरोजशाह, तात्या और राव साहब मे भेंट हुई। सींधिया का एक सरदार मानसिंह भी उस समय इन लोगों मे आकर मिल गया।

यह ऐसा विकट समय था जब कि वीर तात्या टोपे फिर बुरी तरह चारों ओर से घिरने लगा था। नेपियर उसके उत्तर मे था, शावर्स उत्तर-पश्चिम मे, सोमरसेट पूर्व में, स्मिथ दक्षिण-पूर्व मे मिचेल और बैनसग दक्षिण मे और बॉनर दक्षिण-पश्चिम मे। ये सब तात्या को घेर लेने के लिए शीघ्र गति से बढ़े चले आ रहे थे। बढ़ते-बढ़ते तात्या देवास पहुँचा। १६ जनवरी सन् १८५९ को सवेरे देवास मे तात्या, राव साहब, और फीरोजशाह तीनों एक ही स्थान पर बैठै बात-चीत कर रहे थे। अचानक किसी अँगरेज अफसर का हाथ तात्या की कमर पर पड़ा और तुरन्त ही अँगेरेजी सेना ने उन तीनों पर आक्रमण कर दिया। उस परिस्थिति मे ऐसा ज्ञात हुआ, मानों तात्या पकड़ गया, किन्तु फिर भी ये तीनों विप्लवकारी सैनिकों के नेता अचानक अँगरेजी सेना के सैनिकों के चंगुल से निकल गये। चारों ओर खोज की गई किन्तु कोई भी अँगरेज सैनिक अथवा अँगरेज जासूस उन तीनों का पता न लगा सका।

२१ जनवरी को ये तीनों अलवर के निकट शिखरजी में दिखाई पड़े। अँगरेजी सेना निरंतर उन्हें घेरने के लिए प्रयत्न कर ही रही थी अतएव फिर एक स्थान पर मुठभेड़ हो गई।

दोनों ओर के सैनिक संग्राम के मैदान में उतर पड़े। घमासान युद्ध होने लगा। इसमे सन्देह नहीं कि दोनों ओर के सेनापति युद्ध-विद्या मे पारंगत थे और वे अपनी-अपनी सेनाओं का सञ्चालन उचित समय के अनुसार उचित ढग से कर रहे थे। दोनों की ही योग्यता और रण-कुशलता समान थी। यदि तात्या पक्ष मे कोई कमी थी तो वह सैनिकों और सामान की ही हो सकती थी। कुछ भी हो, दोनों ही ओर के सैनिकों मे उत्साह था और विजय-लाभ की कामना भी थी। तात्या के पक्ष से जितने सैनिक लड़ रहे थे वे सब अपनी विजय मे अपने देश की स्वतन्त्रता की रूप-रेखा को देख रहे थे और अँगरेजी सेना के सैनिक अपनी विजय मे अपने देश की शासन नीति और शोषण-प्रणाली की सत्ता से भारतवर्ष को तबाह कर देने का सुनहला स्वप्न देखने लगे थे और अँगरेजी सेना के वेतनभोगी सैनिक अपनी विजय मे अपने स्वामी और कम्पनी की दयालुता के लिए बड़ी-बड़ी आशाओं का महल बनाने की कल्पना करने लगे थे।

उस भयानक युद्ध का परिणाम यह हुआ कि स्वतन्त्रता के पुजारी सैनिकों के सामने कम्पनी की सेना का पैर उखड़ने लगा। अँगरेजी सेना के सेनापति लज्जित होने लगे। किसी प्रकार उत्साह दिलाने और उत्तेजित करने पर अँगरेजी सेना के सैनिक फिर आगे बढ़ने का साहस करने लगे। उनका दुबारा साहस करना ही उनके लिए विजय का कारण बन गया। वास्तव मे घटना इस प्रकार हुई कि तात्या टोपे का विश्वासपात्र सहायक सामन्त घोड़पदे भी घायल हो चुका था। वह वीर केशरी शिवाजी का वंशज था। उसके गिरते ही तात्या की समस्त

आशाएं टुकड़े-टुकड़े हो गईं फिर भी वह युद्ध के मैदान में डटा रहा। जब विजय की आशा जाती रही तब वह अँगरेजी सेना से बच कर तुरन्त जगल मे जाकर छिप गया किन्तु परिस्थिति और समय शीघ्रता के साथ उसके प्रतिकूल होता चला जा रहा था।

तात्या टोपे ने जिस जंगल मे जाकर आश्रय लिया था, उसी के समीप वाले जंगल मे सींधिया का सरदार मानसिंह भी छिपा हुआ था। तात्या ने फीरोजशाह और रावसाहब को सेना के साथ उसी जंगल मे छोड़ दिया और स्वयं तीन आदमियों के साथ मानसिंह से मिलने के लिए चल पड़ा। मानसिंह इतने ही समय मे अँगरेजों से मिल चुका था और अँगरेजों ने उसे जागीर देने का वादा कर लिया था। इसलिए तात्या टोपे को गिरफ्तार करा देने के लिए वह बड़े उत्साह से कार्य करने लगा था किन्तु इस गुप्त षड्यन्त्र को तात्या नहीं जान सका था। इधर फीरोजशाह ने तात्या को वापस अपने पास बुलाना चाहा और उधर मानसिंह ने उसे रोक लिया और ७ अप्रैल सन् १८५९ को ठीक आधी रात के समय सोते हुए तात्या को भारत के शत्रु, अँगरेजो के हवाले कर दिया।

यहाँ पर पाठक यह प्रश्न उपस्थित कर सकते हैं कि ऐसा रण-कुशल वीर सेनापति क्योंकर मानसिंह के जाल मे फंसा? इस प्रश्न के उत्तर मे हमे इतना ही कहना है कि मानसिंह जो सींधिया का सरदार था, ऐसा विश्वासघात करेगा इसकी कल्पना भी तात्या ने नही की थी और करने की कोई आवश्यकता भी न थी। पहले से ही साथ था, विश्वासघात का कोई भी कार्य उसने नहीं किया था। जिस प्रकार तात्या एक जंगल से दूसरे

जंगल में जाकर छिपता और शत्रु पर आक्रमण करता था उसी प्रकार मानसिंह भी उसका साथ देता था। जिस समय तात्या मानसिंह से मिलने गया था उस समय भी उसे विश्वास था कि भारत से अँगरेजों को भगाने वाले स्वाधीनता-संग्राम मे वह भी उसी के समान अपने आपको अर्पित कर चुका है इसीलिए वह उससे भविष्य के कार्यक्रम पर परामर्श करने चला गया था। अपने ही विश्वासपात्र व्यक्ति यदि विश्वासघात करें तो फिर कोई क्या कर सकता है! संसार के सभी कार्य एक दूसरे के भरोसे पर ही सफल हुआ करते हैं।

१८ अप्रैल सन् १८५९ तात्या टोपे के लिए फाँसी का दिन नियत हुआ। चारों ओर फौज का कड़ा पहरा था। लिखा है की फौज के चारों ओर टीलों पर खड़े हजारों ग्राम-निवासी तात्या को दूर से बड़ी श्रद्धा के साथ नमस्कार कर रहे थे। तात्या धैर्य और साहस के साथ फाँसी के तख्ते पर चढ़ा, उसकी बेड़ियाँ काटी गईं। तात्या ने हंसते हुए अपने हाथ से फाँसी का फन्दा गले मे डाल लिया फिर चारों ओर अपनी दृष्टि दौड़ाई। फिर जननी जन्म-भूमि का ध्यान मन ही मन करने लगा। इतने मे ही तखता खींचा गया। संध्या समय तक तात्या का शव फाँसी पर लटकता रहा। सन्ध्या समय अनेक अँगरेज दर्शकों ने दौड़ कर तात्या के मस्तक के दो-दो चार-चार केश तोड़ लिये और वीर तात्या की स्मृति-चिन्ह स्वरूप उन्हे अपने पास रख लिया।

वीर तात्या टोपे के बाद भी रावसाहब और शाहजादा फीरोजशाह एक महीने तक जी तोड़ कर लड़े। इसके बाद भेष बदल कर वे दोनों जगलों मे निकल गये। फीरोजशाह सन्

१८६४ तक भारत के जगलों मे घूमता रहा उसके बाद अरब चला गया जहाँ वह सन् १८६६ मे अन्य असंख्य देश से निकाले गये भारतीय विप्लवकारियों के संग फकीर के भेष मे देखा गया। तीन साल के बाद रावसाहब भी पकड़ा गया और २० अगस्त सन् १८६२ को कानपुर मे फाँसी पर लटका दिया गया।

अब पाठक समझ गये होंगे कि किस प्रकार भारत को विदेशी शासन से मुक्त करने का सब से महान् और व्यापक प्रयत्न निष्फल गया और देशद्रोहियों के कारण अँगरेजी-सत्ता की जड़ एक काल के लिए और अधिक दृढ़ता के साथ इस देश मे जम गई।

विप्लवकी असफलता और उसके बाद

सन् १८५७ के विप्लव का समस्त वृत्तान्त हम बतला चुके हैं। साथ ही साथ यह भी बतला चुके हैं कि किन-किन कारणों से यह विप्लव सफल होते होते असफल ही रह गया। कुछ भी हो पाठकों का ध्यान इस ओर विशेष रूप से आकर्षित करने के लिए हम बतलाए हुए वृत्तान्त के अधार पर पुनः एक बार दृष्टिपात करना उचित समझ रहे हैं। सन् १८५७ के विप्लव को असफल बनाने वाले कारण हमे साधारणतया पाँच ही दिखाई पड़ते हैं। वे कारण संक्षेप में इस प्रकार के कहे जा सकते हैं—

पहला कारण—चर्बी के कारतूसों और विशेषकर मेरठ की घटना के कारण विप्लवकारियों ने स्वाधीनता के संग्राम को निश्चित समय से पहले ही आरम्भ कर दिया। विप्लव के वृत्तान्त को बतलाते हुए हमने मालेसन, विलसन ह्वाइट जैसे अँगरेज इतिहास लेखकों की सम्मति को भी उचित स्थान पर लिख दिया है। उनका भी यही विचार है कि यदि पूर्व निश्चय के अनुसार ३१ मई सन् १८५७ को एक ही साथ सभी स्थानों पर स्वाधीनता का यह व्यापक और महान सग्राम आरम्भ हुआ होता तो कम्पनी के अँगरेज शासकों के लिए भारतवर्ष को फिर से विजय कर सकना किसी भी प्रकार सम्भव न होता।

दूसरा कारण—सन् १८५७ के स्वाधीनता संग्राम के विरुद्ध भारतवर्ष के सिखों और गोरखों ने कम्पनी के अँगरेजों की

सहायता करके उनके लिए दिल्ली और लखनऊ जैसे विप्लव के महान केन्द्रों को फिर से विजय कर सकना सम्भव बना दिया। इस विषय मे पञ्जाब प्रान्त के चीफ कमिश्नर सर जान लारेन्स के कथन का उल्लेख स्पष्ट रूप से किया जा चुका है। इसमे कुछ भी सन्देह नहीं कि यदि पटियाला, नाभा और झींद ने विप्लव के सफल होने वाले क्षण मे अँगरेजों की सहायता न की होती तो कम्पनी के अँगरेज स्वप्न मे भी भारतवर्ष की राजधानी दिल्ली को अपने अधिकार मे नहीं ला सकते थे। दिल्ली के विप्लवकारी सैनिक और उनके नेता ऐसा कुछ कर दिखाते कि अँगरेजों की हड्डियाँ भी भारतवर्ष के किसी कोने मे न दिखाई पड़ती। यह सभी स्वीकार करते हैं कि यदि दिल्ली की विप्लवकारी सेना विजय प्राप्त कर पूर्व और दक्षिण मे उतर आती तो सन् १८५७ के विप्लव के बाद का समस्त मान चित्र ही बदल जाता। यह भी मानी हुई बात है कि विप्लवकारियों का संगठन सुन्दर व्यवस्थित और सभी दृष्टिकोणों से प्रशसनीय था फिर भी कम से कम असंख्य सिख और गोरखे जैसे भारतवासी अपने देशवासियों के विरुद्ध भिन्न-भिन्न प्रकार से अँगरेजों की सहायता कर रहे थे। इस सम्बन्ध मे रसल नाम का एक अँगरेज इस प्रकार लिखता है—

"फिर भी हमे यह स्वीकार करना पड़ता है कि अँगरेज चाहे कितने भी बहादुर क्यों न हों, यदि समस्त भारतवासी पूर्ण रूप से हमारे विरुद्ध हो जाते तो भारत मे अँगरेजों का निशान तक कहीं शेष न रह जाता। हमारे किलों के अन्दर की सेनाओं ने जिस प्रकार जी तोड़ कर अपने स्थानों की रक्षा की है; निस्सन्देह वह सब वीरोचित ही था। किन्तु इस वीरता मे

भारतवर्ष के निवासी भी शामिल थे और उन्हीं की सहायता और उपस्थिति के कारण उन स्थानों की रक्षा करना हमारे लिए सम्भव हो सका। यदि पटियाला और झींद के राजा हमारे साथ मित्रता के भाव न प्रदर्शित करते और यदि सिख हमारी पलटनों मे न भर्ती होते और उधर पजाब को शान्त न रखते तो दिल्ली को घेर लेना हम लोगों के लिए सर्वदा असम्भव हो जाता। लखनऊ मे भी सिखों ने हमारी बड़ी सहायता की और प्रत्येक स्थान पर जिस प्रकार भारतवासी हमारी सेनाओं में भर्ती होकर लड़ाई मे हमारी शक्ति को बढ़ाते थे, उसी प्रकार प्रत्येक स्थान पर भारतवासी ही हमारी घिरी हुई सेना की सहायता भी करते थे, हमे भोजन पहुँचाते थे और हमारी सेवा करते थे। इस क्षण भी यहाँ इस कैम्प मे हमारी और सब की दशा क्या है? देशी फौजे ही सब से आगे रह कर हमारी रक्षा कर रही हैं, देशी लोग हमारे घोड़ों के लिए घास काट रहे हैं, वे ही हमारे सईस हैं, वे ही हमारे हाथियों को चारा देते है वे ही हमारी बारबरदारी का प्रबन्ध करते है, कमसरियट मे वही हमारे भोजन का प्रबन्ध करते हैं, वे ही हमारे गोरे सिपाहियों का खाना पकाते हैं, वे ही हमारे कैम्प की सफाई करते हैं, वे ही हमारे डेरे गाड़ते हैं और उन्हे इधर उधर ले जाते हैं, वे ही हमारे अफसरों का सब काम करते है और वे ही अपने पास से रुपये उधार देते हैं। जो गोरा सिपाही मेरे साथ लिखने-पढ़ने का काम करता है, वह कहता है कि बिना हिन्दुस्तानी नौकरो, डोली उठानेवालों, अस्पताल के आदमियों और अन्य भारतवासियों के, उसकी पलटन एक सप्ताह भी जीवित न रह सकती।" जिस प्रकार सिखों की सहायता के बिना दिल्ली

को जीत सकना असम्भव था उसी प्रकार गोरखों की सहायता के बिना लखनऊ पर कम्पनी के अँगरेजों का अधिकार हो सकना असम्भव था।

तीसरा कारण—जिस समय कम्पनी की अँगरेजी सेना ने दिल्ली को घेर लिया था उस समय दिल्ली मे आये हुए विप्लव-कारियों मे कोई ऐसा योग्य शक्तिशाली और प्रभावशाली नेता न था जो नगर के अन्दर की समस्त शक्तियों को अपने अनु-शासन मे कर उन्हें एक महान् प्रयत्न के लिए आगे बढ़ा सकता। यही एक मात्र मुख्य कारण था कि राजधानी दिल्ली के अन्दर की विशाल विप्लवकारी सेना बाहर निकल कर नगर के बाहर की अँगरेजी सेना को, जिसकी संख्या उनकी तुलना मे कहीं कम थी, महीनों तक न समाप्त कर सकी और न हरा सकी। ऐसी ही त्रुटि किसी सीमा तक अवध की राजधानी लखनऊ मे भी थी और इसी कारण कभी-कभी ठीक आपत्ति काल मे ही विप्लवकारियों मे व्यवस्था और आज्ञा-पालन की कमी विशेष रूप से दृष्टिगोचर होती थी।

चौथा कारण—सींधिया, होलकर और राजपुताने के नरेशों का केवल संकोच और विप्लवकारियों की सफलता पर अविश्वास के कारण उस महान् और व्यापक राष्ट्रीय विप्लव मे भाग न ले सकना भी विप्लव की असफलता का एक विशेष कारण था। यदि महाराजा जयाजीराव सींधिया अथवा कोई प्रसिद्ध राजपूत नरेश उचित समय पर अपनी सेना के साथ भारतवर्ष की राजधानी दिल्ली मे पहुँच जाता तो कम्पनी की सेना के लिए दिल्ली और दिल्ली के आस-पास वाले स्थानों मे अधिक

समय तक ठहर सकना असंभव हो जाता। इतना ही नहीं, समस्त भारतवर्ष में भी उन्हे कोई स्थान न प्राप्त होता, साथ ही साथ राजधानी दिल्ली के अन्दर प्रभावशाली और योग्य नेता का अभाव भी दूर हो जाता। सम्राट बहादुरशाह ने इन सबों को विप्लव के पक्ष मे लाने का भरसक प्रयन्त किया था किन्तु इन सबों ने उस ओर तनिक भी ध्यान न दिया परिणाम यह हुआ कि राजधानी दिल्ली का पतन होते ही समस्त भारतवर्ष के विप्लव का प्रयन्त शिथिल पड़ने लगा।

पॉचवाँ कारण—जिस उत्साह के साथ विन्ध्याचल से उत्तर के भाग ने स्वाधीनता-संग्राम को सफल बनाने के लिए विप्लव मे भाग मे लिया था उसी उत्साह के साथ विन्ध्याचल से नीचे के भाग ने विप्लव का साथ नहीं दिया। इसमे सन्देह नहीं कि उस भाग से लोगों को बड़ी-बड़ी आशाएं थीं किन्तु सभी आशाओं पर पानी फिर गया था। कहा जाता है कि उस भाग के लोगों ने उत्तरी भाग के लोगों की तुलना मे शतांश भी विप्लव के प्रयन्तों को सफल बनाने के लिए प्रयत्न नहीं किया था। यदि बम्बई, मद्रास, और माहाराष्ट्र जैसे दक्षिणी प्रान्तों मे उत्तरी भारत के साथ-साथ उसी प्रकार का युद्ध आरम्भ हो गया होता तो उन प्रान्तों से उत्तर की ओर सेना भेज सकना ॲगरेजों के लिए असंभव होता। जनरल नील, जनरल हैवलाक इत्यादि कलकत्ते तक भी न पहुॅच पाते और बनारस, इलाहाबाद कानपुर और अन्त मे लखनऊ विजय कर सकना ॲगरेजों के लिए किसी भी दशा मे संभव न होता। आगे चलकर परिणाम यह होता कि भारत मे रहनेवालों को दास बनाने वाले ॲगरेज

जिस रास्ते से भारत में आये थे, उसी रास्ते से चुपचाप लौट भी जाते।

सन् १८५७ के विप्लवकारियों द्वारा चलाये गये स्वाधीनता-संग्राम की असफलता के ये पाँचों कारण इस प्रकार के हैं कि यदि इनमें से कोई एक भी अनुपस्थित होता तो शेष चारों के होने पर भी कदाचित् यह स्वाधीनता का संग्राम अथवा सन् १८५७ का महान् और व्यापक विप्लव असफल न होता और समस्त संसार में भारतवर्ष का नाम बड़े आदर के साथ लिया जाता। सन् १८५७ के विप्लव की असफलता से हम भारतवासियों को जैसे दुर्दिन देखने पड़े हैं वैसे दुर्दिन कदाचित् किसी दूसरे देशवासियों को कभी देखने पड़े हों। ऐसे दुर्दिन ईश्वर शत्रु को भी न दिखाये।

सन् १८५७ के विप्लव को असफल बनाने वाले अँगरेजों ने विप्लव के बाद से ही जिन-जिन उपायों का अवलम्बन किया उनका भी वर्णन कर देना इस स्थल पर अनुचित न होगा।

यह सभी मानते हैं कि सन् १८५७ के स्वाधीनता-संग्राम से अँगरेज राजनीतिज्ञों की आँखें खुल गईं। वे यह अनुभव करने लगे कि जितनी शीघ्रता के साथ वे कुछ समय पूर्व भारत की देशी रियासतों को हड़प कर देश के समस्त मानचित्र को लाल रंग से रंग देने के प्रयत्न में लगे हुए थे वह अँगरेजी सत्ता की स्थिरता के लिए कल्याण करने वाली नहीं थी। वे यह भली भाँति समझ गये कि अपने साम्राज्य को और अधिक बढ़ाने की अपेक्षा अब उसकी दृढ़ता के उपाय करना अधिक आवश्यक है। उन्हें अपनी लगभग एक सौ साल की शासन-नीति पर फिर से ध्यान देने के

आवश्यकता जान पड़ी। सन् १८५७-५८ के अन्दर भारत और इगलैण्ड के अँगरेजी समाचार पत्रों और राजनीति के केन्द्रों मे इस विषय के अधिक तर्क-वितर्क हुए। अन्त मे जो मुख्य-मुख्य उपाय अधिक महत्वपूर्ण समझे गये और जिनके ऊपर अधिक अश तक सन् १८५७ के बाद भारत मे अँगरेजी सत्ता की राजनीति ढाली गई उनका वर्णन इस प्रकार है—

सन् १८५८ तक बृटिश भारत का शासन ईस्ट इण्डिया कम्पनी के हाथों मे था। सन् १६०० ईसवी में इङ्गलैण्ड की मलका एलिजेबेथ ने ईस्ट इण्डिया कम्पनी की स्थापना की थी और फिर प्रति बीस साल के पश्चात् इङ्गलैण्ड की पार्लामेण्ट एक नये 'चारटर एक्ट' के द्वारा भारत के अन्दर कम्पनी के अधिकार को सुदृढ़ करती रहती थी। जिसका अभिप्राय यह था कि ईस्ट इण्डिया कम्पनी वास्तव में पार्लिमेण्ट की केवल एक एजेण्ट थी।

धूर्त और उच्छृङ्खल क्लाइव के आने से पहले ईस्ट इण्डिया कम्पनी का काम भारतवर्ष मे केवल व्यापार करना था। अँगरेज जाति का नाम कलंकित करने वाले क्लाइव के समय से ही भारत के कुछ इलाके के ऊपर कम्पनी का शासन शुरू हुआ। उसके बाद वारन हेस्टिंग्स ब्रिटिश भारत का पहला गवर्नर जनरल नियुक्त हुआ। वारन हेस्टिंग्स ही के समय मे इङ्गलैण्ड के एक मंत्री फाक्स ने पार्लिमेण्ट के सामने यह तजवीज रखी कि भारत के अन्दर जो कुछ इलाका कम्पनी के अधिकार मे आ गया है उसके शासन का प्रबन्ध कम्पनी के हाथों से लेकर इङ्गलैण्ड के शासक और इङ्गलैण्ड के मंत्रिमंडल के हाथों मे दे दिया जाय। हाउस आफ कामन्स ने फाक्स के इस तजवीज को स्वीकार कर लिया किन्तु हाउस आफ लार्डस पर ईस्ट इण्डिया

कम्पनी के धनी हिस्सेदारों का असर अधिक था, इसलिए हाउस आफ लार्डस ने फाक्स की तजवीज को अस्वीकार कर दिया।

सन् १७८३ में प्रधान मंत्री विलियम पिट ने यह तजवीज पेश की कि इङ्गलैण्ड के मंत्रिमंडल के अधीन एक नया विभाग स्थापित किया जाय और उसका नाम 'बोर्ड आफ कन्ट्रोल' रखा जाय। मंत्रियों मे से एक इस बोर्ड का प्रधान रहे और कम्पनी के संचालक अपने भारतीय राज्य के शासन की जो कुछ व्यवस्था करें वह सब इस बोर्ड की देख रेख मे करें। सन् १७८४ से लेकर सन् १८५८ तक इङ्गलैण्ड का यह सरकारी विभाग और कम्पनी के संचालक, दोनों मिल कर बृटिश भारत मे अपनी शासन नीति चलाते रहे। इसे हम यों भी समझ सकते हैं कि लगभग प्रारंभ से ही भारत मे अँगरेजी राज्य की वास्तविक बागडोर इङ्गलैण्ड के शासक और इङ्गलैण्ड की पार्लिमेण्ट के हाथों मे रही और ईस्ट इण्डिया कम्पनी इस विषय मे उनकी केवल एक एजन्ट थी।

सन् १७८३ के पश्चात् सन् १८१३ में एक नई बात यह की गई कि उस समय से भारत के साथ व्यापार करने का महत्त्वपूर्ण अधिकार भी पार्लिमेण्ट ने ईस्ट इण्डिया कम्पनी से ले लिया और प्रत्येक अँगरेज अथवा प्रत्येक अँगरेज कम्पनी को इस देश के साथ व्यापार करने का अधिकार दे दिया। इसका मुख्य कारण यह था कि इङ्गलैण्ड और भारत के बीच का व्यापार बहुत बढ़ गया था और समस्त अँगरेज जाति उससे लाभ उठाने के लिए लालायित थी। राजनीति के विद्वानों ने यह स्वीकार कर लिया कि भारत के प्राचीन उद्योग धन्धों के सर्वनाश और भारत की

वर्तमान दरिद्रता का असली कारण सन् १८१३ का 'चारटर' एक्ट था।

प्रत्येक नये चारटर एक्ट में अँगरेज जाति और अँगरेज व्यापारियों के मुख्य उद्देश्य पर पर्दा डालने के लिए कोई न कोई वाक्य इस प्रकार का जोड़ दिया जाता था। जिससे यही साबित होता था मानों इन विदेशी व्यापारियों का मुख्य ध्येय केवल भारतवासियों का हित करना ही है। उदाहरण के लिए सन् १८१३ के चारटर एक्ट मे लिखे हुए वाक्य को ही हम यहाँ उद्धृत कर रहे हैं—(भारत के) "अँगरेजी इलाकों मे रहने वालों के सुख और उनके हित को बढ़ाना (इङ्गलैण्ड का) कर्तव्य है।"

इसी प्रकार सन् १८३३ के चारटर एक्ट मे लिखा है—"इन इलाकों के किसी निवासी को या इन इलाकों मे रहने वाली बादशाह की किसी प्राकृतिक प्रजा को केवल उसके धर्म अथवा जन्म किम्वा स्थान या नसल अथवा रंग के कारण से कम्पनी के अधीन किसी नौकरी, पदवी या ओहदे के योग्य न समझा जायगा।"

सन् १८३३ से सन् १८५३ तक भारत के अन्दर अँगरेजी राज्य की सीमाएं इतनी अधिक हो चुकी थीं कि फिर १८५३ के चारटर एक्ट मे इस प्रकार के किसी परोपकार-सूचक वाक्य की आवश्यकता उचित न समझी गई। सन् १८५३ के चारटर एक्ट के स्वीकृत होने के समय अँगरेज शासकों ने गवाहियाँ पार्लिमेन्ट की सिलक्ट कमेटी के सामने दी उनसे स्पष्ट हो जाता है कि उस समय भारत के अँगरेज शासकों का एकमात्र उद्देश्य यह था कि जिस प्रकार हो सके इस देश से धन चूसकर इङ्गलैण्ड को धनी बना दिया जाय और अँगरेजी शिक्षा

तथा ईसाई-मत प्रचार के द्वारा भारत के राष्ट्रीय चरित्र को निर्बल कर सदा के लिए इसे अँगरेज जाति का गुलाम बना कर रखा जावे।

सन् १८५७ से कुछ पहले ही इङ्गलैण्ड के अन्दर इस बात के लिए फिर प्रबल आन्दोलन होने लगा था कि कम्पनी के विशाल भारतीय साम्राज्य का प्रबन्ध कम्पनी के हाथों से लेकर पार्लिमेण्ट के हाथों मे दे दिया जाय। इस आन्दोलन के मुख्य कारण दो थे।

पहला कारण यह था कि भारत ही की और विशेषकर बंगाल की 'लूट' के प्रताप से उन्नीसवीं सदी के अंतिम दिनों से इङ्गलैण्ड के पिछड़े हुए उद्योग-धंधे तेजी के साथ बढ़ने लगे और परिणाम यह हुआ कि लंकाशायर आदि स्थानों मे कारखाने खुल गये। इन नये कारखानों के मालिकों को एक ओर तो रुई जैसे कच्चे माल की आवश्यकता थी और रुई इङ्गलैण्ड मे न हो सकती थी। प्रारंभ मे कुछ रुई अमरीका से इङ्गलैण्ड मंगवाई गई किन्तु वह बहुत मंहगी पड़ती थी। दूसरी ओर उद्योग-धंधों के बढ़ने के साथ ही साथ इङ्गलैण्ड की अनुपजाऊ भूमि में गल्ले की उपज भी और कम होती जा रही थी और वहाँ के निवासियों को भोजन पहुँचाने के लिए बाहर से गल्ले को भी मंगाना आवश्यक था। इसके लिए राजनैतिक भाषा में एक नया वाक्य "डेवलपमेण्ट आफ दि रिसोर्सेज आफ इण्डिया" (भारतवर्ष की भूमि की उपजाऊ शक्ति को उन्नति देना) तैयार किया गया। उद्देश्य यह था कि विशाल भारत भूमि मे इस प्रकार की व्यवस्था दी जाय, इस प्रकार के रास्ते बनाये जायँ और सुविधाएं की जायं जिनसे इस देश से माल और धन के खींचने मे सुविधा

हो। यहाँ के अँगरेजी इलाके की सीमा के भीतर रुई की खेती को बढ़ाया जाय तथा रेलों आदि के द्वारा रुई, गल्ला और दूसरे कच्चे माल के जगह-जगह से जमा होकर इङ्गलैण्ड भेजे जाने और इङ्गलैण्ड के नये कारखानों मे बने हुए माल को भारत के शहरों और गाँवों में पहुँचाने की सुविधाएँ पैदा की जावे लेकिन यह सब काम ईस्ट ईण्डिया कम्पनी के रहते पूरी तेजी के साथ भारत मे नहीं हो सकता था।

दूसरा कारण यह था कि इङ्गलैण्ड के अनेक निवासी भारतवर्ष के उपजाऊ मैदानों मे आ-आकर बसना और इस देश को आस्ट्रेलिया, अफरीका, और अमरीका आदि के समान इङ्गलैण्ड का एक उपनिवेश बना देना चाहते थे। ईस्ट इण्डिया कम्पनी इस प्रकार के उपनिवेश बनाने के विरुद्ध थी।

वास्तव मे बात यह थी कि कम्पनी के सचालक और हिस्सेदार चाहते थे कि भारत के व्यापार, भारत की हुकूमत और भारत की लूट का समस्त लाभ उन्ही को मिलता रहे किन्तु इङ्गलैण्ड में उनके वैभव को देख-देख कर उनके असख्य प्रतिस्पर्धी उत्पन्न हो चुके थे। लोग चाहते थे कि जो लाभ भारत से केवल कम्पनी को हो रहा है वह अब समस्त अँगरेजी जाति को हो। ईस्ट इण्डिया कम्पनी के तोड़े जाने का यही सब से बड़ा कारण था।

पाठकों को विदित हो गया होगा कि क्यों ईस्ट इण्डिया कम्पनी से इङ्गलैण्ड के निवासी असंतुष्ट थे और किस लिए कम्पनी के तोड़े जाने तथा ब्रिटिश भारत के शासन को इङ्गलैण्ड के शासक और इङ्गलैण्ड की पार्लिमेण्ट के हाथों मे दिये जाने के लिए बहुत दिनो से प्रबल आन्दोलन कर रहे थे। सन् १८५७

के विप्लव से इङ्गलैण्ड के आन्दोलनकारियों को अच्छा मौका मिल गया। सन् १८५८ में पार्लिमेण्ट के सामने कम्पनी के तोड़ देने की तजवीज पेश की गई। इसके बाद उत्तर मे ईस्ट इण्डिया कम्पनी के संचालकों ने एक लम्बा आवेदन-पत्र लिखकर फर्वरी सन् १८५८ मे पार्लिमेण्ट के सामने पेश किया। कम्पनी के संचालकों ने इस लम्बे आवेदन-पत्र मे अपने सौ साल के शासन के लाभ को दिखाते हुए प्रार्थना की कि शासन की बागडोर कम्पनी ही के हाथों मे रहने दी जाय। सन् १८५७ के विप्लव की ओर संकेत करते हुए और अपने शासन की सफलता को पूर्ण रूप से दिखाते हुए कम्पनी के संचालकों ने इस आवेदन-पत्र मे लिखा था—

"हम लोगों को यह दिखाने की आवश्यकता नहीं है कि हाल की दुर्घटना मे यदि देशी नरेश बजाय विप्लव को दमन करने में हमे सहायता देने के, विप्लव के मार्ग-प्रदर्शक बन जाते अथवा यदि देश की सर्वसाधारण जनता विप्लव मे सम्मिलित हो जाती तो इस दुर्घटना का अन्तिम परिणाम कदाचित् कितना विपरीत होता।"

इसी आवेदन-पत्र में कम्पनी के संचालकों ने यह भी लिखा था कि, "जिस सिद्धान्त का इस समय इङ्गलैण्ड मे बड़े जोरों के साथ प्रचार किया जा रहा है वह यह है कि भारत पर शासन करने मे हमे विशेष दृष्टि इसी बात पर रखनी चाहिए कि जो अँगरेज वहाँ रहते हैं, उन्हें किसी प्रकार लाभ हो।"

इतना ही नहीं अपने इस आवेदन-पत्र मे कम्पनी के संचालकों ने विस्तार के साथ पार्लिमेण्ट को यह भी सलाह दी कि भारत के भावी शासन मे किन-किन बातों

पर विशेष ध्यान रखना आवश्यक है, किन्तु अँगरेज-जाति की बढ़ती हुई माँग को पूरा करना अब असम्भव था। कम्पनी की प्रार्थना अब किसी भी प्रकार स्वीकार हो न सकती थी। एक तो बहुत दिनों से इङ्गलैण्ड के निवासी कम्पनी के विरुद्ध आन्दोलन कर रहे थे, दूसरे भारत मे भी भयानक विप्लव हो चुका था इसलिए भारतवासियों के दिलों को भी किसी नवीन और गंभीर परिवर्तन द्वारा अपनी ओर करने की आवश्यकता भी इङ्गलैण्ड की पार्लिमेण्ट द्वारा उचित समझी जाने लगी थी। सन् १८५८ मे ही भारत के अन्दर ईस्ट इण्डिया कम्पनी के शासन का अन्त कर दिया गया। भारत मे कम्पनी ने जिस राज्य को स्थापित किया था उससे शासन का अधिकार इङ्गलैण्ड की पार्लिमेण्ट ने स्वयं अपने हाथों मे ले लिय। हाउस आफ कामन्स ने १६ मार्च सन् १८५८ को एक नई कमेटी नियुक्त की। नीचे लिखे शब्दों मे इस कमेटी का काम निश्चित किया गया—

"जाँच की जाय कि भारत मे विशेषकर देश के पहाड़ी जिलों और अधिक स्वास्थ्य-जनक स्थानों मे यूरोपियनों की बस्तियाँ बसाने और उपनिवेश बढ़ाने के लिए तथा साथ ही मध्य एशिया के साथ हमारे व्यापार को उन्नति देने के लिए क्या-क्या किया जा चुका है, क्या-क्या किया जा सकता है और उसके क्या-क्या सर्वोत्तम साधन है ?"

सर चार्ल्स मेटकाफ ने यह सलाह देते हुए कि भारत का शासन कम्पनी के हाथों से लेकर पार्लिमेण्ट के हाथों मे दे दिया जाय लिखा कि—"यद्यपि मालूम होता है कि भारत के निवासी इस सम्बन्ध मे बिलकुल उदासीन है कि भारत के ऊपर कम्पनी

द्वारा शासन किया जाय अथवा इङ्गलैण्ड के मन्त्रियों द्वारा, तथापि भारत की दूसरी प्रजा इस सम्बन्ध मे उदासीन नहीं है अर्थात् जो यूरोपियन भारत मे रहते है और जो कम्पनी के नौकर नहीं है तथा इनके अतिरिक्त आमतौर पर वे सब लोग जो दोगली नसल के है, वे अब कभी भी कम्पनी के शासन से सन्तुष्ट न होंगे।"

इन सब उद्धरणों से यह स्पष्ट है कि इस परिवर्तन मे भारतवासियों की इच्छा का इतना गम्भीर प्रश्न न था जितना कि अँगरेजों की इच्छा का था। इसके बाद किसी को भी इस विषय मे लेश-मात्र भी सन्देह नहीं हो सकता कि भारत का शासन ईस्ट इण्डिया कम्पनी के हाथों से छीन कर इङ्गलैण्ड के मन्त्री-मण्डल के हाथों मे सौंपने का मुख्य उद्देश्य भारतवासियों को लाभ पहुँचाना अथवा उनके हितों की रक्षा करना न था, बल्कि भारत के सर्वोत्तम प्रदेशों मे यूरोप निवासियों के उपनिवेश बनाकर भारतवासियों को अपने गोरे स्वामियों के लिए "लकड़ी चीरने वालों और पानी भरने वालों" की अवस्था तक पहुँचा देना था। इसीलिए कम्पनी के शासन को अन्त कर देने मे ही अँगरेज राजनीतिज्ञों को भारतवर्ष मे अँगरेजी राज्य की स्थिरता और उसका भावी हित दिखाई पड़ता था।

विप्लव के पूर्ण रूप से शान्त होने से पहले ही भारत का शासन कम्पनी के हाथों से लेकर इङ्गलैण्ड की सरकार को सौंप दिया गया था। मलका विक्टोरिया उस समय इङ्गलैण्ड के सिंहासन पर थी। भारतवर्ष के राजाओं, रईसों, सरदारों और समस्त प्रजा के नाम मलका विक्टोरिया की ओर से घोषणा प्रकाशित की गई। सार रूप मे इस घोषणा के अन्दर नये

अधिकार परिवर्तन की सूचना दी गई थीं, और भारतवासियों को सलाह दी गई थी कि मलका विक्टोरिया, उसके उत्तराधिकारियों और उनके द्वारा नियुक्त किये गये अफसरों के वफादार रहे। लार्ड कैनिंग को भारत का पहला वाइसराय नियुक्त किया गया, देशी राजाओं को यह विश्वास दिलाया गया कि जो संधियाँ और अहदनामे आप लोगों के साथ इस समय तक किये जा चुके है, इंग्लैण्ड की सरकार उन पर कायम रहेगी। भारतीय प्रजा को विश्वास दिलाया गया कि तुम्हारे धर्म मे किसी तरह का हस्तक्षेप नही किया जायगा और अंत मे लोगों से विप्लव को शान्त करने की प्रार्थना की गई।

मलका विक्टोरिया की घोषणा मे यह भी कहा गया था कि "जब ईश्वर की दया से देश मे फिर से शान्ति स्थापित हो जायगी, तब हमारी हार्दिक इच्छा है कि भारतवर्ष की कारीगरी को तरक्की दी जाय, ऐसे-ऐसे काम बढ़ाये जायं जिनसे सर्वसाधारण को लाभ हो और उनकी उन्नति हो तथा शासन इस प्रकार चलाया जाय जिससे भारत मे रहने वाली हमारी समस्त प्रजा को लाभ हो। प्रजा की खुशहाली मे ही हमारी शक्ति है, उनके संतोष मे ही हमारी कुशलता है, और उनकी कृतज्ञता हमारे लिए सबसे बड़ा इनाम है। सर्वशक्तिमान परमात्मा हमें और हमारे मातहत अफसरों को बल दे, ताकि हम अपनी इन इच्छाओं को अपनी प्रजा के हित के लिए पूरा कर सके।"

इसमे संदेह नहीं कि ऊपर का लिखा हुआ वाक्य इस घोषणा का सब से अधिक चित्ताकर्षक वाक्य है। जिनमे राजनीति की चालों का ज्ञान नही है ऐसे अनेक भोले-भाले भारतवासियों के लिए छल और कपट से भरी हुई इस घोषणा के ये

शब्द अधिक सान्त्वना देनेवाले साबित हुए और उन पर भरोसा करके सन् १८५७ के भयानक विप्लव में समाप्त हो जाने वाले प्राचीन मुगल साम्राज्य के स्थान में उन्होंने अपना ही रक्त चूसने वाले अँगरेजों को प्रिय समझ कर अपना लिया, इतना ही नहीं, उनके राज्य मे ही अपना सुख मान लिया। यदि राजनैतिक दृष्टिकोण से इस घोषणा की आलोचाना की जाय तो स्पष्ट हो जाता है कि वास्तव मे इस घोषणा का मूल्य इस प्रकार की अन्य राजनैतिक घोषणाओं से किसी भी अंश अधिक न था और न इस घोषणा मे इस बात का ही उल्लेख था कि ईस्ट इण्डिया कम्पनी से इंग्लैण्ड के शासक ने भारत के शासन की बागडोर को अपने हाथों में ले लिया है अथवा इस समय तक भारत के प्रति अँगरेजों की जो शासन-नीति चली आ रही थी उसमे किसी प्रकार के भी मौलिक परिवर्तन होने का लक्षण ही सूचित होता था। इस घोषणा का मुख्य उद्देश्य था, स्वाधीनता-संग्राम मे असफल भारतवासियों के दिलों को किसी प्रकार शान्त करना और निःसंदेह इस उद्देश्य मे अँगरेजों को बड़ी सफलता प्राप्त हुई।

प्रसिद्ध अँगरेज इतिहास लेखक फ्रीमैन ने बहुत दिनों के बाद इस प्रकार की घोषणाओं के सम्बन्ध मे अपने विचारों को प्रकट करते हुए लिखा है—"किन्तु जब हम विज्ञप्तियों और घोषणाओं की ओर आते है ××× तो हम झूठ के चुने हुए खास मैदान में पहुँच जाते हैं, ××× इसमे सन्देह नहीं कि जो मनुष्य पार्लिमेण्ट के हर काम या हर कानून पर विश्वास कर लेता है वह बालक के समान भोला है।"

इस प्रकार के जितने वादे इंग्लैण्ड ने भारत के साथ किये

हैं उन सब को मारक्विस आफ सैलिसबरी ने स्पष्ट रूप से "राजनैतिक छल" स्वीकार किया है।

भारत सरकार के प्रसिद्ध और सुयोग्य ला मेम्बर सर जेम्स स्टीफेन ने मलका विक्टोरिया की इस प्रसिद्ध घोषणा के सम्बन्ध मे स्पष्ट रूप से कहा था कि, (यह घोषणा) "केवल एक रसमी पत्र था। यह कोई प्रतिज्ञा न था जो भारत अँगरेज शासकों के ऊपर किसी प्रकार का भी बन्धन हो। इस घोषणा की कोई भी कानूनी कीमत नहीं है।"

इङ्गलैण्ड की राज्य-व्यवस्था के अनुसार भी मलका विक्टोरिया को इस प्रकार का कोई भी अधिकार प्राप्त न था और न इङ्गलैण्ड के किसी भी बादशाह को प्राप्त है, जिससे इङ्गलैण्ड की पार्लिमेण्ट या वहाँ के मंत्री बादशाह की किसी घोषणा के अनुसार अमल करने के लिए बाध्य किये जा सकें। पहली नवम्बर सन् १८५८ को लार्ड कैनिंग ने इलाहाबाद में इस घोषणा को पढ़कर सुनाया। भारत के अँगरेज शासकों ने उस समय से आज तक व्यवहार मे इस घोषणा के वादों की कभी कुछ भी पर्वाह नहीं की।

यह हम पहले ही कह चुके हैं कि लार्ड डलहौजी का उद्देश्य भारत के समस्त मानचित्र को अँगरेजी राज्य के रंग मे रंग देना था। पंजाब, नागपुर, अवध, सतारा झाँसी इत्यादि पर अधिकार किया जा चुका था। १८ अप्रैल सन् १८५६ को पार्लिमेण्ट के सामने भाषण करते हुए सर असंकाइन पेरी ने कहा था—"इसके बाद अब निजाम के राज्य की बारी है। उसके बाद मालवा की उपजाऊ भूमि पर अधिकार किया जायगा। जहाँ की काली मिट्टी मे रुई और अफीम बहुत अच्छी पैदा हो सकती है।

फिर गुजरात जो उससे भी अधिक उपजाऊ है। × × × राजपूताने और बाकी ६ करोड़ देशी प्रजा को इसके बाद विजय किया जायगा।"

किन्तु अगले ही साल विप्लव ने यह सारा नकशा बदल दिया। अँगरेजों की आँखें खुल गईं। वे समझ गये कि लार्ड डलहौजी की अपहरण नीति ही विप्लव का एक मुख्य कारण थी। उन्हे अब अपना हित और अपने साम्राज्य की स्थिरता भारतवर्ष की शेष देशी रियासतो के बनी रहने मे ही दिखाई देने लगी। इसमे सन्देह नहीं कि विप्लव के बाद भी और विप्लव के ऐन दिनों मे भी कुछ ऐसे अँगरेज थे जो भारत की बची हुई देशी रियासतों को हड़प कर अँगरेजी राज्य मे मिला लेने के पक्ष मे थे। सन् १८५८ मे लंदन मे "इंडियन पालिसी" (भारतीय नीति) नामक एक पत्रिका प्रकाशित हुई, जिसमे भारत के अँगरेज शासकों को यह सलाह दी गई कि प्रत्यक देशी नरेश के मरने पर वे उसके राज्य पर अपना अधिकार कर ले किन्तु जो विचारशील अँगरेज थे वे इस अनुचित सलाह के मानने मे अपने साम्राज्य का हित नहीं देख रहे थे।

यही एक कारण है कि विप्लव के बाद से अब तक बर्मा को छोड़कर किसी नई देशी रियासत पर अधिकार नहीं किया गया। निःसंदेह अँगरेज शासकों ने देशी नरेशों के साथ जिस नीति का व्यवहार किया है उसका परिणाम यह है कि धीरे-धीरे भारतवर्ष की लगभग सब देशी रियासते विदेशी अँगरेजी शासन की स्थिरता मे किसी प्रकार का भय नहीं मानती थी और ब्रिटिश साम्राज्य की पोषक विशेष रूप से बन चुकी थीं।

सन् १८५७ से लेकर भारत छोड़ने तक अँगरेजों द्वारा भारत

की सैकड़ों छोटी-बड़ी रियासतों के साथ जिस प्रकार का व्यवहार किया गया है; जिस प्रकार अँगरेज रेजीडेण्टों, पोलिटिकल एजेण्टों आदि का कदम कदम पर देशी नरेशों के साथ न्याय-पूर्ण अधिकारों मे हस्तक्षेप होता रहा है, जिस प्रकार भारतीय राजकुमारों की शिक्षा पर अँगरेज नीतिज्ञों ने सदा अपना ही प्रमुख अधिकार बनाये रखा, जिसमे कभी-कभी उन कुमारों के अभिभावकों और स्वयं गद्दीनशीन नरेशों तक को हस्तक्षेप करने का अधिकारी नहीं समझा गया, जिस प्रकार अनेक राजकुमारों के चरित्र का व्यवस्थित और वैज्ञानिक ढग से सत्यानाश किया है, और फिर कभी-कभी उसी चरित्र-हीनता को ही उनकी अयोग्यता का प्रमाण मान लिया गया है, ये सब लम्बे और दुख उत्पन्न करने वाले कथानक ससार के साम्राज्यों के इतिहास मे अपना विशेष ध्यान देने योग्य और महत्वपूर्ण स्थान रखते है। यदि हम ऐसे साम्राज्य-बिस्तार के कलंकित आदर्श के दूसरे उदाहरण को खोजना चाहे तो हमे आज से चार-पॉच हजार साल पहले के मिश्री साम्राज्य और उसके दो तीन हजार साल बाद के रोमन साम्राज्य के इतिहास के पृष्ठों को उलटना पड़ेगा किन्तु यह सब विषय हमारे उपस्थित विषय से भिन्न है इसलिए इस सम्बन्ध मे अधिक लिखना प्रसंग के अनुसार उचित नहीं है।

पाठकों को केवल इतना ही ध्यान मे रखना चाहिए कि जब तक भारत मे अँगरेज रहे हैं तब तक देशी रियासतों को नित्य पंगुल बनाने के प्रयत्न करते रहे हैं। जब कभी कोई बात अँगरेजों के अनुकूल न हुई तब तुरन्त ऐसे कुत्सित और अन्यायपूर्ण उपायों को काम मे लाया गया है जिससे कि देशी रियासत का अधिकारी किसी भी योग्य न रह जाय। हमेशा से ही एक

नियम-सा चला आ रहा था कि देशी रियासत के अधिकारी अपनी रियासत मे भी कुछ न करने पायें। यही एक कारण समझ मे आ रहा है कि देशी नरेशों की इच्छा न रहने पर भी अँगरेजों की देशी फौजों के सिपाही प्रायः देशी रियासतों से ही भर्ती किये जाते हैं और ब्रिटिश भारत के किसी भी विद्रोह को दमन करने मे वे ही अधिक उपयोगी साबित होते है।

भारतवर्ष मे अँगरेजों के उपनिवेश अर्थात् अँगरेजों की बस्तियाँ बसाने की चर्चा वारन हेस्टिंग्स के समय से चली आती थी किन्तु इस विषय पर अँगरेज राजनीतिज्ञों में नित्य बड़ा मतभेद रहा। असंख्य अँगरेज उन दिनों इस प्रकार के उपनिवेशों को बढ़ने देने के विरुद्ध थे। वारन हेस्टिंग्स की कौंसिल के सदस्य मानसन की राय थी कि अँगरेज भारत में खेती इत्यादि का कार्य सुचारु रूप से न कर सकेंगे और यदि करने की चेष्टा करेंगे तो उनका रहन-सहन भारतीय प्रजा की अपेक्षा इतना महँगा होगा कि उसके कारण सरकार की आमदनी में बड़ी कमी पड़ जायगी। ७ नवम्बर सन् १७९४ को कार्नवालिस ने इङ्गलैण्ड के भारत मंत्री डंडास को लिखा है कि "ब्रिटेन के हित के लिए यह बात महत्व की है कि यूरोप निवासियों को जहाँ तक हो सके, हमारे भारतीय इलाकों मे उपनिवेश बनाने और बसने से रोका जाय।" ४ फरवरी सन् १८०१ को डाइरेक्टरों ने भारत मे इस तरह के उपनिवेशों के विरुद्ध एक प्रस्ताव पास किया।

सन् १८१३ में समस्त इङ्गलैण्ड निवासियों के लिए भारत आने और व्यापार करने का मैदान खोल दिया गया और इसके बाद दक्षिण और उत्तर के कई नये पहाड़ी इलाके अँगरेज़ी राज्य मे मिलाये गये। इसलिए इङ्गलैण्ड के कुछ लोगों ने कम्पनी के

डाइरेक्टरों की सम्मति के विरुद्ध भारत मे अपने उपनिवेश बनाने के लिए आन्दोलन आरंभ किया। इन आन्दोलनकारियों की मुख्य दलील यह थी कि इस प्रकार के उपनिवेशों की सहायता से भारत मे अधिक दिनों तक अँगरेजी राज्य कायम रह सकेगा। अन्य अँगरेज राजनीतिज्ञों के अतिरिक्त सर फ्रेडरिक शोर भी इस प्रकार उपनिवेशों को बसाने के पक्ष मे था। उसका कथन था—

"अँगरेजी सत्ता के उलट जाने से इस प्रकार के नये बसे हुए (यूरोपियन) लोगों को कोई लाभ न होगा, बल्कि उन्हे हर तरह से हानि ही होगी, इसलिए भारतवासियों की ओर से किसी भी उपद्रव या बगावत के समय ये लोग अपना समस्त प्रभाव (अँगरेज) सरकार के पक्ष मे लगा देंगे और अपने देशी नौकरों, साथियों आदि को भी ऐसा ही करने के लिए प्रोत्साहित करेंगे, इसके विपरीत अँगरेज सरकार के भारतवासियों के भाव इस प्रकार के हैं कि जब कभी कोई विद्रोह होता है तब जो लोग विद्रोह मे भाग नहीं लेते हैं वे भी कम से कम तटस्थ रहते हैं किन्तु सरकार को प्रायः कोई सहायता नहीं देता।"

सर चार्ल्स मेटकाफ और लार्ड विलियम बैण्टिङ्क भी भारत मे अँगरेजी उपनिवेश बनने के पक्ष मे थे। उनकी भी दलीलें ठीक इसी प्रकार की थीं। परिणाम यह हुआ कि सन १८३३ के चारटर एक्ट मे उन अँगरेजों के लिए कई प्रकार की नवीन सुविधाएँ कर दी गईं, जो भारत मे आकर बसना चाहते थे। नैपाल के रेजिडेण्ट ब्रायन हाटन हाजसन ने दिसम्बर सन् १८५६ मे हिमालय की उपजाऊ घाटियों मे

युरोपियनों के उपनिवेश बनाने के पक्ष में एक अत्यन्त प्रभावशाली पत्र लिखा। उस पत्र मे उसने लिखा—“××× हिमालय मे अपने उपनिवेश को बढ़ाना अँगरेज सरकार के सर्वोच्च और सब से अधिक महत्वपूर्ण कर्त्तव्यों मे से एक है।”

हाजसन की राय मे ‘भारत के अन्दर ब्रिटिश शासन को स्थायी बनाने के लिए सबसे बड़ा, सब से सुदृढ़, सबसे निःशंक और सब से सरल राजनैतिक उपाय भारत के अन्दर अँगरेजों के उपनिवेश ही हो सकते थे। हाजसन यह चाहता था कि आयर्लैण्ड और स्काटलैण्ड के किसानों को मुफ्त जमीन देकर भारत मे बसने के लिए उत्साहित किया जाय।

सन् १८५७ के बाद इस विषय का आन्दोलन इङ्गलैण्ड मे और अधिक होने लगा। इसी के साथ-साथ अनेक उपायों से उस समय के अँगरेज शासकों ने अपने देशवासियों और विशेषकर अँगरेज पूजीपतियों को भारत में आकर बसने के लिये उत्साहित करना आरंभ किया। आसाम और कुमायूँ मे अँगरेज सरकार ने भारतीयों के खर्च पर चाय की काश्त में तजुर्बे किये और स्पष्ट रूप से यह घोषणा कर दी कि इन तुजुर्बों के सफल होने पर चाय के सरकारी खेत उन अँगरेजों को दे दिये जायंगे जो इस काम के लिए आसाम और कुमायूँ में बसना चाहेंगे तजुर्बों का समस्त व्यय भारतीयों के मत्थे मढ़ा गया और बाद मे दोनों स्थानों के चाय के खेत अँगरेजों को सौंप दिये गये।

भारतीयों के ही व्यय पर कई अँगरेजों को इसलिए ‘चीन भेजा गया कि वे चीन से चाय के बीज लायें, चीनी खेती के तरीकों को सीखें और वहाँ से चीनी विशेषज्ञ साथ लाकर भारत में अपने धंधे की तरक्की दें। पिछले डेढ़ सौ वर्ष से ऊपर के

बृटिश शासन मे कभी किसी भारतीय व्यापार को सफल बनाने के लिए अँगरेज सरकार ने इस प्रकार के प्रयत्न नहीं किये। यूरोपियन पूजीपतियों की बचत को बढ़ाने और सुदृढ़ करने के लिए भारतीय मजदूरों के सम्बन्ध मे भारत सरकार ने इस प्रकार के कानून पास किए जिनमे असंख्य भारतवासी इन लोगों के कानूनी गुलाम बन गये। इस कानूनी गुलामों के साथ अँगरेज पूजीपतियों और उनके नौकरों का व्यवहार बृटिश भारतीय इतिहास का अत्यन्त कलुषित और पाशविक अत्याचार-पूर्ण अध्याय है।

ठीक इसी प्रकार धन आदि की सहायता कुमायूं मे लोहे का धधा करने वाले अँगरेजों को दी गई। नील की खेती करने वाले उन अँगरेजों को भी भारतीयों के धन से समय-समय पर सहायता दी गई जिन्होंने भारतीय मजदूरों के साथ नित्य अमानुषिक व्यवहार किया है। रेलों, सड़कों और उनके विचित्र नियमों द्वारा भी इन अँगरेजों को अपने कार्य मे हर प्रकार की सहायता दी गई।

सन् १८५८ की कमेटी के सामने गवाही देने वाले गवाहों मे से कुछ की राय थी कि भारत के पहाड़ी इलाके पर अँगरेज किसानों और मजदूरों को बसा दिया जाय और भारत के मैदानों मे इस प्रकार के अँगरेज पूजीपतियों को आबाद किया जाय जो अपने अधीन भारतीय किसानों और मजदूरों से काम ले सकें। कुछ लोगों की राय तो यहाँ तक थी कि एलजीरिया (उत्तर-अफ्रीका) के समान समस्त भारत मे अँगरेज पूजीपतियों से लेकर अँगरेज किसानों और मजदूरों तक को बसाया जावे। इतना ही

नहीं, अँगरेजों को भारत में जमींदारी करने के लिये अनेक प्रकार की सुविधाएं दी जाने की सलाह भी हुई और भारत मे कई स्थानों पर विशेष रूप से कई उपजाऊ पहाड़ी इलाकों मे अँगरेजों की बस्तियॉ बसाने के प्रबल प्रयत्न किये जाने लगे किन्तु संसार के अन्य देशों के समान भारतवर्ष मे अँगरेजों की बस्तियाँ आबाद न हो सकीं इसका मुख्य कारण यह है कि भारतवर्ष प्राचीन, विशाल और अत्यन्त घना बसा हुआ देश है। अँगरेजों के लिए यहॉ की करोड़ों जनता की हत्या करने पर ही ऐसा संभव न होता कि वे अपनी बस्तियॉ बसा लेते। सन् १८५७ के विप्लव से वे समझ गये कि यहॉ की करोड़ों जनता को मिटाकर उनकी जगह ले सकना इतना सरल नहीं है जितना कि पहले समझे हुए थे।

सन् १८१३ के 'चार्टर एक्ट' मे एक धारा यह भी थी कि जो अँगरेज ईसाई पादरी भारतवासियों के "धार्मिक उद्धार" के लिए अर्थात् उन्हे ईसाई बनाने के लिए "भारत जाना चाहें और वहॉ रहना चाहें" कानून के द्वारा हर प्रकार की सुविधा" दी जाय। इसके बाद से ही "ईसाई धर्म-प्रचार का एक सरकारी विभाग (एक्लेजिएस्टिकल डिपार्टमेन्ट)" भारत मे खोल दिया गया और उसका खर्च भारतवासियों के सिर पर मढ़ दिया गया। सन् १८५७ के विप्लव के बाद अँगरेज नीतिज्ञों में इस विषय पर बड़े तर्क वितर्क हुए। मार्च सन् १८५८ की अँगरेजी पत्रिका "दी कैलकटा रिव्यु" मे एक अँगरेज का लिखा हुआ नीचे लिखा वाक्य मिलता है जिससे यह पता चलता है कि उस समय अँगरेज नीतिज्ञों को क्या क्या बाते सूझ रही थीं। वह अँगरेज लिखता है—

"हमें चारों ओर × × इस समय की आवाजें सुनाई दे रही हैं, जिनमें जोरों के साथ यह सलाह दी जाती है कि हमें क्या करना चाहिये। कोई कहता है, भरत को अवश्य ईसाई बना लेना चाहिए' कोई कहता है 'भरत भर में अँगरेजों को बसाना चाहिए' कोई कहता है 'हमें हिन्दुस्तानी भाषा को समाप्त कर देना चाहिए' और उसके स्थान पर अपनी मातृभाषा (अँगरेजी) प्रचलित कर देनी चाहिये' ये इनमे से केवल थोड़ी सी आवाजे हैं।"

सन् १८५७ के बाद अधिकांश नीतिज्ञ इस बात को और अधिक जोरों के साथ अनुभव करने लगे थे कि भारतवासियों के दिलों से राष्ट्रीयता के रहे सहे भावों को मिटा देना और भविष्य मे इस तरह के भावों को पनपने न देना अँगरेजी साम्राज्य की दृढ़ता के लिए आवश्यक है! इसलिए इस काम को सफल बनाने के दो मुख्य उपाय उस समय सोचे गये। पहला उपाय था भारत मे ईसाई मत का प्रचार और दूसरा उपाय था भारत मे अँगरेजी शिक्षा का प्रचलन। मलका विक्टोरिया ने अपनी घोषणा में यह वादा किया था कि धर्म के सम्बन्ध मे अँगरेज सरकार किसी प्रकार का पक्षपात न करेगी किन्तु विप्लव के केवल अगले ही साल इंग्लैण्ड के प्रधान मंत्री लार्ड पामर्सटन ने ही ईसाई पादरियों के एक डेपुटेशन के उत्तर मे कहा—

"मालूम होता है कि अन्तिम लक्ष्य के विषय मे हम सबों का ही एक मत है। समस्त भारत में पूर्व से पश्चिम तक और उत्तर से दक्षिण तक ईसाई मत के फैलाने मे जहाँ तक हो सके सहायता देना न केवल हमारा कर्त्तव्य है बल्कि इसी मे हमारा लाभ है।"

सन १८५७ के विप्लव पर आलोचना करते हुए अनेक अँगरेज पादरियों ने कहा—"हमारे शत्रु वे मुसलमान थे जिनके धर्म की प्रशंसा करके हमने उन्हे फुला दिया और वे हिन्दू थे जिसके अन्ध विश्वासों को हमने पुष्ट किया, किन्तु हमारे सच्चे मित्र वे हिन्दुस्तानी थे जिन्हे हमारे पादरियों ने ईसई बना लिया था।"

इन सबों के ईसाई-मत के प्रचार का एकमात्र उद्देश्य अपने साम्राज्य को सुदृढ़ बनाना था। विलियम एडवर्डस विप्लव के दिनों मे कम्पनी का नौकर था और वह फिर आगरा हाईकोर्ट का एक जज हुआ। उसकी राय थी—"हम विदेशी आक्रमण करने वाले और विजेता समझे जाते है और उसी प्रकार सर्वदा समझे जायंगे। ××× हमारे लिए अपनी रक्षा का सबसे अच्छा उपाय यह है कि हम देश को ईसाई बना ले। ××× देशी ईसाइयों की बस्तियाँ जब देश मे इधर उधर फैल जायंगी तब वे अनेक वर्षों तक हमारी दृढ़ता के लिए स्तम्भों का काम देंगी, क्योंकि जब तक अधिकांश जनता मूर्ति-पूजक अथवा मुसलमान रहेगी, तब तक ये ईसाई लोग अवश्य राजभक्त रहेगे।"

लार्ड विलियम बैण्टिङ्क के प्रयत्नों और पंजाब को ईसाई बनाने की योजनाओं के सम्बन्ध मे हम पहले ही कह चुके है। जो उद्देश्य भारतवासियों को ईसाई बनाने अथवा मुसलमानों को दबाने से था वह भारत मे अँगरेजी शिक्षा के प्रचार से था। लार्ड मैकाले इस शिक्षा का सबसे अधिक पक्षपाती था। भारत की विचित्र स्थिति मे समस्त देश को ईसाई बनाने का प्रयत्न

अधिक दिनों तक सफलता के साथ न चल सका और न अधिक खुले तौर पर उसे शासन-नीति का एक अंग बनाया जा सका किन्तु इसमें कुछ सन्देह नहीं कि अँगरेजी शिक्षा ने एक अच्छी श्रेणी ऐसे लोगों की पैदा कर दी जो अपनी जीविका के लिए अँगरेजी राज्य पर भरोसा करने लगे थे और उस राज्य के विशेष स्तम्भ बन रहे थे और जिनके रहन-सहन तथा भारती जनता के रहन-सहन मे बड़ा अन्तर अब भी दृष्टिगोचर होता है और आज दिन भी जिनमे सामूहिक दृष्टि से राष्ट्रीयता अथवा राष्ट्रीय मान के भावों का अभाव-सा है।

आधुनिक यूरोपियन राजनीति मे किसी देश पर शासन करने का मतलब ही उस देश से अधिकाधिक धन खींचना है जिसे हम उनकी आर्थिक शोषण नीति भी कह सकते हैं। भारत की मनमानी लूट से ही इङ्गलैण्ड के और विशेष रूप से लंकाशायर के कारखाने चले। सन् १८५७ के बाद "भारत की उपजाऊ शक्ति को उन्नति देने" की विशेष चर्चा सुनी जाने लगी। इसके छः मुख्य-मुख्य उपाय सोचे गये।

पहला मुख्य उपाय भारत मे रेलों का प्रचलन करना था। भारत से रेलें उसी धन से चालू की गईं जिस धन को अँगरेजों ने भिन्न-भिन्न उपायों द्वारा भारत से ही कमाया था। इस पर भी पार्लिमेण्ट के एक सदस्य स्विफ्ट मैकनील ने १४ अगस्त सन् १८९० को कहा था—"यह हिसाब लगाया जा चुका है कि जितना धन भारत में रेलों पर खर्च किया जाता है, उसमे से प्रति शिलिंग पीछे आठ पेंस (अर्थात् दो तिहाई) इङ्गलैण्ड चला आता है।"

इन रेलों के मुख्य कार्य परतंत्र भारत मे इतने ही थे कि भारत से गेहूँ, कपास आदि इङ्गलैण्ड को भेज दें, इङ्गलैण्ड का बना हुआ माल भारत के कोने-कोने में पहुँचा दें और आवश्यकता पड़ने पर (भारतीयों के स्वाधीनता-आन्दोलन को दबाने के लिए) इधर से उधर तक सेनाओं को ले जाया करें। निःसन्देह जब हम पराधीन स्थिति मे थे तब ये रेले भारतवासियों के धन उनके धंधों और स्वास्थय तीनों के लिए नाशक और असंख्य ग्रामों का उजाड़ देने वाली साबित हुई थीं।

दूसरा मुख्य उपाय रुई की खेती था। अपने कपड़े के धन्धे को चलाने के लिए इङ्गलैण्ड पहले मंहगे दामों पर अमरीका से रुई लिया करता था। भारत मे बरार, सिन्ध और पंजाब अपनी अच्छी रुई के लिए प्रसिद्ध था। इन देशों पर अँगरेजों के अधिकार करने का एक विशेष अर्थ यह था कि इङ्गलैण्ड के कारखानों को सस्ती रुई भेजी जा सके। सन् १८५७ के विप्लव के बाद इसके लिए विशेष रूप से प्रयत्न किये गये। एक नई 'ईस्ट इण्डिया काटन कम्पनी' बनाई गई और रुई की खेती तथा उसकी उपज को इङ्गलैण्ड भेजने की ओर विशेष ध्यान दिया जाने लगा। इङ्गलैण्ड भारत के सम्बन्ध का सब के मुख्य रूप उस समय के बराबर कच्ची रुई का भारत से इङ्गलैण्ड जाना और इङ्गलैण्ड के बने हुए कपड़ों का भारत मे आकर बेचा जाना था। सच कहा जाय तो इङ्गलैण्ड की जनता के लिए जीविका का सबसे बड़ा आधार यही रहा है। लेखक की यह धारणा है कि स्वाधीन में जितने भी कपड़े के कारखाने इस समय चल रहे हैं उनका ठीक ठीक प्रबन्ध भारत सरकार

और प्रजा के सहयोग से होता रहे तो वे ही कुछ दिनों मे संसार की दृष्टि मे इङ्गलैण्ड आदि देशों के कारखानों से कहीं अधिक उन्नति कर सकेंगे किन्तु कारखाने वालों के लिए भी आवश्यक है कि वे भारत की जनता के साथ कदापि विश्वास-घात न करें।

तीसरा मुख्य उपाय अँगरेज पूंजीपतियों को सुविधाएं देना था। भारत मे आकर धंधा करने वाले अँगरेज पूजीपतियों को आरम्भ से विशेष सुविधाएं मिलती रही है। चाय, नील इत्यदि की खेती करने वाले अँगरेजों के साथ बड़ी-बड़ी रियायतें की जाती थीं। इन अँगरेज पूजीपतियों के लाभ के लिए चाय के बागीचों और नील के खेतों के लाखों मजदूरों के साथ जो अमानुषिक बर्ताव किया गया वह सभ्यताभिमानी अँगरेज जाति के लिए न मिटने वाला कलंक बन चुका है। सन् १८६० मे सर एशले एडन ने जो बाद मे बगाल का लेफ्टिनेण्ट गवर्नर हुआ, स्पष्ट कहा था—"नील की काश्त कभी भी लोग अपनी इच्छा से नहीं करते, बल्कि उनसे नित्य बल-पूर्वक कराई जाती है।" सभी विद्वानों का यही मत है कि ब्रिटिश भारत में चाय और नील की काश्त का इतिहास गुलामी की प्रथा का अत्यन्त लज्जाजनक इतिहास है।

चौथा मुख्य उपाय अँगरेजों को नौकरियाँ देने का था। उस समय ब्रिटिश राज्य को सुदृढ़ बनाये रखने का एक मुख्य उपाय यह भी मान लिया गया था। अनेक अँगरेजों ने यह स्वीकार कर लिया है कि अँगरेजों को जो वेतन साधारणतया भारत में दिया जाता है उससे आधा भी उन्हे इङ्गलैण्ड या किसी दूसरे देश मे न मिल सकता।

पाँचवाँ मुख्य उपाय वास्तविक शासन से भारतीयों को दूर रखना था। यह ऐसा उपाय था जिसने अँगरेजों को भारत मे सम्हाल लिया किन्तु साथ ही साथ भारतीयों को कुचल भी दिया। क्योंकि यह मानी हुई बात है कि जिस कार्य से भारत का हित होता उसी कार्य से इङ्गलैण्ड का अहित अवश्य होगा और जिस कार्य से इङ्गलैण्ड का हित होगा उसी कार्य से भारत का आहित होना अनिवार्य है। एक के उद्योग-धंधों की उन्नति मे दूसरे की बेकारी है और एक के सम्पन्न होने मे दूसरे की निर्धनता है। इसलिए शासन के प्रबन्ध मे कोई वास्तविक अधिकार भारतीयों को देना विदेशी शासकों के लिए कभी भी हितकर नहीं हो सकता था।

कप्तान पी० पेज ने लन्दन के ईस्ट इण्डिया हाउस से अपने एक मे मेमोरण्डम मे लिखा है कि "मैं भारतवासियों की नेकचलनी के इनाम मैं उनके सम्मान को बढ़ा दूँगा किन्तु उनके हाथ मे शासन कभी न दूँगा। ××× यही सिद्धान्त रोमन लोगों का था। भारतवासियों के हाथों मे बिना किसी प्रकार की सत्ता दिये ही हम उनकी खैरखाही अपनी ओर बनाए रख सकते हैं। उन्हें केवल सत्ता का आभास देना पर्याप्त होगा और यद्यपि व्यक्तिगत जीवन मे मैं राशफूकाल्त के इस सिद्धान्त को घृणा की दृष्टि से देखता हूँ कि मनुष्य अपने मित्रों के साथ भी इस प्रकार से रहे कि मानों एक दिन वे अवश्य शत्रु बनने वाले है, फिर भी मैं समझता हूँ कि भारत के शासकों के लिए इस सिद्धान्त को सदा ध्यान मे रखना ही उचित है।"

भारत और इङ्गलैण्ड दोनों ही देशों के नीतिज्ञ इस बात

को भली भाँति जानते हैं कि सन् १८३५ के गवर्नमेंट आफ इण्डिया एक्ट की असेम्बलियाँ और मन्त्रिमण्डल भी 'सत्ता के आभास' से किसी अंश मे अधिक नहीं है। स्वाधीन भारत 'सत्ता के आभास' को पहिचान चुका है इसलित वह नित्य सतर्क ही रहेगा। १८५७ के इतने दिनों के बाद हम अपने को स्वाधीन भारत के निवासी कहने के योग्य हो सके है।

छठा मुख्य उपाय कानून और अदालतों का था। 'भारत की उपजाऊ शक्ति को उन्नति देने' का एक मुख्य उपाय आज-कल के कानून और अदालतें हैं। भारत के स्वाधीन होने तक इन कानूनों और अदालतों ने अपने वे हथ-कडे दिखाये है जिनका अनुभव प्रायः सभी भारतवासियों को है। जो 'ताजीरात हिन्द' सन् १८३३ के चार्टर एक्ट के बाद लार्ड मैकाले ने तैयार किया था वह सन् १८५७ के विप्लव के बाद ही भारत के कानून के रूप मे हो गया।

दीवानी के कानून की पेचीदगियाँ भी मुकदमेबाजी को कम करने के स्थान पर बढ़ाने ही मे अधिक सहायता पहुँचाती है और असंख्य घरानों के सर्वनाश का कारण भी साबित हो चुकी हैं। इन अदालतों और इनकी कार्रवाइयों से भारतवासियों का जो आर्थिक और नैतिक पतन हुआ है, वह किसी से भी छिपा नहीं है। इन अदालतों से तंग आकर जब भारतवासी अपने अतीत की ओर जाते थे तब उन्हें उन पंचायतों की याद आती थी जो कि हजारों वर्ष पहले से चली आती थीं और अँगरेजों के आते ही आते समाप्त हो चुकी थीं। वे पंचायतें ऐसी थीं कि उनमें गरीब से गरीब बिना पैसे के ही न्याय पा लेता

था और मुगल काल के शहरों के उन न्यायालयों की याद आ जाती थी जिनके फाटक पर लिखा रहता था 'फकीरी ही न्यायाधीश के लिए सब से अधिक अभिमान की वस्तु है, और जिनके धर्मभीरु न्यायाधीशों के लिए किसी के यहाँ निमंत्रण मे जाना अथवा किसी से एक पान तक भेंट स्वीकार करना हराम समझा जाता था।

इसमे संन्देह नहीं कि भारतीय सिपाही अपूर्व वीर थे किन्तु उनमे देशभक्ति का अभाव था। यदि ऐसा न होता तो वे कदापि विदेशी राज्य के संस्थापन मे विशेष रूप से हाथ न बंटाते। किन्तु सन् १८५७ के विप्लव मे अपनी अपूर्व वीरता, साहस और देशभक्ति का जो अलौकिक चमत्कार उन सबों ने दिखाया था उससे अँगरेज सतर्क हो गये थे इसलिए विप्लव के बाद सेना के नये संगठन के लिए एक रायल कमीशन नियुक्त हुआ। कुछ लोगों की यह राय थी कि केवल अँगरेज और एंग्लो-इन्डियन सिपाही भारतीय सेना में रखे जॉय किन्तु यह राय न मानी गई क्योंकि इससे काम का चल सकना संभव न था। कुछ और लोगों की राय थी कि अँगरेज और एंग्लो-इण्डियन सिपाहियों के साथ थोड़े से अरब, बरमी और अफ्रीका के हब्शी भी भारतीय सेना मे भर्ती किये जाँय। इस प्रकार के परामर्श देने वाले लोग विप्लव से डर गये थे और भारतीय सिपाहियों की पलटनों को एकदम तोड़ देना चाहते थे किन्तु सोच-विचार कर देखा गया तो इस राय से भी काम चल सकना असंभव-सा दीखने लगा। अन्त मे यह राय निश्चित हुई कि हिन्दुस्तानी पलटनों मे ब्रिटिश-भारतीय प्रजा के साथ साथ नैपाल के गोरखों, सरहद के पठानों, जम्मू के डोगरों, राजपूतों,

पटियाले आदि के सिखों और मराठा रियासतों के मराठों को भी शामिल किया जाय। तोपखाने की नौकरियाँ अविश्वास के कारण देशी सिपाहियों के लिए बन्द कर दी गई अँगरेजों ने यह भी देख लिया था कि तोपखाने के महकमे मे हिन्दुस्तानी सिपाही सब से अधिक योग्यता प्राप्त कर लेते हैं। देशी सिपाहियों को तुलना घटिया हथियार मिलने लगे। फौज के बड़े-बड़े और वास्तविक उत्तरदायित्व-पूर्ण पद उनके लिए बन्द कर दिये गये।

विप्लव को शान्त करने का समस्त व्यय यहाँ तक कि इंग्लैण्ड के गोरे सिपाहियों को शिक्षा देने और उनके भारत आने जाने का व्यय तक भारत से वसूल किया गया। भारत से बाहर के अँगरेजों के अनेक युद्धों का व्यय भी भारत से लिया गया। मेजर विनगेट लिखता है कि सन् १८५९ मे ९१८९७ अँगरेज सिपाही भारत में पल रहे थे और इनके अलावा १६४०७ अँगरेज सिपाही ऐसे थे जो उस समय इंग्लैण्ड मे रहते थे, इग्लैण्ड की रक्षा करते थे और जिन्हें वेतन भारत से मिलता था। जब कभी इंग्लैण्ड से भारत पलटनें लाने की आवश्कता होती थी तब उन गोरी पलटनों के इंग्लैण्ड से चलने के ६ महीनें पहले तक का वेतन और समस्त व्यय भारत से लिया जाता था। भारतीय सेना के नये संगठन द्वारा अँगरेजी सेना की संख्या बढ़ा दी गई, और उनकी आमदनी बढ़ गई। देशी सिपाहियों की अवस्था और अधिक हीन हो गई। भारत के शासन का आर्थिक भार बढ़ गया और देश की शृङ्खलाएं और मजबूत हो गई।

१९ वीं शताब्दी के प्रारम्भ में भारत के अंदर अँगरेजी

साम्राज्य को जिन विशेष अनुभवी नीतिज्ञों ने विस्तार किया था उनमे से सर जान मैलकम भी एक था। सन् १८१३ मे पार्लिमेंण्ट की जॉच कमेटी के सामने गवाही देते हुए उसने कहा था—"इस समय हमारा साम्राज्य इतनी दूर तक फैला हुआ है कि जो असाधारण ढंग की हुकूमत हमने उस देश मे कायम की है उसके बने रहने के लिए हमे केवल एक बात का सहारा है, वह यह कि जो बड़ी-बड़ी जातियाँ इस समय अँगरेज सरकार के अधीन है वे सब एक दूसरे से अलग-अगल हैं और जातियों मे भी फिर अनेक जातियाँ है, जब तक ये लोग इस प्रकार एक दूसरे से बंटे रहेगे तब तक इस बात का डर नहीं है कि कोई भी विप्लव हमारी सत्ता को हिला सके।"

इसके कई वर्ष बाद एक अँगरेज अफसर ने लिखा था—"हमारे राजनैतिक, देशी और फौजी तीनों प्रकार के भारतीय शासन का उसूल 'फूट फैलाओ और शासन करो' होना चाहिए।"

मेजर जनरल सर लिओनेल स्मिथ ने सन् १८१३ की जाँच के समय कहा था—"××× अभी तक हमने साम्प्रदायिक और धार्मिक पक्षपात के द्वारा ही देश को वश मे रखा है—हिन्दुओं के विरुद्ध मुसलमानों को और इसी प्रकार अन्य जातियों को एक दूसरे के विरुद्ध ××× ।"

सन् १८५७ के विप्लव के बाद कर्नल जान कोक ने जो, उस समय मुरादाबाद की पलटनों का कमाण्डर था, लिखा कि, "हमारी कोशिश यह होनी चाहिये कि भिन्न-भिन्न धर्मों और जातियों के लोगों मे हमारे सौभाग्य से जो भेदभाव वर्तमान

है उसे पूर्ण रूप से बना रहने देना चाहिए। हमे उन्हे मिलाने की कोशिश नहीं करनी चाहिये। भारत सरकार का अमूल्य सिद्धान्त यही होना चाहिये—'फूट फैलाओ और शासन करो।'

बम्बई के गवर्नर लार्ड एलफिन्सटन ने १४ मई सन् १८५९ को अपने एक सरकारी पत्र मे लिखा था—"पुराने रोम के शासकों का सिद्धान्त था 'फूट फैलाओ और शासन करो' यही हमारा सिद्धान्त होना चाहिये।"

यह तो मानी हुई बात है कि वास्तव मे किसी देश के अन्दर विदेशी शासन को चिरस्थायी बनाये रखने का सबसे उत्तम उपाय यही हो सकता है।

जिस प्रकार एक धर्म, जाति, समुदाय, सस्था और दूसरे धर्म, जाति, समुदाय, संस्था के लोगों मे भेदभाव उत्पन्न करने का प्रश्न है। उसी प्रकार एक प्रान्त और दूसरे प्रान्त के लोगों मे भेदभाव उत्पन्न करने का प्रश्न भी है। सन् १८५७ के विप्लव के बाद एक राय यह की गई थी कि भारतीय सरकार के अधिकारों को थोड़ा सा कम कर दिया जाय और भिन्न-भिन्न प्रान्तीय सरकारों को अपने अपने प्रान्त के शासन से अधिक स्वतंत्रता दे दी जाय। इस भेद-नीति से पूर्ण राय का नाम उसके वास्तविक अनिष्टकारी लक्ष्य को छिपाने के लिए 'प्रान्तीय स्वाधीनता' रखा गया। मेजर जी० विनगेट ने १३ जुलाई सन् १८५८ को पार्लिमेण्ट की सिलेक्ट कमेटी के सामने इस उद्देश्य का वर्णन पूर्ण रूप से कर दिया था। जब प्रश्न किया गया कि आप कहते हैं कि एक केन्द्रीय सरकार से कई प्रकार के खतरे हैं और आप

कहते हैं कि इसमें समस्त देशवासियों में एक समान भाव उत्पन्न होंगे और उनके एक समान लक्ष्य होंगे जो हमारे लिए खतरनाक हो सकते हैं।

इस प्रश्न का उत्तर देते हुए मेजर जी० बिगनेट ने कहा था —हाँ मैं समझता हूँ कि यदि कोई एक ऐसी बात हुई कि जिसमे समस्त भारतवासी दिलचस्पी लेने लगे तो उससे विदेशी शासन को अधिक हानि पहुँचने की सम्भावना, बनिस्बत किसी भी ऐसी बात के कि जिसका आन्दोलन भारतवर्ष देश के केवल एक भाग तक सीमित हो। यदि किसी प्रश्न पर समस्त भारतीय साम्राज्य भर मे आन्दोलन होने लगा तो इसमे संन्देह नहीं कि किसी ऐसे प्रश्न की अपेक्षा, जिसका सम्बन्ध केवल एक प्रान्त के निवासियों से हो, विदेशी शासन के लिए यह कहीं अधिक भयानक होगा।

इस 'प्रान्तीय स्वाधीनता' का वास्तविक उद्देश्य यही था कि विविध प्रान्तों के लोगों में परस्पर प्रेम और राष्ट्रीयता अर्थात् भारतीयता के भाव उत्पन्न न हो सकें साथ ही साथ किसी न किसी प्रश्न को लेकर नित्य एक नया झगड़ा सामने खड़ा रहे और उसका परिणाम यह हो कि अँगरेजों का शासन भारत मे अचल हो जाय।

स्थूल दृष्टि से देखने पर भारत इङ्गलैण्ड को किसी भी प्रकार का खिराज नहीं देता किन्तु मेजर विगनेट ने बड़ी योग्यता के साथ साबित किया है कि जो रकम 'होम चार्जेज' के नाम से भारत सरकार प्रतिवर्ष इङ्गलैण्ड भेजती है, वह वास्तव में भारतवर्ष का इङ्गलैण्ड को खिराज देना है। सन १८३४ से १८५१

तक १७ वर्ष के अन्दर ५७,६०,००० पौंड अर्थात् लगभग ७५ करोड़ रुपये इस मद मे भारत से इङ्गलैण्ड भेजे गये। इस रकम के बदले में भारत को कुछ भी प्राप्त न हुआ और न भारत को इससे कोई लाभ हुआ। जो रकमे प्रति वर्ष अँगरेजों ने अपने और अपने कुटुम्बियों के लिए भारत से इङ्गलैण्ड भेजी और जो विशाल धन इङ्गलैण्ड के लोगों ने भारत के व्यापार से कमाया उन सब का इससे कोई सम्बन्ध नहीं है। इसके अतिरिक्त भारत से कमाये हुए धन मे से ३,६०,००,००० पौण्ड भिन्न-भिन्न अँगरेजों का उस समय भारत सरकार के पास ऋण के रूप मे जमा था।

विप्लव के बाद से लेकर आज तक का इतिहास लिखना हमारी इस पुस्तक के विषय से बाहर की बात है। पिछले अध्यायों के पढ़ने से पाठकों को भली भाँति विदित हुआ होगा: सन् १८५७ के विप्लव को पूर्ण रूप से कुचल देने के बाद से ही अँगरेजों ने अनेक प्रकार के हथकंडों और प्रयत्नों द्वारा भारत मे अँगरेजी राज्य को सुदृढ़ और स्थायी बनाने के उपायों को बराबर जारी रक्खा, लेकिन भारत पर अँगरेजों का पूर्ण अधिकार हो जाने पर भी भारत निवासियों के हृदयों मे पिछले सैकड़ों वर्षों से उत्पन्न स्वाधीनता की जो आग सुलग रही थी वह न बुझ सकी और अनेक अर्थों मे यह दबी हुई आग विप्लव के २७ वर्षों बाद जाकर सन् १८८५ में कॉंग्रेस के रूप मे प्रकट हुई। कॉंग्रेस के पिछले ६० वर्षों का अँगरेजी सरकार के साथ भयानक संघर्ष और अपने स्वाधीनता संग्राम मे अँगरेजी शासकों द्वारा भयानक अत्याचार, अपमान और भीषण रूप से दमन के होते हुए भी अँगरेज, स्वाभिमानी भारतवासियों के स्वाधीनता के

भावों को नष्ट न कर सके और अन्त मे परिणाम यह हुआ कि इन भयानक अँगरेजी अत्याचारों के बावजूद भी भारत अपने बलिदान और महान आत्मत्याग के द्वारा १५ अगस्त सन् १९४७ को स्वतन्त्र हो गया।